वैदिक-संस्कृति के मूल-तत्त्व

वैदिक-संस्कृति के मूल-तत्त्व

लेखक

संसद्-सदस्य प्रो० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार

भूतपूर्व उपकुलपति, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

'विद्या-विहार', बलबीर एवेन्यू,

देहरादून

मूल्य : छः रुपया

प्रकाशक—
विजयकृष्ण लखनपाल एण्ड कं०
"विद्या-विहार', ४ बलबीर ऐवेन्यू,
देहरादून

हमारे प्रकाशन

(इन्टर के लिये)

१.	शिक्षा-मनोविज्ञान	५.६३
२.	शिक्षा-शास्त्र	४.००
३.	प्रारंभिक समाज-शास्त्र	३.५०
४.	भारतीय सामाजिक संगठन	३.५०
५.	व्यावहारिक मनोविज्ञान	४.००
६.	समाजशास्त्र तथा बाल-कल्याण	५.००

(बी. ए. के लिये)

७.	समाजशास्त्र के मूल-तत्त्व	१२.५०
८.	समाज-कल्याण तथा सुरक्षा	६.००
९.	भारत की जन-जातियां तथा संस्थाएं	१२.५०

(एम. ए. के लिये)

१०.	सामाजिक मानव-शास्त्र	१२.५०
११.	सामाजिक विचारों का इतिहास	१२.५०

(सर्व-साधारण के लिये)

१२.	एकादशोपनिषद् हिन्दी-भाष्य (प्रथम भाग)	१५.००
१३.	एकादशोपनिषद् हिन्दी-भाष्य (द्वितीय भाग)	१०.००
१४.	गीता-भाष्य	१२.००
१५.	वैदिक-संस्कृति के मूल-तत्त्व	६.००
१६.	ब्रह्मचर्य-सन्देश	४.५०
१७.	स्त्रियों की स्थिति	४.००
१८.	नानी की कहानियां	३.००

प्रकाशक
विजयकृष्ण लखनपाल एण्ड कं०, देहरादून

मुद्रक—
शाहदरा प्रिंटिंग प्रेस, दिल्ली-३२

धारावाही हिन्दीमें

एकादशोपनिषद्—मूल तथा शब्दार्थ सहित

(लेखक—प्रो० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार)

आर्य-संस्कृतिके प्राण उपनिषद् हैं। उपनिषदोंके अनेक अनुवाद हुए हैं, परन्तु प्रस्तुत अनुवाद सब अनुवादोंसे विशेषता रखता है। इस अनुवाद में हिन्दीको प्रधानता दी गई है। जो व्यक्ति संस्कृतके बखेड़ेमें न पड़कर उपनिषद्का तत्त्व ग्रहण करना चाहे वह सिर्फ़ हिन्दी भाग पढ़ जाय, उसे कोई स्थल ऐसा नहीं मिलेगा जो सरल न हो, स्पष्ट न हो, जिसमें किसी तरहकी कोई भी उलझन हो। ऊपर मोटे-मोटे अक्षरोंमें हिन्दी भाग दिया गया है, यह हिन्दी भाग धारावाही तौरपर दिया गया है, और जो-कोई हिन्दी तथा मूल संस्कृतकी तुलना करना चाहे उसके लिए अंक देकर नीचे संस्कृत भाग शब्दार्थ सहित दे दिया गया है। फ़ुटनोटमें दिये संस्कृत भागको छोड़कर जो सिर्फ़ हिन्दी भाग पढ़ना चाहे वह धारावाही हिन्दी भागको पढ़ता चला जाय—विषय एकदम स्पष्ट होता चला जायगा, कहीं किसी तरहका अटकाव नहीं आयगा। पुस्तक की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि अनुवादमें मक्खीपर मक्खी मारनेकी कोशिश नहीं की गई, विषय-को खोलकर रख दिया गया है। साधारण पढ़े-लिखे लोगों तथा संस्कृतके अगाध पंडितों—दोनों के लिये यह नवीन ढंग का ग्रन्थ है। यही इस अनुवादकी मौलिकता है। पुस्तक की भूमिका डा० राधाकृष्ण ने लिखी है।

मुख्य-मुख्य उपनिषद् ग्यारह मानी गई हैं। इन सभी उपनिषदोंका धारावाही हिन्दी अनुवाद इस ग्रन्थमें मूल तथा शब्दार्थ सहित दे दिया गया है। पुस्तकको रोचक बनानेके लिये जगह-जगह चित्र भी दिये गये हैं।

पुस्तक दो जिल्दोंमें बंटी हुई है। प्रथम जिल्दमें ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय तथा छान्दोग्यका धारावाही हिन्दीमें अर्थ देते हुए शब्दार्थ सहित मूल-भाग दिया गया है जिस सजिल्द पुस्तकका दाम १५) है; द्वितीय जिल्दमें बृहदारण्यक तथा श्वेताश्वतर का भाष्य दिया गया है जिसका मूल्य १०) है। दोनों जिल्दोंका मूल्य २५) है।

प्राप्ति स्थान : विजयकृष्ण लखनपाल एण्ड कं०, बलबीर रोड, देहरादून

गीता-भाष्य—मूल तथा शब्दार्थ सहित

[लेखक—प्रो० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार]

प्रो० सत्यव्रत ने जैसा भाष्य एकादशोपनिषद् का लिखा है ठीक उसी शैली पर यह गीता-भाष्य लिखा है। गीता के मार्मिक स्थलों को अत्यन्त सरल भाषा में समझने-समझाने की यह अद्वितीय पुस्तक है।

भूमिका श्री लाल बहादुर जी शास्त्री ने ताशकन्द जाने से पहले लिखी थी। सजिल्द पुस्तक का मूल्य १२ रुपया।

ब्रम्हचर्य-सन्देश

[लेखक—प्रो० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार]

नवयुवकोंको 'ब्रह्मचर्य' जैसे गम्भीर विषयपर सरल, सुन्दर भाषामें जो-कुछ कहा जा सकता है इस पुस्तकमें कह दिया गया है। स्वर्गवासी स्वामी श्रद्धानन्दजी महाराजने इस पुस्तककी भूमिका लिखी थी। स्वामी श्रद्धानन्दजी महाराज भारत-भूमिके पहले व्यक्ति थे जिन्होंने शिक्षाके क्षेत्र में 'ब्रह्मचर्य'को क्रियात्मक महत्त्व देने के लिये गुरुकुल कांगड़ीकी स्थापना की थी। ऐसे महापुरुषने इस पुस्तककी भूमिका इसीलिये लिखी थी क्योंकि उन्होंने पुस्तकके महत्त्वको देख लिया था। इस पुस्तकने हिन्दी साहित्यमें अमर स्थान बना लिया है। पुस्तक के पांच संस्करण हो चुके हैं। इसकी श्रेष्ठता इसीसे सिद्ध है कि इसके गुजराती में दो स्वतंत्र अनुवाद हो चुके हैं।

खंडवाका 'कर्मवीर'-पत्र लिखता है—"इस विषयपर हिन्दीमें सबसे अधिक प्रामाणिक, सबसे अधिक खोजपूर्ण और सबसे अधिक ज्ञातव्य बातोंसे भरी हुई यही पुस्तक देखनेमें आयी है।"

दिल्लीका 'अर्जुन' लिखता है—"हम चाहते हैं कि प्रत्येक नव-युवक के हाथमें यह पुस्तक हो।"

पुस्तक सचित्र तथा सजिल्द है। मूल्य साढ़े चार रुपया।

प्राप्ति स्थान : विजयकृष्ण लखनपाल एण्ड कं०, बलबीर रोड, देहरादून

सेकसरिया-पारितोषिक-प्राप्त

स्त्रियों की स्थिति

लेखिका—आचार्या चन्द्रावती लखनपाल एम० ए०, बी० टी०

इस पुस्तककी लेखिकाको, इस पुस्तकके लिखनेपर हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन ने सर्वोत्तम लेखिका घोषित कर ५०० (पांच सौ) रुपयेका 'सेकसरिया पुरस्कार' दिया था। इस पुस्तकमें स्त्रियों सम्बन्धी प्रश्नोंपर बिल्कुल मौलिक ढंगसे विचार किया गया है। पुस्तककी विचार-धारा में एक प्रवाह है जो साहित्यिक पुस्तकोंमें कम देखनेमें आता है। यह पुस्तक पिता अपनी पुत्रीको, पति अपनी पत्नीको और भाई अपनी बहिन को भेंट दे तो इससे बढ़कर दूसरी भेंट नहीं हो सकती।

सजिल्द पुस्तकका मूल्य चार रुपया।

शिक्षा-शास्त्र

लेखक—प्रो० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार तथा आचार्या चन्द्रावती लखनपाल एम० ए०, बी० टी०

'शिक्षा' के सम्बन्धमें जितने आधुनिक विचार हैं वे सब इस ग्रन्थमें, थोड़े-सेमें, अत्यन्त सरल तथा रोचक भाषा में दे दिये गये हैं। शिक्षाके सिद्धान्त (Principles of Education), शिक्षा की विधि (Method of Education), शिक्षा का विधान (Organisation of Education) तथा भारतीय शिक्षाका आदिकालसे आजतकका इतिहास (History of Indian Education)—ये सब विषय इस ग्रन्थमें एक स्थानपर दे दिये गये हैं। इस पुस्तककी उपयोगिता इसी बातसे स्पष्ट है कि शिक्षा-संस्थाओंमें जहां-जहां 'शिक्षा' विषय पढ़ाया जाता है वहाँ-वहाँ इस पुस्तक का सर्वोत्कृष्ट स्थान है।

पुस्तक की भूमिका श्री सम्पूर्णानन्दजीकी उस समय की लिखी हुई है जब वे शिक्षा-मंत्री थे। सजिल्द पुस्तकका मूल्य चार रुपया।

प्राप्ति स्थान : विजयकृष्ण लखनपाल एण्ड कं०, बलबीर रोड, देहरादून

मंगलाप्रसाद-पारितोषिक-प्राप्त

शिक्षा-मनोविज्ञान

लेखिका—आचार्या चन्द्रावती लखनपाल एम० ए०, बी० टी०

'शिक्षा-मनोविज्ञान' पर यह हिन्दीमें सर्वोत्तम पुस्तक है। इसपर हिन्दी-साहित्य-सम्मेलनने १२०० (बारह सौ) रुपये का मंगलाप्रसाद-पारितोषिक देकर लेखिकाको सम्मानित किया था।

काशी-विश्वविद्यालयके ट्रेनिंग कॉलेजके प्रिन्सिपल पं० लज्जाशंकर झा, आई०ई०एस० ने इस पुस्तकपर निम्न सम्मति प्रकट की थी:—

"१. चन्द्रावतीजीने विषयका बहुत ही अच्छा अध्ययन कर लिया है, और उनकी बुद्धि कुशाग्र और निर्मल होनेके कारण उन्होंने विषयकी बारीकियोंको भी खूब समझा है।

२. विषय बहुत ही रोचकरूपसे रखा गया है, शब्दाडम्बर नहीं है। भाषा सरल तथा शुद्ध है। पारिभाषिक शब्द मनको एकदम जंचते हैं।

३. उदाहरण अपने अनुभवसे दिये हैं।

४. मनोविज्ञान जटिल विषय है, परन्तु लेखिकाने ट्रेनिंग कॉलेजकी पद्धतियों द्वारा विषय अत्यन्त रोचक और बहुत ही स्पष्ट बना दिया है।

चन्द्रावतीजी ने ऐसी उत्तम पुस्तक लिखकर हिन्दी-साहित्यकी भारी सेवा की है, और ट्रेनिंग कॉलेजको तो वरतंतुके शिष्यके समान १४ करोड़ की दक्षिणा चुका दी है।"

पुस्तक सचित्र है, सजिल्द है—मूल्य पांच रुपया दस आना।

नानी की कहानियां

[लेखक—विजयकृष्ण लखनपाल एम० ए०]

बच्चों के लिये यह अत्यन्त ही रोचक पुस्तक है। इसमें २०-२५ कहानियां दी गई हैं जो लेखक की नानी ने उसे बचपन में सुनाई थीं। प्रत्येक कहानी के साथ एक चित्र है और हर कहानी किसी नैतिक भावना को बच्चों में जगाती है। बच्चा एक बार पुस्तक को हाथ लगा कर फिर इसे छोड़ता नहीं। मूल्य तीन रुपया।

प्राप्ति स्थान : विजयकृष्ण लखनपाल एण्ड कं०, बलबीर रोड, देहरादून

विषय-सूची

भूमिका

युरोपमें जो लोग विश्वकी सामाजिक-रचनाका एक नये सिरेसे निर्माण करना चाहते हैं उनका कहना है कि अबतक हमने विश्वके विकासमें ईर्ष्या-द्वेष, लूट-खसोट, छीना-झपटीको आधार बनाकर सब-कुछ किया, इससे लड़ाई-झगड़े-अशान्ति बढ़ी, अब हम इन तत्त्वोंके स्थान में सत्य, प्रेम, सहानुभूति, त्याग, तपस्याको आधार बनाकर विश्वका नव-निर्माण करना चाहते हैं। इस विचार-धाराको 'नैतिक-सैन्यीकरण' का नाम दिया जाता है। भौतिकवादके गढ़ युरोपमें आध्यात्मिकताकी इस प्रकारकी प्रतिक्रियाका उत्पन्न हो जाना कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। भारतके ऋषि-मुनियों ने तो सहस्रों वर्ष पहले, अनुभवसे, यह निष्कर्ष निकाल लिया था कि भौतिकवाद जिन तत्वोंको आधार बनाकर चलना चाहता है वे सारहीन हैं, उन्हें जीवनकी नींवमें डालकर चलनेसे मनुष्य एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सकता। आजतक काम-क्रोध-लोभ-मोहको आधार बनाकर चलनेसे दुनियां कहां तक आगे बढ़ी ?

भारतके आध्यात्मिक विचारकोंका तो कहना यह था कि और-तो-और, भौतिकवाद भी इन तत्वोंके सहारे अपने भवन-का निर्माण नहीं कर सकता। कौन भौतिकवादी है जो मार-काट, झूठ, चोरी, बेईमानी और संयमहीनताको ठीक कहता हो ? कोई नहीं कहता। परन्तु क्यों नहीं कहता ? जब, जो दीखता है वही सत्य है, जो नहीं दीखता वह झूठ है, तब तो

स्वार्थ ही संसारका अंतिम लक्ष्य हो सकता है, परार्थ, सेवा, प्रेम, मैत्री, बन्धुत्व—ये सिर्फ़ मन परचानेके तत्त्व हो सकते हैं, ऐसे तत्त्व जो जबतक स्वार्थको सिद्ध करें तबतक ठीक, जहां व्यक्तिके स्वार्थमें बाधक पड़ें, वहां ग़लत। भौतिकवादी दृष्टिसे ऐसा ही होना चाहिये, परन्तु आश्चर्यकी बात है कि भौतिक-वाद भी उन्हीं तत्वोंका नाम लेता है जिनका नाम अध्यात्मवाद लेता है। सचाई, प्रेम, ईमानदारी और इनसे मिलते-जुलते तत्त्व जो अध्यात्मवादकी नींवमें पड़े हैं उन्हें भौतिकवाद भी छोड़ना नहीं चाहता। प्रश्न यही है कि भौतिकवाद इन्हें एकदम छोड़ देनेसे क्यों घबराता है? इस प्रश्नका उत्तर यही हो सकता है कि भौतिकवाद इन आध्यात्मिक तत्त्वोंको इसलिए नहीं छोड़ना चाहता क्योंकि उसे भी दीखता है कि घोर-से-घोर जड़-वादी जगत्में सचाईसे ही काम चलता है, झूठसे नहीं, प्रेमसे ही इस मशीनकी कर्कशताको मिटाया जा सकता है, ईर्ष्या-द्वेष, लड़ाई-झगड़ेसे नहीं। हां, इसमें सन्देह नहीं कि क्योंकि अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदि सार्वत्रिक तथा सार्वभौम रूपसे अध्यात्म-तत्त्व हैं, भौतिकवादके ये मूलतत्त्व नहीं हैं, इसलिए भौतिकवाद इन तत्त्वोंको तभी तक पकड़ता है जबतक ये व्यक्तिके स्वार्थको सिद्ध करते दीखते हैं, जहां इनसे व्यक्तिको अपना स्वार्थ सिद्ध होता नहीं दीखता वहीं वह इनसे किनारा काटनेकी कोशिश करता है। भौतिकवादीको सचाई तबतक ठीक जंचती है जबतक इससे उसका मतलब सिद्ध होता है, जहां स्वार्थको ठेस लगी वहीं झूठ ठीक और सचाई ग़लत लगने लगती है। ईमानदारी भी तभी तक ठीक है जबतक अपना मतलब निकलता हो, जहां स्वार्थ बेईमानीसे सिद्ध होता हो वहां बेईमानी ठीक

मालूम पड़ती है। स्वयं कोई सच बोलना नहीं चाहता, परन्तु दूसरेको झूठ बोलते देख उसपर बरस पड़ता है; स्वयं हरेक बेईमानी करता है, दूसरेको ईमानदारीसे न बरतते देख तिल-मिला उठता है; अपने आप दुराचार करे तो कुछ नहीं, परन्तु दूसरेको सदाचारसे हटते देखकर सहन नहीं करता। अपने लिये कुछ नहीं, दूसरेके लिये सब-कुछ! भौतिकवाद इस दृष्टि-कोण-पर टिकनेका प्रयत्न करता है, परन्तु धीरे-धीरे यह ज़ाहिर होने लगता है कि यह दृष्टि अपनेको स्वयं काट डालती है। यह कैसे हो सकता है कि हम झूठ और बेईमानी को अपना आधार बनायें और दूसरोंसे सच और ईमानदारीकी आशा करें? यह स्थिति टिक नहीं सकती। दूसरेके लिये जो ठीक है वही हमारे लिये भी ठीक है—ऐसा मानने से ही व्यवहार चल सकता है। सचाई, ईमानदारी, प्रेम—ये तत्त्व जब दूसरे में हों तभी मेरा काम चलता है, इनके बिना नहीं, तब मुझमें भी तो इन्हीं तत्त्वोंके आनेसे संसारका कारोबार चलेगा। तभी तो प्रगाढ़ भौतिकवादकी अवस्थामें भी सत्य, अहिंसा, प्रेम, विश्व-बन्धुत्व आदिके आध्यात्मिक-तत्त्व मानो हमें चिपटे-से जाते हैं, हमें छोड़ते नहीं। हमारे चाहे-अनचाहे, जाने-अनजाने असत्यको सत्य, द्वेषको प्रेम, दुराचारको सदाचार छुरीकी तेज़ धारकी तरह चीरता हुआ आगे बढ़ आता है। ऐसा क्यों होता है? ऐसा इसलिये होता है क्योंकि ये ही तत्त्व शाश्वत हैं, नित्य हैं, भौतिकवादके लाख कोशिश करनेपर भी हम इनसे अपना पीछा नहीं छुड़ा सकते। ये आध्यात्मिक-तत्त्व विश्वकी रचनाके आधार में नींव बनकर बैठे हुए हैं। जिसने कहा था—'सत्येनोत्तभिता भूमिः'—सत्यपर भूमि टिकी हुई है—उसने एक ऐसी सचाई की

घोषणा की थी जिसे सहस्रों वर्षोंकी भौतिकवादी टक्कर भी नहीं हिला सकी। भौतिकवादी विश्व की रचनामें कुछ भौतिक तत्त्वोंका दर्शन करते हैं, ये तत्त्व ठीक हैं, इससे कोई इन्कार नहीं करता, परन्तु भारतके तत्त्व-वेत्ताओंने कुछ ऐसे मूलतत्त्वों-के दर्शन किये थे जिन्हें अगर विश्वकी नींवमेंसे खींच लिया जाय, तो यह विशाल जगत् मट्टी के ढेरकी तरह नीचे आ गिरता है। इन तत्त्वोंके दर्शन करने वालोंने वैदिक-संस्कृतिको जन्म दिया था, और उन्होंने इन्हीं तत्त्वोंको आधार बनाकर जीवनके भव्य-भवनको खड़ा किया था। इस पुस्तकमें हम जगह-जगह उन्हीं तत्त्वोंके दर्शन करेंगे।

वैदिक-संस्कृतिके विषयमें बहिरंग-दृष्टिसे कई पुस्तकें लिखी गयी हैं। यह संस्कृति कब उत्पन्न हुई, कहां उत्पन्न हुई, ऐति-हासिक दृष्टिसे कहां-कहां पहुँची? हमने इस पुस्तकमें अन्तरंग-दृष्टिसे विचार किया है। वैदिक-संस्कृति क्या है, इसके मूल-तत्त्व क्या हैं, उनका वैज्ञानिक तथा मनोवैज्ञानिक आधार क्या है, वर्तमानकालीन विचार-धारामें उनका क्या स्थान है, भारतके ऋषि-मुनियोंकी जीवनके प्रति दृष्टि क्या थी, संस्कृतिके जिन मूल-तत्त्वोंका उन्होंने दर्शन किया था उन्हें जीवनमें क्रियात्मक तथा व्यावहारिक रूप किस प्रकार दिया था—इन्हीं सब बातों का इस पुस्तक में विवेचन करनेका प्रयत्न किया गया है।

विद्या-विहार
देहरादून

—सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार

[१]

वैदिक-संस्कृतिका केन्द्रीय-विचार

सदियोंकी पराधीनताके बाद अब भारत स्वाधीनताके मार्ग-पर चल पड़ा है। अबतक हम दूसरोंके दिखाये मार्गपर चलते थे, अब अपने निर्धारण किये हुए मार्गपर चलेंगे। हमारा मार्ग क्या होगा—यह भविष्यत् बतलायेगा, परन्तु भूतके आधारपर, भारतीय विचारधाराकी परंपराके आधारपर, भारतीय-साहित्य-के आधारपर यह बतलाया जा सकता है कि अबतक हमारे मार्गकी दिशा क्या रही है, हम पराधीन होने से पहले सैकड़ों नहीं, हज़ारों सालोंतक किस मार्गपर, और उस मार्गपर भी किस दिशाकी तरफ़ चलते रहे हैं। वैदिक-संस्कृतिके मूल-तत्त्वों-को जाननेवालोंका यह निश्चित विचार है कि प्राचीनकालमें भारतके ऋषि-महर्षियोंने भारतको जिस मार्गपर डाला था, इस देशके सम्मुख जो लक्ष्य निर्धारित कर दिया था, वही मार्ग और वही लक्ष्य हमारा और संसारका कल्याण कर सकता है, और अब फिर भारतको अपने तथा विश्वके कल्याणके लिये उसी मार्गपर चलना होगा, उसी ध्येयको अपना लक्ष्य बनाना होगा। भारतके भाविष्यका निर्माण अगर ऋषि-मुनियोंके निर्धारित किये हुए लक्ष्यको सम्मुख रखकर होगा, तो यह देश फिरसे संसारका मार्ग-प्रदर्शक बनेगा, फिरसे दुनियाँका सरताज होगा। परन्तु प्रश्न उठता है कि वह लक्ष्य क्या था, उसे कहां ढूंढ़ें, कहां पायें ?

उस लक्ष्यको पानेके लिये हमें 'वैदिक-संस्कृति' के मूल-तत्त्वोंकी खोजमें निकलना होगा। इस देशने अपने यौवन-कालमें एक 'संस्कृति' को जन्म दिया था जो अन्य संस्कृतियोंसे भिन्न थी। जैसे आजकल बड़े-बड़े शहरों पर गौरव किया जाता है, अमुक शहरमें चालीस मंज़िलके मकान हैं, साठ-साठ मीलके दायरेतक मकान-ही-मकान बने हुए हैं, वैसे भारतीय संस्कृतिमें बड़े-बड़े तपोवनोंपर गौरव किया जाता था। अमुक ऋषि दण्डकारण्यमें रहते हैं, अमुक ऋषि बृहदारण्यमें निवास करते हैं! उस संस्कृतिमें शहर तो थे, परन्तु शहरोंकी अपेक्षा जंगल अधिक मशहूर थे। शहर चारों तरफ़से ऐसे वनोंसे घिरे हुए थे, जिनमें तपस्वी लोग अपनी कुटियाओंमें बैठे आध्यात्मिक तत्त्वोंका चिंतन किया करते थे। तपोवनोंकी वह संस्कृति आज-की शहरोंकी सभ्यतासे मौलिकरूपमें भिन्न थी। हम इस पुस्तकमें ज़गह-जगह उस संस्कृतिका उल्लेख करेंगे, परन्तु क्योंकि आजकलके लोग तपवनोंके उन ऋषि-मुनियोंके लिये 'सभ्य' शब्दका प्रयोग करते हुए हिचकिचाते हैं इसलिये यह जान लेना आवश्यक है कि 'सभ्यता' तथा 'संस्कृति' में क्या भेद है, और अगर हम उन्हें 'सभ्य' न कहें, तो क्या 'संस्कृति' की दृष्टिसे हमारे किसी मान-दंडसे वे जीवनकी तुलामें हमसे हल्के उतरते हैं ?

'सभ्यता' भौतिक और 'संस्कृति' आध्यात्मिक है—

'सभ्यता' तथा 'संस्कृति' में आधारभूत भेद है। सभ्यता शरीर है, संस्कृति आत्मा है; सभ्यता बाहरकी चीज़ है, संस्कृति भीतरकी चीज़ है; सभ्यता भौतिक विकासका नाम है, संस्कृति

आध्यात्मिक विकासका नाम है। रेल, तार, रेडियो, मोटर, हवाई जहाज़ आदि—ये सब सभ्यताके विकासके निदर्शक हैं; सचाई-झूठ, ईमानदारी-बेईमानी, सन्तोष-असंतोष, संयम-संयमहीनता आदि—ये सब संस्कृतिके ऊंचे या नीचे विकासके निदर्शक हैं।

यह ज़रूरी नहीं कि संस्कृतिके विकासमें हम इस परिणाम-पर ही पहुँचें कि हमें जीवनमें सचाईसे ही काम लेना चाहिए, झूठसे नहीं; ईमानदारीसे ही रहना चाहिए, बेईमानीसे नहीं; संतोषको ही लक्ष्य बनाना चाहिए, असन्तोषको नहीं; संयमसे ही रहना चाहिए, असंयमसे नहीं। हो सकता है, कोई देश ऐसी संस्कृतिको ही अपनाये जिसमें झूठ, बेईमानी, असन्तोष, संयम-हीनता आदि ही आधारभूत तत्त्व हों, परन्तु ऐसोंको 'सु'-संस्कृत नहीं कहा जा सकता। संस्कृतिके क्षेत्रमें जो लोग अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह तथा इसी प्रकारके आध्यात्मिक तत्त्वोंको आधार बनाकर चलेंगे वे एक प्रकारकी संस्कृतिको जन्म देंगे; जो हिंसा, असत्य, स्तेय, अब्रह्मचर्य और परिग्रह आदिके दूसरी प्रकारके तत्त्वोंको आधार बनाकर चलेंगे वे दूसरे प्रकारकी संस्कृतिको जन्म देंगे। इन दोनोंका क्षेत्र संस्कृति होगी—एक ऊंची संस्कृति, दूसरी नीची संस्कृति—परन्तु उसे सभ्यता नहीं कहा जायगा। सभ्यताका संबंध अहिंसा-हिंसासे, सत्य-असत्यसे, अस्तेय-स्तेयसे, ब्रह्मचर्य-अब्रह्मचर्यसे, अपरिग्रह-परिग्रहसे नहीं। एक व्यक्ति पैसेवाला है, बड़े भारी मकानमें रहता है, दो-चार मोटरें हैं, पांच-दस नौकर हैं, घरमें रेडियो है, परन्तु परले दर्जेका झूठा, बेईमान, दुराचारी, शराबी है। वह सभ्य है, सु-संस्कृत नहीं; ऊंचे अर्थोंमें, उसके पास सभ्यता

है, संस्कृति नहीं, और अगर उसके पास कोई संस्कृति है, तो वह ऊंची-संस्कृति, दैवी-संस्कृति नहीं, नीची-संस्कृति, आसुरी-संस्कृति है, क्योंकि वह अहिंसाके स्थानमें हिंसाको, सत्यके स्थानमें असत्यको, अस्तेयके स्थानमें स्तेयको, ब्रह्मचर्यके स्थान-में अब्रह्मचर्यको, अपरिग्रहके स्थानमें परिग्रहको जीवनका आधार बनाये हुए है। नीची, आसुरी संस्कृतिको—ऐसी संस्कृतिको जो झूठ, बेईमानी, ईर्ष्या, द्वेष, घृणा आदिपर खड़ी हो—कोई संस्कृति नहीं कहता, इसलिये हम भी इस प्रकारकी संस्कृतिके लिये 'संस्कृति' शब्दका प्रयोग नहीं करेंगे। इस दृष्टिसे कोई व्यक्ति 'सभ्य' होता हुआ 'असंस्कृत' हो सकता है, और 'सुसंस्कृत' होता हुआ 'असभ्य' हो सकता है क्योंकि सभ्यता भौतिक है, बाहरकी चीज़ है, संस्कृति—अच्छी हो, बुरी हो—आध्यात्मिक है, भीतरकी वस्तु है। विश्वामित्र ऋषि जंगलमें एक पर्ण-कुटीमें रहते थे, वशिष्ठ ऋषि चर्म पहनते थे, महाराज रामचन्द्र घोड़ेके रथपर सवारी करते थे, 'सभ्यता' की दृष्टिसे आजकलके महलोंमें रहनेवालों, मिलोंका मुलायम क़पड़ा पहनने-वालों और हवाई जहाज़की सवारी करनेवालोंसे वे नीचे थे, परन्तु 'संस्कृति' की दृष्टिसे वे आजकलके लोगोंसे बहुत ऊंचे थे, क्योंकि आत्म-तत्त्वको निखारनेवाले, नीचेको ऊंचा बनाने-वाले, मनुष्यको मनुष्य बनानेवाले संस्कार उनके रोम-रोममें बसे हुये थे।

'सभ्यता' और 'संस्कृति' साथ-साथ भी चल सकती हैं, एक दूसरेके बिना भी रह सकती हैं। यह हो सकता है कि एक देश भौतिक-दृष्टिसे अत्यन्त उन्नत हो, उसमें रेल, तार, रेडियो, मोटर—सब-कुछ हो, और साथ ही उस देशके वासी

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदिके आध्यात्मिक तत्त्वोंको भी जीवनका मुख्य सूत्र समझते हों। यह तो सबसे ऊंची अवस्था है, आदर्श स्थिति है। इस अवस्थामें उस देशकी सभ्यता तथा संस्कृति दोनों ऊंची कही जायंगी। यह भी हो सकता है कि एक देश भौतिक-दृष्टिसे बहुत ऊंचा हो, वहां विज्ञानके सब आविष्कार अपनी चरम सीमापर पहुँच चुके हों, परन्तु आध्यात्मिक-दृष्टिसे वह बहुत नीचा हो। वहां मोटरें हों, परन्तु मोटरोंपर बैठकर लोग डाके डालते हों; रेडियो हों, परन्तु रेडियोपर अश्लील और गन्दे ही गाने गाये जाते हों। इस अवस्थामें उस देशकी सभ्यता ऊंची, परन्तु संस्कृति नीची कही जायगी। यह भी हो सकता है कि एक देश भौतिक-दृष्टिसे नीचे स्तर में हो, परन्तु आत्मिक-स्तरमें बहुत ऊंचा उठा हुआ हो। उस देशके वासी दूसरेके दुःखमें दुःखी होते हों, दूसरेके कल्याणके लिये अपने स्वार्थ को तिलांजलि देते हों, झूठ, बेई-मानी, दुराचारसे दूर रहते हों, परन्तु वे मोटरोंके बजाय बैलगाड़ियोंमें चलते हों, महलोंके बजाय झोपड़ोंमें रहते हों। इस अवस्थामें वह देश सभ्यतामें भले ही पिछड़ा हुआ गिना जाय, परन्तु संस्कृतिमें उस देशके सामने सिर झुकाना होगा।

इस विवेचनसे यह यह स्पष्ट हो जाता है कि 'सभ्यता' तथा 'संस्कृति' में ऊंचा स्थान संस्कृतिका है—ऐसी संस्कृतिका जिसके आधारमें सचाई, ईमानदारी, संतोष, संयम, प्रेम आदि आध्यात्मिक-तत्त्व काम कर रहे हों। रेल, तार, रेडियोकी संसारको इतनी आवश्यकता नहीं, जितनी सचाई, ईमानदारी, संयम और विश्व-प्रेमकी। दोनोंका होना सबसे अच्छा, परन्तु दोनों न हों तो संस्कृतिका होना सभ्यतासे अच्छा। सभ्यता-

को संस्कृतिकी रक्षाके लिये छोड़ा जा सकता है, संस्कृतिको सभ्यताकी रक्षाके लिये नहीं छोड़ा जा सकता। आत्माके लिये शरीर छूट सकता है, शरीरके लिये आत्मा कैसे छूटेगा ?

संस्कृति किसी सशक्त केन्द्रीय-विचारसे उत्पन्न होती है—

हमने देखा कि 'सभ्यता' तथा 'संस्कृति' में क्या भेद है। हमने यह भी देखा कि 'संस्कृति' क्या है ? परन्तु 'संस्कृति' उत्पन्न कैसे होती है ? 'संस्कृति' का उद्भव जातिके जीवनके किसी ऐसे सशक्त विचारसे होता है जो उस जातिके जीवन-रूपी वृत्तका मानो केन्द्र होता है, उस जातिके विकासकी सम्पूर्ण धारा उसी विचार-रूपी स्रोतसे मानो प्रवाहित होती है। जिस जातिके पास उसके जीवनको विकसित करनेवाला ऐसा सशक्त केन्द्रीय विचार नहीं होता, उस जातिकी संस्कृति शून्यके बराबर होती है; जिसके पास होता है, उसकी संस्कृति उस जातिको सैकड़ोंमें एक बना देती है। संस्कृतिका प्रवाह जीवनके किसी केन्द्रीय विचारसे प्रस्फुटित होता है। यह विचार ऐसा होता है जैसे शरीरमें आत्मा। आत्मासे शरीरका जीवन है, उस केन्द्रीय-विचारसे संस्कृतिका जीवन है। यह विचार जितना प्रबल होगा उतनी संस्कृति प्रबल होगी, प्राणवती होगी; यह विचार जितना निर्बल होगा उतनी संस्कृति निर्बल होगी, प्राण-हीन होगी। संसारमें एक नहीं अनेक संस्कृतियां आयीं और नष्ट हो गयीं। क्यों नष्ट हुईं ? इसलिये क्योंकि उन संस्कृतियों-का केन्द्रीय-विचार निर्बल पड़ गया, संसारमें विचारोंके संघर्ष-में वह टिक नहीं सका। जिस जातिके जीवनमें कोई केन्द्रीय-विचार नहीं होता, ऐसा विचार नहीं होता जिसके लिये वह जाति

जीती-मरती है, वह संसारमें विजय प्राप्त करती हुई भी उस जातिके सम्मुख सिर झुका देती है जिसे इसने जीता होता है। जिस जातिके जीवनमें कोई केन्द्रीय-विचार होता है, ऐसा विचार होता है जो उसे मरते-मरते भी ज़िन्दा रख सके, वह पराजित होती हुई भी विजेताओंके सामने सिर नहीं झुकाती। मिस्र, ग्रीस, रोम, बैबीलोनकी संस्कृतियां नष्ट हो गयीं। क्यों नष्ट हुईं ? इसलिये क्योंकि इन देशोंकी संस्कृतियोंको जीवित रखनेवाला कोई ऐसा सबल, सशक्त, प्राणवान विचार नहीं रहा जो इनकी संस्कृतियोंको जीवित रख सकता। ये देश तो अब भी मौजूद हैं, परन्तु अब जो-कुछ है, वह ईंट-पत्थर है, जिस केन्द्रीय-विचारने इन ईंट-पत्थरोंको खड़ा किया था, जिस विचारने मिस्रको मिस्र, यूनानको यूनान और रोमको रोम बनाया था वह समाप्त हो गया—आत्मा चला गया, शरीर रह गया, परन्तु संस्कृति तो आत्मा है, शरीर नहीं, इसलिये शरीरके रह जाने पर भी आत्माके न होनेके कारण उन देशोंका होना-न-होना बराबर है। भारत सदियों तक पराधीन रहा, इस पराधीनताको भारतके शरीरने माना, इसके आत्माने नहीं माना। क्यों नहीं माना ? इसलिये क्योंकि भारतीय-संस्कृतिके आधारमें कोई ऐसा केन्द्रीय-विचार था, जो दबाये दब नहीं सका, मिटाये मिट नहीं सका, हटाये हट नहीं सका।

वैदिक संस्कृतिका केन्द्रीय-विचार—

वह केन्द्रीय-विचार क्या था ? भारतकी संस्कृति के प्राण वेद रहे हैं, उपनिषद् रहे हैं, गीता रही है। यहांकी संस्कृतिका मूल-मंत्र वही विचार था जिसका वेदके ऋषियोंने गान किया

था, जिसका उपनिषदोंके मुनियों ने उपदेश दिया था, जिसका गीतामें श्रीकृष्णने प्रतिपादन किया था। यहांका मूल-भूत विचार एक था—प्रकृति है, परन्तु प्रकृति ही सब-कुछ नहीं, प्रकृतिके पीछे आत्म-तत्त्व है, वही तत्त्व जिसे कुछ लोग परमात्मा कहते हैं; शरीर है, परन्तु शरीर ही सब-कुछ नहीं, शरीरके पीछे भी आत्म-तत्त्व है, वही तत्त्व जिसे कुछ लोग जीवात्मा कहते हैं। प्रकृति और शरीर का खेल संसार है; संसार है, तो संसारका भोगना भी टल नहीं सकता; परन्तु जैसा सत्य यह है कि संसारको हमने भोगना है, वैसा ही अटल सत्य यह भी है कि संसारको हमने छोड़ना भी है। परमात्म-तत्त्वके सामने प्रकृति-तत्त्व तुच्छ है, जीवात्म-तत्त्वके सामने शरीर-तत्त्व तुच्छ है। जीवात्म-तत्त्वने शरीरको साधन बनाकर परमात्म-तत्त्व की तरफ़ आगे-आगे बढ़ते जाना है, जहां पहुँच चुका है उसे छोड़कर जहां नहीं पहुँचा वहां कदम बढ़ाना है। द्वैत मानें, अद्वैत मानें, आस्तिक-वाद मानें, नास्तिकवाद मानें—वैदिक-संस्कृति की घोषणा है कि जब प्रत्येक व्यक्तिको संसार किसी-न-किसी दिन छोड़ना है, तब संसारमें रमे रहना, इसीके भोगोंमें लिप्त रहना किसीका अन्तिम लक्ष्य नहीं हो सकता। सुख तो नास्तिक-से-नास्तिक भी चाहता है। संसारको भोगने में सुख है, परन्तु इन भोगोंमें लिप्त रहनेमें सुख नहीं। जीवनका वही मार्ग सुख देने वाला है जिससे मनुष्य संसार को भोगता हुआ भी उसमें लिप्त न हो—'एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे'। जब अन्तिम सत्ता इसकी नहीं, उसकी है, विश्वकी नहीं, विश्वात्माकी है, तब निर्लेप, निस्संग, निष्काम-भावसे संसारमें रहना—यही तो जीवनका एकमात्र लक्ष्य रह जाता है। इस

विचारमें संसार को बिल्कुल त्याग देनेका, जंगलमें भाग जानेका भाव नहीं है। वैदिक-संस्कृति यथार्थवादी संस्कृति है। संसार जो-कुछ दिखायी देता है वह उसे वैसा मानती है, उसकी सत्ताको पूरी तरहसे स्वीकार करती है। यह संसार हमारे भोगनेके लिये रचा गया है। यह इसलिये नहीं रचा गया कि इसे देखकर हम आंखें मूंद लें, इससे भाग खड़े हों। वैदिक-संस्कृतिका मौलिक विचार यह है कि संसार तो भोगनेके लिये ही रचा गया है, इसे भोगो, परन्तु भोगते-भोगते इसमें इतने लिप्त न हो जाओ कि अपनी सुध-बुध ही भुला दो, अपने आपेको इसीमें खो दो। संसार-को भोगो परन्तु त्याग-पूर्वक, संसारमें रहो, परन्तु निर्लिप्त होकर, निस्संग होकर, इसमें रहते हुए भी इसमें न रहनेके समान, पानी-में कमल-पत्रकी तरह, घीमें पानीकी बूंदकी तरह! यह सब इसलिये, क्योंकि यथार्थवादी दृष्टिसे जैसे संसारका होना सत्य है, वैसे यथार्थवादी दृष्टिसे ही संसारका हमसे छूटना भी सत्य है। 'भोगना' और 'त्यागना'—इन दोनों सत्योंका सम्मिश्रण संसारकी और किसी संस्कृतिमें नहीं है, सिर्फ़ वैदिक-संस्कृतिमें है। अन्य संस्कृतियां इन दोनोंमें से सिर्फ़ एक सत्यको ले भागी हैं। कोई त्यागवादको ले बैठी है, कोई भोगवादको; किसीने प्रकृतिवादको, भौतिकवादको जन्म दिया, किसी ने कोरे अध्यात्मवादको। भोग और त्यागका समन्वय, भौतिकवाद और अध्यात्मवाद का मेल सिर्फ़ वैदिक-संस्कृतिमें पाया जाता है, और यही इस संस्कृतिका आधार-भूत मौलिक विचार है।

हम पहले ही कह चुके हैं कि संसारकी महान् संस्कृतियां किसी-केन्द्रीय विचारका विकास होती हैं। वह विचार जितना प्रबल होगा, उतनी ही वह संस्कृति बलवती होगी, उस विचारके

वेगको अपने विकासमें प्रकट कर सकेगी; जितना वह विचार निर्बल होगा, उतनी ही वह संस्कृति भी निष्प्राण-सी, निर्बल-सी होगी। जो संस्कृति जीवित रहना चाहती है उसके लिये यह आवश्यक हो जाता है कि वह अपने आधार-भूत मूल-विचारके वेगकी प्रबलताको बनाये रखे। उसके लिये यह भी आवश्यक हो जाता है कि उस विचारकी प्रबलताके साथ-साथ उस विचारकी धारा-वाहिकताको भी कायम रख सके। यह न हो कि आज वह विचार आंखोंके सामने आया, कल लुप्त हो गया। आज क्या, और कल क्या, एक पीढ़ी क्या, और दस पीढ़ियां क्या, उस जातिके चढ़ाव के दिन क्या, और उतरावके दिन क्या—वह विचार उस जातिका श्वास-प्रश्वास हो, जीवन-मरण हो, और उस जातिके धारावाहिक जीवनमें धारा-वाहिक रूपसे बना रह सके। जो जाति अपने जीवनमें अपनी संस्कृतिके आधारभूत केन्द्रीय-विचारको इस प्रकार जागरूक रख सकती है, उस जातिमें समय-समयपर ऐसे व्यक्ति प्रकट होते रहते हैं जिनका जीवन उस केन्द्रीय-विचारका प्रतीक होता है, मूर्त-रूप होता है, जिनके जीवनमें उस केन्द्रीय-विचारको हम उतरा हुआ देख सकते हैं। संस्कृतिका बल बढ़े, उसमें वेग दिखाई दे, और हमारी संस्कृतिका केन्द्रीय-विचार व्यक्ति-व्यक्तिमें, सबमें नहीं तो किसी एक ही व्यक्तिमें हमें मूर्त-रूपमें दीख पड़े—इसके लिये उस केन्द्रीय-विचार की प्राण-प्रतिष्ठा करते रहनेकी, उसे सबल बनाने की आवश्यकता है, वह जितना सबल होगा उतना ही वह देश में, जाति में, और देश-जातिके स्त्री-पुरुषोंके जीवनोंमें उतरता हुआ दीख पड़ेगा।

भारतीय-संस्कृतिके जिस मूल केन्द्रीय-विचारका हमने

उल्लेख किया वह यहांके व्यक्तियों, और यहांकी जातिके जीवन-को प्रभावित करता रहा है। हमारी जाति इतिहासमें अनेक प्रकारकी उथल-पुथल में से गुज़री। इसके चढ़ावके दिन भी आये, उतरावके दिन भी आये, परन्तु हमारी संस्कृतिका केन्द्रीय-विचार कम-अधिक रूपमें सदा इस जाति का मार्ग-प्रदर्शन करता रहा। समय था जब हमने इसी केन्द्रीय-विचारका विकास करते-करते अपने सामाजिक संगठनका निर्माण किया था। समय था जब इसी केन्द्रीय-विचारको लेकर हमने संसार-भरको अपने विचारों में दीक्षित किया था। ऐसा भी समय आया जब हम संसारके इतिहास के पन्नोंमें से मिट-से गये। उस समय राखके नीचे दबी आगकी तरह हमारी संस्कृति अपने केन्द्रीय-विचारको लेकर धीमे-धीमे सुलगती रही, परन्तु क्योंकि उसे फिरसे प्रचंड ज्वालाका रूप धारण करना था, फिरसे अन्धकारमें हाथ टटोलते पथ-भ्रष्ट विश्वका मार्ग-प्रदर्शन करना था इसलिये वह नष्ट नहीं हुई। आज फिर हमें अपनी संस्कृतिके केन्द्रीय-विचारको लेकर पहले अपने देशका नव-निर्माण करना है, फिर विश्वको अपनी संस्कृतिका सन्देश सुनाना है। हमारी संस्कृतिके केन्द्रीय-विचारमें वह बल है या नहीं कि अपने देशका नव-निर्माण कर सके, या विश्व-शांति का वह सन्देश संसारके सम्मुख रख सके जिसके लिये आज प्रत्येक देश व्याकुल हो रहा है—यह देखनेका समय तो अब आया है। अब भारत स्वतंत्र होनेके बाद अपने भविष्यका निर्माण करने जा रहा है। भारत जो कुछ बनेगा, उसका संसारके भविष्यपर भारी प्रभाव पड़नेवाला है। भारतका भविष्य, भारतके भूत-कालकी विचार परम्पराको तोड़कर, सैंकड़ों और हज़ारों वर्षों-

की ऋषि-मुनियोंकी तपस्याको नगण्य समझकर नहीं बनाया जा सकता। हम जिस नवीन रचनाका निर्माण करने लगेंगे, कोई-न-कोई उस रचनासे मेल खानेवाला प्राचीन विचार उस रचनाको आकर झांकने लगेगा, उस रचनामें अपनी पुट देने लगेगा। हम अपने देशकी प्राचीन संस्कृतिके बिना एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सकते, और उस संस्कृतिको समझनेके लिये उसके 'केन्द्रीय-विचार' को समझे बिना आगे कदम नहीं रख सकते।

[२]

विचारोंके संघर्षमें वैदिक-संस्कृतिका दृष्टिकोण

आर्थिक दृष्टिकोण और उसकी प्रतिक्रियाएँ—

इस समय एक प्रबल विचार संसारका शासन कर रहा है। वह विचार यह है कि इस दुनियाँमें जो-कुछ दीखता है वही असल है, वही हमारी समस्या है, वही हमारा प्रश्न है, हमें उसीका हल करना है। हम अपनी तरफ़ देखें तो हमें अपना शरीर दीखता है, दुनियाँकी तरफ़ देखें तो यह ज़मीन, यह पानी, यह आग, यह हवा, यह आसमान—यही-कुछ दीखता है। संसारमें असली चीज़ मनुष्यमें उसका शरीर, और विश्व में यह प्रकृति—बस, यही सब-कुछ है। इन्हें पा लिया तो सब पा लिया, इन्हें खो दिया तो सब खो दिया।

यही सबसे बड़ा विचार है जिससे दुनियाँके सब कारोबार चल रहे हैं, और सदियोंतक चलते रहे हैं। शरीर ही असली चीज़ है, और इसे चलानेकेलिये रुपये-पैसेकी ज़रूरत है। यह विचार संसारमें इतना प्रबल रहा है, और हो रहा है कि इसीको केन्द्र बनाकर दुनियाँमें कई वादोंका जन्म हुआ है। रुपया-पैसा जमा करनेका कभी यह तरीका समझा जाता था कि दूसरेके पास जो-कुछ है उसे ज़बरदस्ती छीन लिया जाय।

ऐसा करनेवाले चोर-डाकू-लुटेरे कहे जाते हैं, परन्तु यही काम संगठित रूपमें राजा, महाराजा, बादशाह करते रहे हैं। इसी ख्यालको लेकर सिकन्दर अपनी फ़ौजोंके बलपर दुनियाँ में लूट मचानेकेलिये चल पड़ा था। इसी ख्यालको लेकर महमूद ग़ज़नवीने ग़ज़नीमें दुनियाँकी दौलत लूटकर जमा कर ली थी। इसी ख्यालको लेकर नैपोलियनने यूरोपमें लूट मचायी थी। एक बादशाहके सामने जब एक डाकूको लाया गया तो उसने बादशाहसे कहा कि उसमें और बादशाहमें इसके सिवा क्या अन्तर है कि वह एक छोटा लुटेरा है, और बादशाह बड़ा लुटेरा? बहुत बड़े लुटेरेको बादशाह कहते हैं।

किसी समय फ़ौजें खड़ी करके दुनियाँमें लूट मचाई जाती थी, और इस प्रकार धन-दौलत जमा की जाती थी। उसके बाद एक दूसरा युग आया। इस समय लूट मचाकर रुपया जमा करना उतना सभ्य तरीका नहीं समझा जाने लगा जितना वणिज-व्यापार करके रुपया जमा करना। इस युगमें कल-कारख़ाने बने, रुपया पैदा करनेके नये-नये तरीके निकाले जाने लगे, व्यापार बढ़ा। कोई समय था जब आफ्रीकाके जंगल बंजर भूमिके तौरपर पड़े हुए थे। वहां अंग्रेज़ व्यापारी जा बसे। भारतवर्षसे कुली भर्ती करके वहां भेजे गये। ये मज़दूरी करते थे, और इन्हें कौड़ियां देकर अंग्रेज़ व्यापारी मालोमाल होते थे। व्यापार बढ़ानेकी ख़ातिर साम्राज्य कायम हुए। अंग्रेज़ लोग भारतमें व्यापारकी ख़ातिर ही आये, और जब उन्होंने देख लिया कि यहां रहना व्यापारकी दृष्टिसे, पैसा कमानेकी दृष्टिसे किसी प्रकार लाभप्रद नहीं, तो बोरिया-बिस्तर बांधकर फ़ौरन यहांसे चल दिये।

सिकन्दर, महमूद, नैपोलियनका युग, और बड़े-बड़े राज्यों का वणिज-व्यापारसे रुपया कमानेका युग—ये दोनों 'पूंजीवाद' के युग हैं। राजा लोगोंका फ़ौजें लेकर लूटके लिये निकल पड़ना, और अंग्रेज़ व्यापारियों का कल-कारख़ानों द्वारा पैसा जमा करना—दोनों पूंजीवादी विचारधाराके परिणाम हैं। परन्तु क्या यह विचार-धारा देरतक टिक सकती है ? क्या यह लूट-खसोट देरतक चल सकती है ? मनुष्य तो मनुष्य है। जब कोई अपनेसे अधिक किसी दूसरेको समृद्ध देखता है, अपनेसे अच्छा खाते देखता, अच्छा पीते देखता, अच्छा पहनते देखता, अच्छे मकानमें रहते देखता है, तब उसमें असंतोष उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक है। यह कैसे हो सकता है कि हमारा रसोइया हमें हलवा-पूरी बनाकर खिलाये, स्वयं रूखी रोटी खाये, परन्तु विद्रोह न करे ? यह कैसे हो सकता है कि जुलाहा हमारे लिये रेशमके कपड़े बुने, और स्वयं चीथड़ोंमें रहकर सुख-चैनसे बैठा रहे ? यह कैसे हो सकता है कि मज़दूर हमारे लिये महल खड़ा करनेमें अपना लहू बहाये, और स्वयं एक झोपड़ीमें पड़ा सर्दीमें ठिठुरता हुआ भी हमारे साथ अपना मुकाबिला न करे। पूंजीवादी संगठन में हमारे समाजकी रचना ऐसी है कि हम दूसरे से मज़दूरी कराते हैं, स्वयं कुछ नहीं करते, उसकी कमाईका बड़ा हिस्सा स्वयं खा जाते हैं। हम मज़दूरकी कमाई से बीस रुपये कमाते हैं, उसमेंसे दो रुपये उसकी झोलीमें डाल-कर अठारह रुपये अपनी जेबके हवाले करते हैं। हम कहते हैं, हमने पूंजी लगाई, परन्तु बीस रुपये पूँजीसे तो नहीं उत्पन्न हुए, ये तो मज़दूरकी मेहनतसे उत्पन्न हुए हैं। पूंजी पड़ी-पड़ी क्या कर लेती अगर मेहनत न होती ? पूंजी भी अगर लगी

है, तो पूंजी और मेहनतमेंसे किसका हक़ ज़्यादा है ? क्या बीस रुपयेके मुनाफ़ेमें मेहनतका हक़ सिर्फ़ दो रुपया, और पूंजी का हक़ अठारह रुपया है ? जब आजका मज़दूर देखता है कि उसके पैदा कियेहुए बीस रुपयेमेंसे लगभग सारा हिस्सा पूंजी-पति ले जा रहा है तब उसके हृदयमें पूंजीवादके प्रति विद्रोह उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक है। यही विद्रोहकी अवस्था एक नवीन विचारधाराको जन्म दे रही है।

एक तरफ़ पूंजीपति हैं, दूसरी तरफ़ मजदूर। मज़दूर अपने और पूंजीपतियोंमें एक भारी खाई देख रहे हैं। घर-घरमें समस्या खड़ी हो गई है। नौकर रखना मुश्किल हो गया है, और ज्यों-ज्यों समय गुज़रता जायगा, मुश्किल होता जायगा। सबकी मांग बढ़ रही है। कुछ साल पहले दफ़्तरके अच्छे-अच्छे बाबुओंको जो मिलता था वह चपरासियोंको मिलने लगा है, और उससे भी उनका संतोष नहीं होता। यह समस्या सब जगह देश-देशमें खड़ी हो गई है, इसी समस्या को हल करनेका नाम कोई 'समाजवाद' कहता है, कोई 'कम्यूनिज़्म' कहता है।

पूंजीवाद, समाजवाद, कम्यूनिज़्म—

अगर हमारी वास्तविक समस्या पैसा है, तो यह भी ठीक है कि यह समस्या किसी एक-दोकी नहीं, सभीकी है, और मनुष्यकी इस समस्याका हल तभी होगा जब सबको आवश्य-कतानुसार पैसा मिलने लगेगा। अगर कुछ लोगोंको इसलिये ज़्यादा पैसा मिलता है क्योंकि वे पढ़े-लिखे हैं, ज़्यादा लायक हैं, तो सबको पढ़ने-लिखने और लायक होनेका मौका देना होगा। हर हालतमें सबको आवश्यकतानुसार पैसा मिले, किसी

की आर्थिक-समस्या हल हुए बग़ैर न रहे, तभी मनुष्य-समाज का भला होगा। पूंजीवादके प्रति विद्रोही विचारोंकी दिशा इसी तरफ़ है। तभी चारों तरफ़ समाजवाद और कम्यूनिज़्म का बोलबाला है। चीनमें क्या हो रहा है? कोरियामें क्या हुआ है? ईरानके प्राइम मिनिस्टर रज़माराको क्यों मारा गया था? पाकिस्तानमें लियाकतके समय बड़े-बड़े मिलिटरी अफ़सरोंको क्यों पकड़ा गया था? भारतमें तैलंगाना में क्या हुआ?—ये सब पूंजीवादी विचारधाराके विरुद्ध प्रतिक्रियाएं हैं। पूंजीवाद और समाजवाद, या दूसरे शब्दोमें पूंजीवाद और कम्यूनिज़्म—ये दो विचारधाराएं हैं जिनमें आज संघर्ष चल रहा है। अखाड़ेमेंसे पूंजीवाद आसानीसे भागनेको तैयार नहीं, इसके साथ दो मल्लोंका मुकाबिला हो रहा है—एक है 'समाज-वाद', दूसरा है 'कम्यूनिज़्म'। समाजवाद और कम्यूनिज़्म की उत्पत्ति, इनके विकास और इनकी बारीकियोंमें हमें जानेकी ज़रूरत नहीं, इन दोनों विचारधाराओंका लक्ष्य अमीरी-ग़रीबी के भेदको मिटाना है। दोनों पूंजीवादके शत्रु हैं, दोनों सम्पत्ति का सबमें सम-विभाग चाहते हैं। समाजवाद ज़रा धीमी चालसे चलता है, कम्यूनिज़्म अपने आदर्शतक पहुंचनेके लिये मानो सरपट दौड़ा जा रहा है, पूंजीवादको तोप-बन्दूकसे उड़ा देना चाहता है। कोई समय था जब कम्यूनिज़्मका नाम भी सुनने में नहीं आया था। समाजवादका नाम सुनते थे, वह भी अर्थ-शास्त्रकी पुस्तकोंमें। उस समय पूंजीवादका ही बोलबाला था। आज समय बदल गया है, पूंजीवादकी जड़ें हिल गई हैं। जहां-जहां पूंजीवाद है वहां-वहां वह भी समाजवादकी दिशाकी तरफ़ ही चल पड़ा है। उसे कम्यूनिज़्मसे इतना भय पैदा हो गया

है कि हरेक राष्ट्र खुद-ब-खुद समाजवादी हो जाना ज्यादा पसन्द कर रहा है। उसे मालूम है कि अगर अमीर-ग़रीबका भेद बना रहेगा, तो कोई भी राष्ट्र आजके युगमें, आजकी हवा में टिक नहीं सकता। इंग्लैंड भी तो समाजवादी हो गया था, वहां समाजवादी दल शासनारूढ़ हो गया था। भारतमें क्या हो रहा है ? यहां भी तो वही हवा बह रही है। कहनेको यहांके समाजवादी भले ही कहते रहें कि भारतमें पूंजीवादी शासन है, परन्तु यथार्थ-रूपमें हम देख क्या रहे हैं ? पुराने आदर्श ढह रहे हैं, नये आदर्श खड़े हो रहे हैं। जो राजा लोग सदियोंसे शासन कर रहे थे, वे तीन सालमें एक झोंकेसे समाप्त हो गये। ज़मींदारी प्रथाका अन्त हो गया। सड़कोंपर लारियां सरकार चलाने लगी। सहकारी-समितियां धड़ाधड़ बनती चली जा रही हैं। जो मुनाफ़ा व्यापारी लोग उठाते थे वह सरकार उठाने लगी है, और यह इस-लिये ताकि उस मुनाफ़ेको कुछ लोगोंके हाथोंमें केन्द्रित करनेके बजाय सबमें बांट दिया जाय—अमीर-ग़रीबका भेद मिट जाय। जैसे किसी समय समाजवाद किताबी चीज़ थी, वैसे आज यह दीख रहा है कि पूंजीवाद किताबी चीज़ होती जा रही है, पूंजीवादी भी पूंजीवाद के पक्षमें बोलनेसे लजाते हैं, वे भी समाजवादी भाषामें ही बोलना पसन्द करते हैं।

विचारोंके संघर्षमें यह परिवर्तन है जो आज हमें अपनी आंखोंके सामने दीख रहा है। हमारे देखते-देखते वह युग आ जायगा जब पूंजीवाद समाप्त हो जायगा, समाजवादी विचार-धाराका चारों तरफ़ बोलबाला होगा, और जो राष्ट्र इस विचार-सरणीपर नहीं सोचेगा वहांकी जनता क्रोधमें उठ खड़ी

होगी, और क्रांतिकारी मार्गसे राज्यकी सत्ताको पलटनेका प्रयत्न करेगी। यह तरीका कम्यूनिज़्मका होगा, परन्तु यह ज़रूरी नहीं कि कम्यूनिज़्मसे ही अमीर-ग़रीबका भेद मिटे। जो संघर्ष हमारे सामने हो रहा है उसका यह परिणाम अवश्य होगा कि पूंजीवाद समाप्त हो जायगा, अमीर-ग़रीबके भेदकी खाई मिट जायगी, परन्तु यह समाजवादी या कम्यूनिज़्मके ही तरीकेसे होगा—इसे कौन कह सकता है? विनोबा के भूदानी भी तो समता के सन्देशवाहक हैं, वे हिंसाके स्थानमें अहिंसाके, घृणा के स्थान में प्रेमके उपायोंसे आर्थिक विषमताकी समस्याको हल करनेका प्रयत्न कर रहे हैं। वैदिक-आदर्श भी तो यही है। 'समानी प्रपा सह वो अन्न-भागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि'—का अभिप्राय यही है कि राष्ट्रके सब प्राणियोंको एक-सा खानेको मिले, एक-सा पीनेको मिले, किसीको किसी बातकी कमी न रहे। यह तो नहीं कहा जा सकता कि संसारमें समता किस साधनसे आयेगी, हां, दुनियाँका रुख़ यह अवश्य बतलाता है कि किसी भी साधनसे हो, अब भेद-भाव टिक नहीं सकता। कोई समय था जब गोरी जातियां समझती थीं कि काली जातियों में कोई ऐसी कमी है जिससे वे गोरी जातियोंके मुकाबिलेमें हीन हैं। भारत तथा अन्य एशियाई देशोंको देर-तक पराधीन रखनेका यह भी बड़ा कारण था। परन्तु अब जातिगत भेद अपने-आप मिटता चला जा रहा है, और मानव-समाजको समझ आता जा रहा है कि ये भेद टिक नहीं सकते। दक्षिणी आफ़्रीकामें आज भी वहांके निवासियोंको वे अधिकार नहीं दिये जा रहे जो वहांके गोरोंको प्राप्त हैं, परन्तु आजकी विचारधारामें इस भेद-भावको न्याय-संगत समझ सकना

असंभव है। कोई समय था जब इस भेदको स्वाभाविक माना जाता था। अपने देशमें ऐसी जातियां रही हैं जिन्हें छूनातक पाप समझा जाता था। परन्तु ये विचार कबतक चलते? अभी हमारे देखते-देखते अछूतपन ख़तम हो गया, रहा-सहा खतम होता जा रहा है। मनुष्य-मनुष्यमें भेद-भावको मिटानेवाले कानून बनने लगे हैं। स्त्रियोंको ही देखें तो समय था जब उनमें जीवात्मातक नहीं माना जाता था। युरोपके इतिहासमें ऐसा समय था जब पुरुषमें आत्मा माना जाता था, स्त्रीमें नहीं। परन्तु क्या यह अवस्था टिक सकी? आज युरोपके हर देशमें स्त्रियोंको वही अधिकार प्राप्त हैं जो पुरुषोंको हैं। यह सब क्या सूचित करता है? क्या इससे यह सूचित नहीं होता कि विचारोंके संघर्षका यह अवश्यंभावी परिणाम होनेवाला है कि मनुष्यद्वारा खड़े किये हुए कृत्रिम भेद-भाव मिट जायेंगे, मनुष्य एकताकी तरफ़ कदम बढ़ायेगा। जिस प्रकार ये सामाजिक भेद मिट रहे हैं, मानव-जाति एकताकी तरफ़ चल रही है, क्या इसी प्रकार आर्थिक भेद नहीं मिटेंगे, और क्या संसारमें कोई ऐसा समय नहीं आयेगा जब किसी व्यक्तिपर भी अंगुली उठा कर यह नहीं कहा जा सकेगा कि वह ग़रीब है, उसे भरपेट खानेको नहीं मिलता, कपड़ा ओढ़नेको नहीं मिलता, मकान रहनेको नहीं मिलता, उसके बच्चोंको पढ़नेको नहीं मिलता, वह रोगी हो तो उसका दवा-दारू नहीं हो सकता! संसार जिस दिशाकी तरफ़ बढ़ रहा है, और अबतक जो-कुछ हो चुका है अगर वही आनेवाले युग का निदर्शक है, तो निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि समाजवादसे हो, या कम्यूनिज़्मसे हो—इच्छा-पूर्वक हो, या अनिच्छा-पूर्वक हो—समझाने-बुझानेसे

हो, या तोप-बन्दूक और लाठी-तलवार से हो—अब वह ज़माना नहीं रह सकता जब कोई व्यक्ति ज़रूरतसे ज़्यादा खाता हो और कोई भूखा मरता हो, किसीके पास किसी चीज़का बेअन्त हो और कोई हर चीज़के लिये तरसता हो। ऐसा युग आ रहा है, आज नहीं तो कल, कल नहीं परसों—'समानी प्रपा सह वो अन्नभाग:' का वैदिक-युग आयेगा—इसे कोई रोक नहीं सकता।

वैदिक-दृष्टिसे आर्थिक-समस्या मनुष्यकी पहली पर अन्तिम समस्या नहीं है—

यह तो अन्धेको भी दीख रहा है कि आगे आनेवाला युग पूंजीवादका नहीं होगा, समाजवादका, कम्यूनिज़्मका, समताका और अगर इनसे भी कोई प्रबल विचारधारा उठ खड़ी हुई, तो उसका युग होगा। परन्तु क्या इन वादोंके संघर्षके बाद विचारोंका कोई और संघर्ष भी होगा? वैदिक-संस्कृतिके दृष्टिकोणसे विचार करनेवालोंका उत्तर है कि होगा, और अवश्य होगा। असलमें पूंजीवाद, समाजवाद और कम्यूनिज़्ममें कोई मौलिक भेद नहीं है। ये एक ही भौतिकवादी संस्कृतिके कच्चे-बच्चे हैं। कहनेको ये एक-दूसरेके शत्रु हैं, परन्तु असलमें जीवनके प्रति इन तीनोंका दृष्टि-बिन्दु एक ही है। पूंजीवादका आदर्श पैसा है, समाजवादका आदर्श पैसा है, कम्यूनिज़्मका आदर्श पैसा है। इन तीनोंका एक स्वरसे कहना है कि पैसेका प्रश्न हल हो गया तो मनुष्यकी पूरी-की-पूरी समस्याका हल हो गया। मनुष्यकी असली समस्या आर्थिक है, और उसीका इन्हें हल करना है। भौतिकवादी संस्कृतिके इन तीनों वादोंके मुकाबिले में अध्यात्मवादी वैदिक-संस्कृति का दृष्टिकोण यह है कि आर्थिक

समस्याके हल हो जानेपर भी मनुष्यकी वास्तविक समस्या हल नहीं हो जाती। मनुष्य इस भौतिक शरीरतक ही समाप्त नहीं हो जाता, भूख-प्यास शान्त कर देने मात्रसे उसकी शांति नहीं हो जाती। जो-कुछ दीखता है वह-सब 'ग्रात्म-तत्त्व' का विकास है—इस मानव-शरीरके पीछे ग्रात्मा है, प्रकृतिकी ग्रोटके पीछे परमात्मा है। हम शरीर नहीं, ग्रात्मा हैं; संसारकी वास्तविक सत्ता प्रकृति नहीं, परमात्मा है। जीवनके प्रति यह दृष्टि-कोण वैदिक-संस्कृतिका दृष्टि-कोण है। यह दृष्टि-कोण मानव जीवनकी समस्याको बिल्कुल बदल देता है। वैदिक-संस्कृतिके इस दृष्टि-कोणके ग्रनुसार पूंजीवाद, समाजवाद ग्रौर कम्यूनिज़्म—ये तीनों मनुष्य को पशु के स्तरपर मानकर उसकी समस्याका हल करते हैं, मनुष्यको शरीर मात्र समझते हैं। परन्तु क्या हमारा ग्रनुभव हमें यह बतलाता है कि हम शरीरके ग्रतिरिक्त कुछ नहीं हैं? शरीरको जैसे भूख-प्यास लगती है, ग्रौर इस भूख-प्यासको, ग्रौर शरीरकी ग्रन्य वासनाग्रोंको तृप्त करनेके लिये जैसे संसारमें स्वार्थ का राज्य है, लोग एक-दूसरेके खूनके प्यासे फिरते हैं, चारों तरफ़ छीना-झपटी चल रही है, मत्स्य-न्यायका बोलबाला है, ऐसे ही क्या हमारा यह ग्रनुभव भी नहीं है कि हमें भूख-प्यासके ग्रतिरिक्त, इनसे कोई ऊंची चीज़ भी लगती है, कभी-कभी दूसरेके दुःखमें मर मिटनेकी तड़पन भी हममें उत्पन्न होती है, कभी-कभी दूसरेका खून लेनेके बजाय दूसरेके लिये ख़ून देनेकी इच्छा भी प्रबल हो उठती है, कभी-कभी स्वार्थको कुचलकर परार्थ-भावनामें हमें ग्रपने जीवनकी ग्रधिक पूर्णता दीख पड़ती है। क्या ये ग्रनुभव कभी-कभी हमें ग्रपने ही वैयक्तिक जीवन में नहीं होते? इसके ग्रतिरिक्त क्या यह

सत्य नहीं है कि लाखों-करोड़ोंमें जो व्यक्ति अपने शरीरकी पर्वा नहीं करता, भूख-प्यासको भूलकर दूसरोंके भलेके लिये अपना भला भूल जाता है, सारी दुनियाँ उसकी तरफ़ सिर उठाकर देखने लगती है, उसे अपना 'हीरो', अपना आदर्श समझने लगती है। बुद्ध, ईसा, दयानन्द, गांधीको क्या हम इसलिये याद नहीं करते क्योंकि वे अपने लिये नहीं, दुनियाँके लिये जिये ? क्या यह सब-कुछ सिद्ध नहीं करता कि यद्यपि हम पैसा बटोरनेमें लगे हुए हैं, तो भी अपने अन्तरात्मामें, पैसा बटोरनेकी अपेक्षा पैसेको छोड़नेको—जानमें, अनजानमें—ऊंचा आदर्श समझे हुए हैं। हम आज विश्व-शांति, विश्व-प्रेमके नारे लगा रहे हैं। ठीक भी है, ये ही सत्य हैं, ये ही विश्व की वास्तविक सत्ताएं हैं, मूल-तत्त्व हैं, परन्तु विश्व-शांति और विश्व-प्रेमका इतना शोर मचानेपर भी विश्वमें अशांति और द्वेष ही बढ़ रहे हैं—इसका क्या कारण है ? इसका कारण यही है कि विश्वकी आधार-भूत इन मौलिक सत्ताओंके समुद्रकी लहरें जब उमड़-उमड़कर आती हैं, तब वे आकर भौतिकवादके हमारे दृष्टिकोण की चट्टान से टकराकर लौट जाती हैं। पूंजीवाद, समाजवाद और कम्यूनिज़्म क्या हैं ?—ये भौतिकवादी चट्टानें ही तो हैं जो वैदिक-संस्कृतिकी लहरोंको आगे नहीं बढ़ने देतीं, ये वे दीवारें हैं जिनमें आज हम कैदीकी तरह बन्द हैं, जो आज मानवको इस शरीर ही से, शरीरकी भूख-प्यास ही से घेरे हुए हैं, शरीरसे बाहर उसे झांकने ही नहीं देतीं। हम जबतक इन भौतिकवादोंसे बंधे रहेंगे, इनमें कैद रहेंगे, तबतक विश्व-शांति और विश्व-प्रेम का नाम भर लेते रहेंगे, इन्हें प्राप्त नहीं कर पायेंगे। नाम तो इसलिये लेते रहेंगे क्योंकि सत्य यही

हैं, यथार्थ यही हैं, और इसीलिये जब ये सत्ताएं उमड़कर आती हैं, तो अपनी दिव्य-झलकसे घोर-से-घोर भौतिकवादी और कट्टर-से-कट्टर नास्तिकको भी विचलित-सा कर जाती हैं, परन्तु भौतिकवादोंमें जकड़े हुए हम इन मौलिक सत्ताओंको पा इस-लिये नहीं सकेंगे क्योंकि यद्यपि वैदिक-संस्कृतिका अध्यात्मवाद भौतिकवादको अपना साधन समझता है तथापि भौतिकवाद अध्यात्मवादके साथ किसी प्रकारका समझौता करनेको तैयार नहीं। कोरे भौतिकवादकी दृष्टिसे मैं क्यों किसीका भला करूं जबतक वह भला भी मेरे ही भलेके लिये न हो, क्यों किसी के लिये मरूं जबतक मेरा मरना मेरे ही जीवनके लिये न हो। संसारके जितने ऊंचे-से-ऊंचे आदर्श हैं वे तभीतक टिक सकते हैं जबतक जीवनके प्रति हमारा दृष्टिकोण आध्यात्मिक हो, वैदिक-संस्कृतिका हो; पूंजीवादी, समाजवादी या कम्यूनिस्ट दृष्टिकोणसे वे आदर्श टिक ही नहीं सकते। हां, हम फिर भी इन आदर्शोंकी माला अवश्य जपते रहते हैं, इनके नारे अवश्य लगाते रहते हैं—इसका कारण यह है कि जैसे एक कैदी जेलख़ानेमें बन्द होता हुआ बाहर निकलनेसे विवश होता है, परन्तु बाहरकी स्वतंत्र वायु के झोंके उसके ध्यानकी डोरको बाहर खींचे रखते हैं, इसी प्रकार इन वादोंकी कैद में जकड़े हुए हम अपनेको विवश पा रहे हैं, परन्तु इनकी चहार-दीवारीके बाहर, इनसे दूर जो आदर्श चमक रहे हैं, वे हमारे ध्यानको खींचे बग़ैर भी नहीं मानते। उन आदर्शोंका और इन वादोंका कोई मेल नहीं, परन्तु इन वादोंमें इतनी हिम्मत भी नहीं कि उन आदर्शोंको ठुकराकर अलग फेंक सकें, क्योंकि उन आदर्शों को देखकर इनवादोंकेलिये यह कह सकना असम्भव हो जाता है

कि उनके बिना ये भी टिक सकेंगे या नहीं। असलमें भौतिकवादों के टिकने का एक ही आधार हो सकता है, और वह यही कि वे आदर्श जो दूरसे चमक रहे हैं, वे जो दुनियाँमें आ-आकर रह जाते हैं, वे जिनकी झलक देखकर हम सब उनकी तरफ़ आंखें उठाये खड़े हैं, वे आदर्श भौतिकवादोंसे—पूंजीवादसे, समाज-वादसे, कम्यूनिज़मसे—मूर्तरूपमें आ सकते हैं या नहीं ? अगर ये वाद मनुष्यकी सिर्फ़ भूख-प्यास मिटा सकते हैं, अगर ये उसे और किसी प्रकारकी शांति नहीं दे सकते, तो ये मनुष्यके एक बहुत छोटे-से प्रश्नको, उसकी बहुत छोटी-सी समस्याको हल करते हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि भूख-प्यासको मिटाना मनुष्यका एक अत्यन्त ही महान् प्रश्न है, परन्तु यहीं तो पूंजी-वाद, समाजवाद और कम्यूनिज़मके मुकाबिलेमें अध्यात्मवादी वैदिक-संस्कृति का स्थान आता है। वैदिक-संस्कृति के अध्यात्म-वाद का दृष्टिकोण मानवमें मनुष्य-शरीरकी सत्ता को मानकर आगे चलता है, भौतिकवादका दृष्टिकोण शरीरके बाद अन्य किसी सत्तासे इन्कार करता है। शरीर है, परन्तु मानवका यह आदि है, अन्त नहीं, इसीकी आवश्यकताओंकी पूर्ति करते-करते अपनेको मिटा देना हमारा लक्ष्य नहीं। वैदिक-संस्कृतिका अध्यात्मवाद यह नहीं कहता कि हमें शरीरको भूल जाना है, हमें मनुष्य की आर्थिक-समस्या को हल नहीं करना। शरीर तो सत्य है, और इतना अधिक सत्य है कि यही दीखता है, अन्य कुछ नहीं, इतना अधिक दीखता है कि अपने स्वामी आत्माको ही इसने अपने पीछे ढक लिया है। ऐसी अवस्था में शरीरकी चिन्ता कैसे छोड़ी जा सकती है। 'जीवेम शरदः शतम्'—सौ बरसतक जीनेकी इच्छा रखनेवाले शरीरको घृणा

की दृष्टिसे कैसे देख सकते थे ? शरीर सत्य है, तो भूख-प्यास भी सत्य है, इन्हें भी नहीं भुलाया जा सकता। अपनी भूख-प्यासको मिटानेका काम पूंजीवादका है। अपनी ही नहीं, हर-एक व्यक्तिकी भूख-प्यासको मिटानेका काम जनतंत्रवादका है, समाजवादका है, कम्यूनिज़्मका है। इस दृष्टिसे वैदिक-संस्कृति के अध्यात्मवादको, अपने उद्देश्यमें आगे कदम रखनेके लिये, संसारकी भूख-प्यासकी समस्याको मिटानेवाले सभी वादोंकी आवश्यकता है, और जो वाद इस समस्याको सबसे अधिक, सबसे अच्छी तरहसे हल कर सके उसकी सबसे अधिक आवश्यकता है। हां, वैदिक-संस्कृतिका कहना यह अवश्य है कि जब ये वाद संसारकी आर्थिक विषमताकी समस्याको हल कर लें तब मैदानसे हट जायं, तब भी मनुष्य-समाजको अपनी रस्सियों में न बांध रखें। पूंजीवाद, समाजवाद, कम्यूनिज़्म—आधारमें भौतिकवादी संस्कृतिके परिणाम हैं, जहां भौतिकवादी संस्कृति का कार्य समाप्त हो जाता है वहां अध्यात्मवादी वैदिक-संस्कृति का कार्य प्रारम्भ होता है। जैसे कोरा भौतिकवाद संसारका भला नहीं कर सकता वैसे कोरा अध्यात्मवाद भी संसारका भला नहीं कर सकता। इकतरफ़ापन संसारकी आधार-भूत सचाई नहीं है। वैदिक-संस्कृति भौतिकवादका तिरस्कार नहीं करती, उसे विकासके मार्गमें अपना साधन समझती है, क्योंकि इस संस्कृतिके दृष्टिकोणमें शरीर आत्माकी तरफ़ ले जानेका साधन है, प्रकृति परमात्माकी तरफ़ ले जानेका साधन है। हम शरीरसे चलें, परन्तु शरीरतक रुक न जायं, प्रकृतिसे चलें परन्तु प्रकृतितक रुक न जायं—यही आजके युगको वैदिक-संस्कृतिका सन्देश है।

[३]

निष्काम-कर्म

'निष्कर्मण्यता' तथा 'निष्कामता'—

हम पहले लिख आये हैं कि वैदिक-संस्कृतिका जीवनके प्रति दृष्टिकोण त्याग-पूर्वक भोगका दृष्टिकोण है। हम संसारमें रहें, परन्तु निर्लिप्त होकर, निस्संग होकर, निष्काम-भावसे। जीवनमें सकाम-भावसे रहना और निष्काम-भावनासे रहना—इन दोनों में महान् भेद है, और इस भेदको सम्मुख रखकर वैदिक-साहित्यका निर्माण हुआ है। इस प्रकारके साहित्यमें गीताका सबसे ऊंचा स्थान है। गीताने सदियोंसे भारतीय जनताके जीवनको प्रभावित किया है। गीताका आधार उपनिषद् हैं—'सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः'। इन उपनिषदोंको आधार बनाकर किसी समय भारतमें निष्कामके स्थान पर निष्कर्मण्यता की लहर चल पड़ी थी—'निष्कर्मण्यता'—अर्थात् काम ही न करना। ब्रह्म ही सत्य है, अन्य सब-कुछ मिथ्या है—इस प्रकारकी शिक्षाका प्रचार करके लोग कर्म-मात्रसे मुंह फेरने लगे थे। उपनिषदोंका अभिप्राय, वेदान्त का तात्पर्य, अध्यात्मवादका सार यही समझा जाता था कि संसार छोड़ दो, भगवा पहन लो, कोई काम मत करो। इस

अवस्थासे तत्कालीन विचारक-समुदाय सोचमें पड़ गया था। इसलिये उपनिषदोंके, वेदान्तके, अध्यात्मवादके ही शुद्ध, सत्य रूपको—कर्म त्यागनेके स्थानमें कर्म करने परन्तु कर्ममें निहित वासनाको त्यागनेके सिद्धान्तको, 'निष्कर्मण्यता' के स्थानमें 'निष्काम-भाव' के वैदिक सिद्धान्तको प्रकट करनेके लिये गीताका निर्माण हुआ। गीताने वैदिक-संस्कृतिकी लुप्त होती हुई विचार-धाराको फिरसे सबके सामने लाकर रख दिया। उपनिषदों-की, वेदान्तकी, विशुद्ध वैदिक-संस्कृतिके अध्यात्मवादकी विचार-धारा यह थी कि ब्रह्म सत्य है—परन्तु इस संसारसे भी तो इन्कार नहीं किया जाता—हां, इस संसारके मुकाबिलेमें अन्तिम-सत्ता, यथार्थ-सत्ता शरीरकी नहीं, आत्माकी है, प्रकृतिकी नहीं, परमात्माकी है। गीताने कहा कि क्योंकि शरीर है इस-लिये शरीरकेलिये काम करो, परन्तु क्योंकि अन्तिम-सत्ता इसकी नहीं है, इसलिये इसमें लिप्त होनेसे बचे रहो; क्योंकि संसार है इसलिये इसका भी उपभोग करो, परन्तु क्योंकि अन्तिम-सत्ता इसकी भी नहीं है, इसलिये इस संसार में भी लिप्त होनेसे बचे रहो। उपनिषदोंका, वेदान्तका, अध्यात्मवादका अभिप्राय 'निष्कर्मण्यता' समझा जाता रहा है, असलमें, इस समझ में भूल रही है। भारतीय अध्यात्मवादका, वैदिक-संस्कृतिका यह अभिप्राय कभी नहीं रहा। इसका अभिप्राय 'निष्कर्मण्य' जीवन बनाने के स्थानमें 'निष्काम' जीवन बनाने से है। उपनिषदोंके, वेदान्त के, अध्यात्मवादके समझनेमें जो भूल हो रही थी उसे श्रीकृष्ण महाराजने गीतामें दूर कर दिया। 'निष्काम-भाव' का विचार वैदिक-संस्कृतिकी विचारधाराका एक मौलिक विचार है, और क्योंकि इस विचारको जितने स्पष्ट तौरपर गीतामें समझाया

गया है, उतना अन्यत्र कहीं नहीं, इसलिये हम गीताके ही शब्दोंमें, इस अध्यायमें 'निष्काम-कर्म' पर विचार करेंगे ।

अर्जुन का कोरा अध्यातमवाद—

गीताका प्रारम्भ धृतराष्ट्रकी वाणी से होता है जिसमें वे संजयको सम्बोधन करके कहते हैं—

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ।
मामका: पांडवाश्चैव किमकुर्वत संजय ।।

हे संजय ! जब युद्ध-क्षेत्रमें कौरव और पांडव आमने-सामने हुए तब क्या हुआ ? संजयने युद्धका वर्णन करते हुए आंखोंदेखी घटनाका इस प्रकार वर्णन किया—

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ।
यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान्
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन् रणसमुद्यमे ।।

हे राजन् ! जब लड़ाई शुरू होनेवाली थी तब अर्जुनने कृष्ण महाराजसे कहा, मेरे रथको दोनों सेनाओंके बीचमें ले चलो ताकि मैं देख सकूं कि इस संग्राममें मुझे किन-किनसे लड़ना है। यह सुनकर कृष्ण महाराज, जो सारथिका काम कर रहे थे, रथको हांकर बीचमें ले गये। अर्जुनने चारों तरफ़ नज़र दौड़ाकर देखा, उसीके सगे-सम्बन्धी, उसीके घर-बारके लोग लड़ने के लिये जमा हो रहे थे। यह देखकर अर्जुनने श्रीकृष्णसे कहा—

सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ।।

गांडीवं स्रंसते हस्तात् त्वक्चैव परिदह्यते ।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ।।
न कांक्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च ।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ।।

हे कृष्ण ! मेरे तो अंग शिथिल हुए जा रहे हैं, मुख सूखा जा रहा है, शरीरमें कंपकंपी छूट रही है, हाथसे गांडीव सरका जा रहा है, शरीर जल-सा रहा है, सिरमें चक्कर आ रहा है। मेरे चारों तरफ़ भाई-भतीजे, चचा-ताऊ, गुरु तथा अन्य निकटके सम्बन्धी लड़नेको खड़े हैं। मुझे राजकाज कुछ नहीं चाहिये, संसारके भोग-ऐश्वर्य कुछ नहीं चाहिये। 'श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके'—संसारमें भिक्षा मांगकर जीवन-निर्वाह करना अच्छा; 'भुंजीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान्'—सगे- संबंधियों से लड़कर जीनेकी इच्छा रुधिरसे सने हुए भोग भोगनेकी इच्छाके समान है।

कृष्ण महाराजने अर्जुनके हृदयको जब इस प्रकार बैठते देखा तो बोले—

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ।।
क्लैव्यं मास्मगमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ।।

अर्जुन ! मोहमें मत पड़, आर्य लोगोंका काम मैदानसे भागना नहीं। मैदान छोड़कर भागनेसे मनुष्यकी अपकीर्ति होती है, सुख-शान्तिका यह मार्ग नहीं है, संसारको इस प्रकार छोड़कर भाग पड़ना—ये 'प्रज्ञावाद'—ये बड़े-बड़े आध्यात्मिक उपदेश जो तुम देने लगे हो, ये सब अध्यात्मवाद नहीं, यह

क्लीवता है, नपुंसकता है। दिलको मज़बूत बनाओ और इस दुर्बलताको झटका देकर अलग कर दो।

श्रीकृष्णका वैदिक-संस्कृति संबंधी अध्यात्मवाद—

सगे-सम्बन्धियोंको इस प्रकार भौतिक ऐश्वर्यके लिये लड़ते देखकर, उन लोगोंको जो बचपनमें साथ-साथ खेले, साथ-साथ उठे-बैठे, भाई-भाई की तरह रहे, उन्हें सम्पत्तिके लिये एक-दूसरेके खूनका प्यासा देखकर अगर कोई ज़रा भी सोचने लगे, तो किसके हृदय में वैराग्य नहीं उत्पन्न हो जाता, कौन संसारको मिथ्या नहीं समझने लगता। सदियों पहले अर्जुनने इस दृष्टिसे सोचा, और जीवनसे निराश होकर खड़ा हो गया, आज भी कोई उसी दृष्टिसे देखे, तो उसे जीवनमें कोई तत्त्व नज़र न आये। निराश अर्जुनमें गीताने आशाका संचार कर दिया, मैदानसे भागते हुए अर्जुनको गीताने मैदान में फिरसे ला खड़ा किया, तो क्या श्रीकृष्णने यह सब-कुछ अर्जुनको यह समझाकर किया कि संसार मोज मारनेकी जगह है, लड़ो और सगे-सम्बन्धियोंको मारकर गुलछर्रे उड़ाओ? नहीं, अर्जुनकी अध्यात्मवादी विचारधाराको काटनेके लिये श्रीकृष्णने प्रकृतिवादी विचारधाराका उपदेश नहीं दिया। जैसे अर्जुन अध्यात्मवादी बातें करने लगा था, वैसे श्रीकृष्ण भी अध्यात्मवादी बातें ही करने लगे, उन्होंने भी यही कहा कि यह शरीर मट्टी का चोला है, जैसे कपड़े के मैला होनेपर उसे उतार फेंकते हैं वैसे शरीरके पुराना हो जानेपर वह बदल दिया जाता है, आत्मा ही नित्य है, शरीर अनित्य है। कोरी अध्यात्मवादी संस्कृति—'संसार असार है, यह-सब दो दिनका

मेला है'—यह कहकर संसारसे भाग खड़ी होती है, अर्जुन भी ऐसा ही करने लगा था, परन्तु वैदिक-संस्कृतिने जिस अध्यात्म-वादको जन्म दिया था वह संसारको असार भी कहती थी, और संसारको छोड़कर भागती भी नहीं थी, शरीरको आत्मा का बदलनेवाला चोला भी कहती थी, और हाथपर हाथ धर-कर बैठती भी नहीं थी। वैदिक-संस्कृतिकी इसी विचारधाराको श्रीकृष्ण महाराजने खोलकर अर्जुनके सामने रखा और अध्यात्म-वादी होते हुए भी उसे संसारसे भागनेके स्थानपर संसारमें डटनेका उपदेश दिया।

श्रीकृष्णका अध्यात्मवाद एक रहस्यकी व्याख्या है—

संसार को असार मानना और फिर भी इसमें डटना—यह एक नवीन विचारधारा है। प्रकृतिवादी संसारको ही सब-कुछ मानते हैं, उनका संसारमें डटना स्वाभाविक है। अध्यात्मवादी संसारको असार मानते हैं, उनका संसारसे भाग खड़े होना भी स्वाभाविक है। परन्तु संसारको असार मानना और फिर भी इसमें डटे रहना—यह एक परस्पर-विरोधी-सी विचारधारा जान पड़ती है, तो भी इसमें कोई परस्पर विरोध नहीं, यह असली, यथार्थ-विचारधारा है, यही वैदिक-संस्कृति की विचारधारा है, इसी का श्रीकृष्ण महाराजने गीतामें उपदेश दिया है। श्रीकृष्ण भी समझते थे कि लोग इस विचार-सरणीसे चकरायेंगे, इसलिये उन्होंने गीतामें कहा है कि यही विचार सही विचार है, यह रहस्यमय विचार है, यह उसीको समझ आता है जिसे गुरु अपना योग्य शिष्य समझकर इस विचारकी दीक्षा देता है। गीताको पढ़नेसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि श्रीकृष्ण महाराज

ने इस विचारधारा की अर्जुनको वैसे ही मन्त्र-दीक्षा दी थी जैसे आचार्य अपने अन्तेवासीको देता है । श्रीकृष्ण कहते हैं—

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान् मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत ।।
एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप ।।
स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं चेतदुत्तमम् ।।

जिस मन्त्रकी, रहस्यकी मैंने तुझे दीक्षा दी है, वह 'अव्यय' है—नष्ट नहीं हो सकता । इस मन्त्रकी सबसे पहले विवस्वान् ने मनु को दीक्षा दी थी, मनु ने इक्ष्वाकुको, और इस प्रकार गुरु-शिष्य-परम्परासे यह मन्त्र—यह रहस्य—आजतक चला आ रहा है । वैदिक-संस्कृतिके इस रहस्यको बीचमें लोग भूल गये थे, और इसीका यह परिणाम था कि जीवनके वास्तविक पथसे वे विचलित हो गये, भटक गये । कृष्ण महाराज अर्जुन को कहते हैं कि क्योंकि तू मेरा भक्त है, सखा है, इसलिये मैं तुझे उस रहस्य में दीक्षित करता हूं । गीताके इस स्थलसे यह स्पष्ट है कि श्रीकृष्णने अर्जुनको किसी बीज-मंत्रकी, किसी रहस्यकी, दीक्षा दी है, वह रहस्य वैदिक-संस्कृतिका रहस्य है, वह विवस्वान्से चला आ रहा है, परम्परासे उसी विचारधारा में गुरु अपने शिष्यको दीक्षित करते रहे हैं, अगर वह बीचमें लुप्त हो गया तो कोई पर्वा नहीं, उसकी श्रीकृष्ण फिरसे अर्जुन को दीक्षा दे रहे हैं ।

श्रीकृष्ण महाराजने जिस रहस्यकी अर्जुनको दीक्षा दी उसीका उल्लेख करते हुए उन्होंने कहा—'इमं विवस्वते योगम्'

—इस योगको विवस्वान्‌के प्रति पहले प्रकट किया गया था। फिर लिखा है—'स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः' —वही योग आज मैंने तुझे बताया है। अर्थात्, श्रीकृष्ण महाराजने वैदिक-संस्कृतिके जिस रहस्यका अर्जुनके सम्मुख उद्‌घाटन किया उसका नाम 'योग-मार्ग' था। कृष्ण महाराज ने यह स्पष्ट कर दिया है कि 'योग-मार्ग' के रहस्यका उद्‌घाटन उन्होंने अवश्य किया, परन्तु यह कोई बिलकुल नयी ही बात नहीं थी। यह तो वही वैदिक-संस्कृतिका पुराना सन्देश था जो मानव-समाजको कभी विवस्वान्‌के द्वारा, कभी इक्ष्वाकुके द्वारा, कभी मनुके द्वारा, और कभी वैदिक-लोगोंके अन्य अनेक अग्रगण्य नेताओंके द्वारा समय-समयपर मिलता रहा। मानव-समाजके प्रति दिये गये इसी रहस्यमय 'योग-मार्ग' की गीता में स्थान-स्थानपर व्याख्या है।

योग-मार्ग तथा सांख्य-मार्ग—

'योग-मार्ग' क्या है—इसे समझनेके लिये गीतामें 'योग-मार्ग' तथा उसके विरोधी 'सांख्य-मार्ग' इन दोनों का वर्णन किया गया है। किसी बातको समझनेके लिये उसके विरोधी-को समझ लेना उस बातके यथार्थ-बोधमें सहायक होता है। सर्दको समझनेके लिये गर्मको समझना, लम्बेपन को समझने के लिये छोटेपनको समझना, ऊंचाई को समझनेके लिये नीचाई को समझना आवश्यक है। उस समय 'योग-मार्ग' का विरोधी मार्ग 'सांख्य-मार्ग' कहाता था। 'योग-मार्ग' का दूसरा नाम 'कर्म-योग' और 'सांख्य-मार्ग' का दूसरा नाम 'कर्म-संन्यास' था। गीतामें इन दोनों मार्गोंका उल्लेख करते हुए लिखा है—

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥

हे अर्जुन! संसारमें दो ही मार्ग हैं—'ज्ञान-मार्ग' तथा 'कर्म-मार्ग'। 'ज्ञान-मार्ग'को 'सांख्य-मार्ग' कहते हैं, 'कर्म-मार्ग' को 'योग-मार्ग' कहते हैं। यह नहीं कि श्रीकृष्ण महाराजके समय ही जीवन-यापन के दो मार्ग थे। तब तो थे ही, परन्तु तब या अब, इन्हीं दो मार्गोंसे, इन्हीं दो दृष्टिकोणोंसे मानव-समाज का निर्वाह होता है। उपनिषद्में भी तो नचिकेताकी कथाका उल्लेख करते हुए इन्हीं दो मार्गों का निर्देश किया गया है। गीताका कथन है कि इन दोनों मार्गोंमेंसे 'योग-मार्ग' ही उपादेय है, 'सांख्य-मार्ग' नहीं। 'सांख्य-मार्गी' कर्म-संन्यासका उपदेश देते हैं। उनका कहना है कि संसार निस्सार है, इसे सार समझकर कर्म करना दुःखका कारण है, इसलिए इसे निस्सार समझकर कर्मका परित्याग कर देना चाहिये, कुछ करना ही नहीं चाहिये, जब कुछ करेंगे नहीं तब दुःख कहांसे होगा? अर्जुनको भी तो लड़नेके लिये कहा जा रहा था, लड़ो और साम्राज्यको जीतकर राजा बनो। अर्जुनने कहा, यह संसार निस्सार है, जो आज हमारा भाई है वह कल हमारा शत्रु बनकर खड़ा हो जाता है, मैं इस संसारको पाकर क्या करूंगा, इसे पानेके स्थानमें इसे छोड़ने में ही मनुष्यका भला है। अर्जुन 'सांख्य-मार्ग' पर चल पड़ा था। अर्जुनको 'सांख्य-मार्ग' पर, 'कर्म-संन्यास' की राहपर कदम बढ़ाते देखकर श्रीकृष्णने कहा, यह ग़लत रास्ता है, संसारकी तरफ़ पीठ फेर देनेसे, कुछ भी कर्म न करनेसे दुनियाँका कोई व्यवहार नहीं चल सकता—

नहि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ।।

कर्म छोड़कर कौन रह सकता है ? कर्म करना तो हमारी प्रकृतिमें निहित है। हम चाहें, न चाहें, संसारमें हम आ पड़े हैं, इससे इन्कार किया नहीं जा सकता, कर्म किए बग़ैर रहा नहीं जा सकता। जगत् सत्य हो, असत्य हो, यथार्थ हो, मिथ्या हो—जब हम चारों तरफ़ संसारसे घिरे हैं तब कैसे हो सकता है कि इसे बिलकुल मिथ्या समझकर हम काम छोड़कर बैठ जायं ? परन्तु अगर काम करेंगे तो दुःख लगा रहेगा, इस दुःखसे छुटकारा कैसे होगा ? यह समस्या अर्जुन की ही नहीं, प्रत्येक व्यक्ति की है, प्रत्येक ऐसे व्यक्ति की जो जीवनके प्रश्नपर विचार करता है।

कर्म नहीं, कर्मके फलकी आशा छोड़ना निष्काम-कर्म है—

श्रीकृष्ण महाराजने इस समस्याका गीतामें जो उत्तर दिया है वह वैदिक-संस्कृतिका मानो बीज-मंत्र है। गीता पूछती है, कर्म क्यों न करें, संसारसे नाता क्यों तोड़ दें ? इसलिये न, क्योंकि मनुष्य संसारमें लिप्त हो जाता है, कर्म मनुष्यको बांध लेता है। गीता का कहना है कि अगर यही बात है तब ऐसा उपाय क्यों न निकालें जिससे 'कर्म' तो हो जाय, क्योंकि कर्मके बग़ैर हम रह ही नहीं सकते, परन्तु कर्मसे उत्पन्न होने-वाला 'बन्धन' पैदा न हो, संसार भी बना रहे और संसार से होनेवाला लेप भी न हो, सांप भी मर जाय और लाठी भी न टूटे। गीताने वैदिक-संस्कृतिके जिस रहस्यमय सन्देश का वर्णन किया है, वह इस संस्कृतिका बीज-मंत्र है। वह बीज-

मंत्र यही है कि कर्म करते जाओ, परन्तु उसके बन्धनको मत पड़ने दो, संसारमें रहो, इसलिये रहो क्योंकि तुम इसे छोड़ना चाहो तब भी छोड़ नहीं सकते, परन्तु इसमें रहते हुए इसके भोक्ता बनकर रहो, इसके भोग्य बनकर मत रहो, जीवनके चरखेपर शरीर-रूपी पूनी लेकर कर्मका सूत कातते जाओ, परन्तु उसमें गांठ मत पड़ने दो—यह विचारधारा है जिसका उपदेश श्रीकृष्णने अर्जुनको दिया है, इसीको गीताने निष्काम-कर्म या दूसरे शब्दोंमें 'कर्म-योग' कहा है।

परन्तु क्या यह संभव है कि हम संसारमें रहें और उसमें लिप्त न हों, कर्म करें और कर्मका बन्धन न पड़ने दें? वैदिक-संस्कृतिके अध्यात्मवादका कहना है कि यह संभव ही नहीं है, यही जीवनका सही रास्ता है। कर्म करते हुए उसके बंधन को न पड़ने देना, संसार में रहते हुए संसारसे मुक्त रहना—इस मार्गका उल्लेख करते हुए गीताका कथन है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूः मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि॥
योगस्थः कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥
विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शांतिमधिगच्छति॥

कर्म करो, फलकी इच्छा मत करो। कर्मके फलकी कौन आशा नहीं करता? हरेक करता है। वह आशा करना 'संग' कहाता है, 'सकामभाव' कहाता है, उस आशा का त्याग देना 'निस्संग-कर्म' है, 'निष्काम भाव' है। हे अर्जुन! तू कर्म कर, परन्तु निस्संग होकर, निष्काम होकर, निर्लिप्त होकर—बस,

यही 'योग-मार्ग' है। निसंग-कर्म करनेका परिणाम यह होगा कि कर्ममें सिद्धि हो, असिद्धि हो, सफलता हो, असफलता हो, मनुष्यमें समता रहेगी, और समता रहेगी तो शांति रहेगी, दुःख नहीं होगा।

'कर्म-संन्यास' या 'सांख्य-मार्ग' तो सीधा-सादा उत्तर देता है—संसार असार है, इसमें कर्म क्या करना, इसलिए कर्मका झगड़ा छोड़ो, कर्म छूट जायगा, तो कर्म-जन्य दुःख अपने-आप छूटेगा। इसके विपरीत, 'कर्म-मार्ग' या 'योग-मार्ग' यह कहता है कि संसार असार तो है, परन्तु इसकी सत्तासे भी तो इन्कार नहीं किया जा सकता, संसार है, तो कर्म छोड़े भी छूट नहीं सकता। कर्म नहीं छूट सकता, परन्तु हां, कर्मके साथ लगा हुआ कर्मफलका जो मोह है, संग है, ममता है, कामना है, अहंकार है, मैंने किया अतः मुझे ऐसा फल मिले, वैसा फल मिले, यह भावना है—इसका त्याग किया जा सकता है। 'सांख्य-मार्ग' तथा 'योग-मार्ग'—दोनोंका उद्देश्य एक है, दोनों कर्मके बन्धनमें नहीं पड़ना चाहते—'सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पंडिताः'—परन्तु 'सांख्य-मार्ग' कर्मके बन्धनको छोड़नेके लिए कर्मको छोड़ बैठता है और 'योग-मार्ग'—वह मार्ग जिसका प्रारम्भ विवस्वान्के समय से हुआ था, जो इक्ष्वाकु और मनुका मार्ग था, जो समय-समयपर लुप्त होता रहा परन्तु वैदिक-संस्कृतिकी विचारधाराके वेगके कारण लुप्त होता-होता बार-बार प्रकट होता रहा, जिसका श्रीकृष्णने गीता में उपदेश दिया—वह मार्ग जीवनके प्रति क्रियात्मक (Pragmatic) दृष्टिकोणको लेकर कहता है कि कर्म मत छोड़ो, कर्म-फलकी आशासे दुःख होता है अतः उस आशाको

त्याग दो। जीवनमें कार्य करनेकी इस दृष्टिको, इस विचार-धाराको निष्काम-कर्म, निस्संग-कर्म, निर्मम-भाव, निर्मोह-भाव, निरहंकार-भाव कहा गया है। यह हो सकता है कि जिस व्यक्तिको कर्ममेंसे संग काट देनेके लिए कहा जाय वह संगको छोड़नेके वजाय कर्मको ही छोड़ बैठे, परंतु जब हमने यह भली प्रकार जान लिया कि कर्म तो हमसे छुट ही नहीं सकता—और यही बात श्रीकृष्णने अर्जुनको बार-बार समझानेका यत्न किया है—तब तो हमारे पास सिर्फ़ एक मार्ग रह जाता है, और वह है संगको, फलाशाको, मोहको, कर्म-फलके साथ आसक्तिको छोड़ देना। श्रीकृष्ण महाराज इस बातको भली भाँति समझते थे कि यदि संगको, आसक्तिको छोड़नेके लिये कहा जायगा तो मनुष्य कर्मसे ही उदासीन हो जायगा, उत्साहसे कार्य न करेगा, इसीलिये उन्होंने कहा—

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥

जैसे मूर्ख लोग कर्म-फलकी आशासे, अत्यन्त उत्साहसे किसी काम को करते हैं, वैसे विद्वान् लोग बिना कर्म-फलकी आशासे, उससे भी दुगुने उत्साहसे काममें जुटे रहते हैं। 'निस्संग-भाव' का यह परिणाम नहीं होना चाहिये कि कर्म करनेमें शिथिलता आ जाय—तब तो 'योग-मार्ग' 'सांख्य-मार्ग' ही हो जायगा। काम तो मनुष्य दुगुने उत्साहसे करे, परन्तु काम करता हुआ ऐसे ही रहे मानो कुछ किया ही नहीं, किया और करके अलग हो गये, उससे चिपटकर न बैठ रहे— यही 'निष्काम-कर्म' है।

निष्काम-कर्म असंभव नहीं, संभव है—

कर्म करते हुए उसके फलकी आशा न करना कहनेमें सरल परन्तु करनेमें कठिन है। प्रत्येक व्यक्ति फलकी आशासे काम करता है। क्या कोई ऐसा उपाय है जिससे हम अपने भीतर फलकी आशा न करनेकी भावनाको, अनासक्तिको जन्म दे सकें? इसीका उत्तर देते हुए कृष्ण महाराजने कहा कि जो लोग जीवन को यज्ञमय बना लेते हैं वे अपने-आप 'निष्काम-कर्म' करने लगते हैं। गीता में लिखा है—

> यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
> तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचर॥
> यज्ञशिष्टाशिनः सन्तः मुच्यन्ते सर्वकिल्विषैः।
> भुंजते ते त्वघं पापाः ये पचन्त्यात्मकारणात्॥

जीवनको यज्ञ समझकर चलो। यज्ञका अभिप्राय है—'त्याग'। स्वार्थकी भावनाको छोड़ देना ही यज्ञ है। यज्ञ करते हुए मनुष्य अपनेको परमात्माकी महान् शक्तिके सहारे छोड़ देता है। मैं कुछ नहीं, तू ही सब-कुछ है, मेरा कुछ नहीं सब तेरा-ही-तेरा है—'इदन्न मम'—यही भावना यज्ञ की आधार-भूत भावना है, यही भावना यज्ञमें जगमगा उठती है। जो भावना यज्ञमें होती है वही भावना अगर जीवनके प्रत्येक कार्यमें अनुप्राणित हो जाय, तब तो प्रत्येक कार्य यज्ञ हो गया, जीवन ही यज्ञमय हो गया। यज्ञमय निःस्वार्थ जीवन बिताने-वालेको गीतामें 'आत्मरत'-'आत्मतृप्त'-'आत्मसंतुष्ट' कहा गया है—वह अपनेमें रमा हुआ है, आत्ममें भरा हुआ है, अपने आत्मामें सन्तुष्ट है। स्वार्थमय जीवन बितानेवालेको 'इंद्रिया-

राम' कहा गया है, वह इन्द्रियोंके साथ खेलता है, आत्मासे दूर भागता है। स्वार्थ की भावनाको छोड़कर निस्संग, निष्काम, निर्मोह कार्य करना वैदिक संस्कृतिका रहस्यमय उपदेश है, उसका बीज-मंत्र है, और जीवनकी गूढ़तम समस्यापर यही उसकी दार्शनिक विचारधारा है।

जीवनको यज्ञ समझना, अनासक्तिसे संसारमें रहना कोई अनहोनी बात नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवनके किसी-न-किसी पहलूमें निष्काम, निस्संग, निर्मोह, निःस्वार्थकी अवस्थाको अनुभव करता है। डाक्टर मरीज़ोंको दवाई देता है, कोई बच जाता है, कोई मर जाता है। जो मरीज़ मर जाते हैं उनके लिये डाक्टरको किसीने रोते नहीं देखा। डाक्टरोंके हाथों सैकड़ों रोज़ मरते हैं, परन्तु सभी डाक्टर हंसते-खेलते देखे जाते हैं। उसी डाक्टरके घर यदि उसका बालक मर जाय तो वह अपने-को संभाल नहीं सकता, बिलख-बिलखकर रोने लगता है। जो बुद्धि वह दूसरेके लिये धारण कर सकता है वह अपने घरके लिये क्यों नहीं धारण कर सकता? उसमें निष्काम-भावका, अनासक्तिका बीज है, तभी तो वह अपने हाथसे बीमारोंको मरते देखकर भी यह कहकर कि मुझसे जो-कुछ हो सकता था मैंने किया, बिना रोये-धोये अपने काम में जुट जाता है। इसी निष्काम-भावनाको जीवनमें व्यापक बनानेसे जीवन यज्ञमय हो जाता है। एक देवीका पति मर गया, दूसरी देवियां आकर उसे समझाती हैं, सब आकर कह जाती हैं, जीवनमें हरेकको किसी-न-किसी दिन यह दिन देखना है, इसलिये चित्तको संभालो, अपनेको विचलित मत होने दो, परन्तु उनके लिये जब वही दिन आता है, तब वे भी अपनेको संभाल नहीं पातीं,

विचलित हो उठती हैं। वे दूसरेसे निस्संगता, निष्कामता, अनासक्तिकी आशा करती हैं, तो उनसे भी तो वही आशा की जा सकती है। एक व्यापारी का माल लुट गया, हम उसे जाकर समझाते हैं, लेकिन अपने मालके लुट जाने पर हमारी भी तो वही दशा हो जाती है। यह सब क्यों होता है ? यह इसलिए कि जब हम दुःखी नहीं होते तब तो हमने निष्कामता, निस्संग-भाव धारण किया होता है, जब दुःखी होते हैं तब सकामता, संग-भाव धारण किया होता है। दुनियाँमें रहते हुए दुनियाँसे अलग रहना, कर्म करते हुए भी मानो कर्म न करना, जालमें फंसते हुए भी जालको काटते जाना, पानी में गोता लगाकर भी—'पद्मपत्रमिवाम्भसा'—पानीमें न भीगना —यह कृष्ण महाराजका बताया हुआ जीवनका गुर है, वैदिक संस्कृतिका मूल-मंत्र है। इस प्रकार की भावनाका उदय जीवन-में यज्ञ-वृत्ति धारण करनेसे होता है, स्वार्थ-वृत्तिसे नहीं; परार्थ-भावसे होता है, भोग-भावसे नहीं, त्याग-बुद्धिसे होता है, भोग-बुद्धि से नहीं। यज्ञमें बार-बार जो 'स्वाहा'-शब्दका उच्चारण किया जाता है उसका भी यही अभिप्राय है। स्वाहा शब्द 'ओ-हाक् त्यागे' धातु के निष्पन्न हुआ है। 'स्वाहा', अर्थात् 'त्याग'—'इदन्न मम'—यह मेरा नहीं, भगवान्का है ! जो अपने सब-कुछ कियेको यज्ञकी भावनासे 'स्वाहा' का उच्चारण कर भगवान्के चरणोंमें भेंट कर देता है, वह बेलाग हो जाता है, बेदाग़ हो जाता है, और उसके कर्ममेंसे मनुष्यको दुःख पहुंचाने-वाला संगका कांटा निकल जाता है। भगवान्के चरणोंमें सब कर्मोंको भेंट चढ़ानेका उपदेश देते हुए गीतामें लिखा है—

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥
मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युद्ध्यस्व विगतज्वरः॥

हे अर्जुन ! असक्त होकर, और यह सोचकर कि कर्म तुझे करना है, फल भगवान्के अर्पित करना है, जीवन-क्षेत्रमें कदम बढ़ाये जा। याद रख, सकाम-भावना एक ज्वर है, बुखार है। विगतज्वर होकर काम कर। सकाम-भावना एक ज्वर है तभी तो अनुकूल फल न मिलनेपर मनुष्य विक्षिप्त हो जाता है, अधीर हो जाता है। इस ज्वरसे मुक्त होनेका उपाय एक ही है, और वह है 'निष्काम-भावना' से कर्म करना, निष्कर्मण्यता के स्थानमें जीवनमें निष्कामताको उत्पन्न करना।

फलकी आशा क्यों न करें ?—

इस प्रकरणमें यह प्रश्न खड़ा होना स्वाभाविक है कि जब हम कर्म करते हैं तब फलकी आशा क्यों न करें ? क्या सिर्फ़ इसलिये कि अनुकूल फल नहीं होगा, तो हमें दुःख होगा ? सिर्फ़ उस दुःखसे बचनेके लिए ? यह तो कायरता है। फलकी आशा न करनेका सिर्फ़ व्यावहारिक नहीं, कोई दार्शनिक आधार भी होना चाहिये। वह दार्शनिक आधार क्या है ? फलकी आशा न करने का यह अभिप्राय नहीं है कि हमारे कर्मका फल ही नहीं मिलेगा। इसका आशय सिर्फ़ इतना है कि जो भी फल मिलेगा, यह ज़रूरी नहीं कि वह हमारी इच्छाके अनुकूल ही हो। फल हमारे अनुकूल भी हो सकता है, प्रतिकूल भी। फलकी अनुकूलता-प्रतिकूलतापर ही मनुष्य सुखी-दुःखी

होता है। परन्तु सोचनेकी बात तो यह है कि कर्म करना तो अपने हाथमें है, फल तो अपने हाथमें नहीं है। फल का अनुकूल या प्रतिकूल होना, एक नहीं, अनेक कारणों के योग-ऋण का परिणाम है। फिर, जो चीज़ अपने हाथमें नहीं है, उसके लिये हम क्यों सुखी हों, क्यों दु:खी हों, और क्यों उसके साथ हम अपना ऐसा नाता जोड़ें जिससे ऐसा प्रतीत होने लगे कि वह अपने हाथकी चीज़ है। किसी कर्मके फल उत्पन्न होनेमें एक कारण नहीं, सैकड़ों कारण हो सकते हैं। संसार कितना विशाल है, उसमें कितने कारण मिलकर किसी कार्यको उत्पन्न करनेमें सहायक होते होंगे। कुछ कारणोंका हमें ज्ञान है, कुछका नहीं। इस विशाल विश्वमें हमीं तो नहीं, लाखों-करोड़ों प्राणी हैं। सभीको सम्मुख रखकर ही तो विश्वकी विशाल-दृष्टिसे काम हो रहा होगा, हमारी दृष्टिसे ही तो विश्वका चक्र नहीं चल रहा। विश्वका संचालन करनेवाली दृष्टि समन्वयात्मक दृष्टि है, उसमें छोटे-से-छोटेसे लेकर बड़े-से-बड़े तक सभी प्राणी समा जाते हैं। हो सकता है, किसी औरके दृष्किोणसे हमारी इच्छा, और हमारे दृष्टिकोणसे किसी औरकी इच्छा कट जाती हो, परन्तु यह जोड़-तोड़ हमारे बसकी चीज़ तो नहीं, यह तो उसीके बसकी है जिसके बहीखातेमें हम सबका हिसाब दर्ज है। ऐसी अवस्था में संभव मार्ग सिर्फ़ यह रह जाता है कि हम अपना कार्य करते चलें, और 'इदन्न मम' कहकर 'फल' को विश्वात्माके चरणोंमें रख दें, हम अपनी संकुचित दृष्टिसे न देखकर विश्वात्माकी विशाल दृष्टिसे देखें। इसी भाव को प्रकट करनेके लिये श्रीकृष्णने गीतामें अर्जुनको विराट्-स्वरूपका दर्शन कराया है।

विराट्-स्वरूप के दर्शन—

विराट्-स्वरूपके दर्शन करानेका यह अभिप्राय नहीं है कि कृष्ण महाराजने मुँह खोला और उनकी दाढ़ोंमें कहीं रथ फंस रहे थे, कहीं भीष्म-द्रोण अटक रहे थे। विश्वके संचालनमें जिस विशाल-दृष्टिसे काम हो रहा है, जिस प्रकार करोड़ों प्रणियोंके कर्मोंका समन्वय हो रहा है, उसीकी तरफ़ संकेत करके अर्जुनको कहा गया—

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथसहस्रशः।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥

संसारके संचालनमें जिन सैकड़ों, हज़ारों दृष्टिकोणोंका, नाना तथा विविध कारणोंका समन्वय करना पड़ता है, उसे जाननेके बाद कोई व्यक्ति अपनेको केन्द्र मानकर बात न करेगा, इसलिये श्रीकृष्ण महाराजने अर्जुनकी आंखें खोलीं, और उसे 'विराट्-स्वरूप' का दर्शन कराया। अर्जुनको मानो दीखने लगा कि कर्म-चक्रमें पड़कर भीष्म, द्रोण, सूतपुत्र, राजे-महाराजे विश्वके नियामककी मानो दंष्ट्रामें पिसते चले जा रहे हैं। अर्जुनकी जो संकुचित दृष्टि थी, जिससे वह किसीको भाई, किसीको भतीजा, किसीको चाचा और किसीको ताऊ समझे बैठा था, और जो-कुछ होने जा रहा था उसे देखकर आँसू बहा रहा था, वह विशाल दृष्टिमें परिणत हो गयी, और उसे मानो दीखने लगा कि कर्मोंके चक्रको चलाने-फिरानेवाला, विश्वका सूत्रात्मा इस चक्रको किधर चलाने जा रहा है। इसी भावको गीतामें यूं कहा है—

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत् प्रवृद्धो
लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः ।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे
येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योद्धाः ॥

उस समय जो पापका प्रचण्ड वेग उठ खड़ा हुआ था उसका विश्वके संचालनको नाश तो करना ही था । अर्जुन कितना ही रोता, इस पापका, अव्यवस्थाका अन्त-समय आ गया था । श्रीकृष्णने अर्जुनका ज्ञान-नेत्र खोलकर उसे कार्य-कारणके अखंड, निर्दय, निर्मम नियमका संचालन दिखाकर मनुष्यकी संकुचित दृष्टि के स्थानपर विश्वकी विशाल दृष्टि-का दर्शन करा दिया । अर्जुनको समझ पड़ गया कि वह तो इस सम्पूर्ण काण्डमें निमित्त-मात्र होगा, उसके बिना भी सब-कुछ होकर रहेगा । विश्व-नियामक शक्तिके इस 'विराट्-रूप'के दर्शन करते ही अर्जुनके सन्देह दूर हो गये और 'निष्काम-कर्म' का संदेश उसके भीतर इतना घर कर गया कि वह भीरुता और क्लीवता छोड़कर, संसारकी असारता देखकर उससे भागनेके स्थानपर वीर-पुरुषकी तरह युद्धके लिए डटकर खड़ा हो गया । अब उसे ऐसा अनुभव होने लगा मानो कर्ममें तन-मनसे लगे होनेपर भी वह कुछ नहीं कर रहा । गीतामें इस मनोभाव को प्रकट करते हुए लिखा है—

यस्य सर्वे समारंभाः कामसंकल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पंडितं बुधाः ॥
त्यक्त्वा कर्मफलासंगं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः ॥

जो कर्म करता है, परन्तु कामनासे नहीं करता, जो ज्ञान-की अग्निसे 'कर्म' के अन्तर्निहित 'कामना'को दग्ध कर देता है, जला देता है, जो कर्मके फलकी भावनाको, संगको, मोहको, आसक्तिको छोड़ देता है, उसका आत्मा सदा तृप्त रहता है, उसे किसी दूसरेका आश्रय, सहारा ढूंढ़नेकी आवश्यकता नहीं रहती। वह कर्म करता है, परन्तु दिन-रात सब-कुछ करते हुए भी—'कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि'—मानो कुछ नहीं करता—'नैव किं-चित् करोति सः'।

सदियां बीत गयीं जब अर्जुनको श्रीकृष्णने वैदिक-संस्कृति-का यह संदेश सुनाया था। अर्जुनके जीवन-रूपी रथका संचालन श्रीकृष्ण महाराजने सारथि बनकर किया था। सारथिका काम रथका चलानामात्र नहीं, परन्तु ठीक रास्तेसे रथका चलाना है। सारथि रास्ता दिखानेवाला होता है, पथ-प्रदर्शक होता है। आज हम भी अपनेको अर्जुनकी स्थितिमें रख सकते हैं। जीवनमें समय-समयपर सबके सम्मुख द्विविधाकी-सी स्थिति उत्पन्न हो जाती है। अर्जुनके सम्मुख जब युद्धका सम्पूर्ण दृश्य आया, तो वह विचलित हो उठा। इस युद्धका फल क्या होगा? हार होगी, जीत होगी? इस संग्राममें पड़ूं, न पड़ूं? अपने प्रति-दिनके मिलने-वालोंसे लड़ूं, न लड़ूं? क्या हमारे जीवनमें भी ऐसी स्थिति प्रायः नहीं उपस्थित हो जाती? हम उन लोगोंका साथ देते हैं जिनका साथ हमें नहीं देना चाहिये, इसलिये कि वे हमारे मित्र हैं, मिलने-जुलनेवाले हैं। हम उनसे लड़ाई मोल लेना नहीं चाहते, इसलिये नहीं चाहते कि हमें सन्देह होता है कि हम जीतेंगे, या हारेंगे! गीतामें दिया गया श्रीकृष्णका सन्देश कहता है—"ऐ आज के नौजवान अर्जुन? भगवान्‌के

विराट् स्वरूपका दर्शन कर, अपनी संकुचित दृष्टिसे मत देख। पाप ज्यों-ज्यों बढ़ता है, त्यों-त्यों उसके विनाशका समय निकट आता जाता है। यह तो नष्ट होकर रहेगा, फिर तू ही इसके विनाशमें पहल क्यों नहीं करता ? क्या तुझे यह द्विविधा है, यह घबराहट है कि तुझे सफलता मिलेगी, या न मिलेगी ? देख, तेरा यह सोचना बेकार है, तू 'निष्काम-भाव' से अपना कर्त्तव्य पालन किये जा, और फलको भेंटके रूपमें भगवान्के चरणोंमें चढ़ा दे।" अर्जुन चले गये, श्रीकृष्ण चले गये, परन्तु श्रीकृष्णने जिस जादूसे अर्जुनकी दुविधा, उसकी क्लीवता, उसकी कायरताको दूर किया था वह आज भी गीताके उपदेशके रूपमें मौजूद है, और जिस समय भी किसी नवयुवकमें दुविधा या कायरताके विचारका उदय हो, उसी समय उसे दूर करने-वाले 'निष्काम-कर्म' के उदात्त विचारकी गूंज गीताके पन्ने-पन्नेसे उठती हुई सुनाई पड़ सकती है। गीताके पन्ने-पन्नेसे गूंजनेवाला वैदिक-संस्कृतिका यह सन्देश जबतक सूर्य और चन्द्र रहेंगे तबतक अमर रहेगा। यह सन्देश वैदिक-संस्कृतिके मूल-तत्वोंमेंसे एक सबसे महान् तत्व है।

नोट—गीता के गहन रहस्यों का विशद अभिप्राय समझने के लिये पाठक हमारे 'गीता-भाष्य' का अवलोकन करें जो विजयकृष्ण लखनपाल एण्ड कं०, विद्या विहार, ४ बलबीर रोड, देहरादून से १२ रु० में प्राप्त हो सकता है।

[४]

कर्मका सिद्धान्त

अपने देशके प्रचलित कथानकोंके अनुसार मानव-देह चौरासी लाख योनियोंके बाद मिलता है। एक अन्धेका दृष्टान्त दिया जाता है जो चौरासी लाख दरवाज़ोंवाली घुमरघेरीके भीतर उसकी दीवारके साथ-साथ बाहर निकलनेका रास्ता टटोल रहा है। इसमें केवल एक दरवाज़ा खुला है, बाकी सब रास्ते बन्द हैं, परन्तु जब वह अन्धा हाथसे टटोलता-टटोलता खुले दरवाज़ेके समीप पहुंचता है, तो उसे ज़ोरकी खुजली उठती है, और खुजली करता-करता वह उस दरवाज़ेसे घुमरघेरी के बाहर निकलने के स्थान में आगे निकल जाता है, और फिर चौरासी लाख दरवाज़ोंको खटखटानेके फेरमें पड़ जाता है। पशु-पक्षियोंकी भिन्न-भिन्न योनियां वे बन्द दरवाज़ें हैं जिनमें-से आत्म-तत्त्व बाहर निकलकर स्वतंत्र होनेका यत्न करता है, परन्तु इनमेंसे निकल नहीं सकता, मनुष्यकी योनि खुला दरवाज़ा है, इसपर पहुंचकर यह आत्मा अपने बन्धनोंको काटकर स्वतंत्र हो सकता है, परन्तु काम-क्रोध-लोभ-मोहकी खुजली उसका ध्यान दूसरी तरफ़ खींच लेती है, और फिर जन्म-जन्मान्तरोंके इसी चक्रमें फिरता हुआ वह बाहर निकलनेका रास्ता टटोला करता है। जिन लोगोंने हमारे समाजके एक-एक झोंपड़ेतक ऐसे कथानकोंको पहुंचाया था उन्होंने चौरासी लाख योनियोंकी गिनती नहीं की थी, मनुष्य-देहके महत्त्वको समझानेके लिये ऐसे

कथानकोंको रचा था। वे लोग मानव-जीवनको एक खिलवाड़ नहीं समझते थे, एक समस्या समझते थे, उनका कथन था कि मनुष्य-योनि बड़ी दुर्लभ है, उसे पाकर उसे हाथसे यूंही निकल जाने देना मूर्खताकी पराकाष्ठा है।

कर्म तथा कार्य-कारणका नियम—

इस सारे लम्बे-चौड़े चक्रमें पड़ जानेका कारण क्या है? उनका कहना था कि इसका कारण है—'कर्म'। परन्तु यह 'कर्म' क्या वस्तु है? भौतिक-जगत्का आधार-भूत नियम कार्य-कारणका नियम है—इसे सब-कोई जानता है। कोई कार्य ऐसा नहीं हो सकता जिसका कारण न हो, न कोई कारण ही ऐसा हो सकता है जिसका कोई कार्य न हो। जिस कार्यका कारण नहीं वह कार्य नहीं, जिस कारण का कार्य नहीं वह कारण नहीं। यही कार्य-कारणका नियम जब भौतिक-जगत्के स्थानमें आध्यात्मिक-जगत्में काम कर रहा होता है तब इसे 'कर्मका सिद्धान्त' कहते हैं। कार्य-कारणके भौतिक-नियमका आध्यात्मिक-रूप ही 'कर्म' है।

कार्य-कारणका नियम भौतिक-जगत्का एक अटल नियम है। कारण उपस्थित होगा, तो कार्य होकर रहेगा। एक सुन्दर दो मासका बच्चा पाला पड़ते हुए नंगा बाहर पड़ा रह गया। उसे सर्दी लग ही जायगी, सर्दी इस बातकी पर्वा नहीं करेगी कि बच्चा छोटा-सा है; दो मासका ही है, सुंदर है, माता-पिता-की भूलसे बाहर रह गया है, उसका अपना कोई दोष नहीं है। कुछ नहीं—किसी बातकी रियायत नहीं, कारण उपस्थित हुआ है, कार्य होगा—अवश्य होगा, किसी तरह की ननु-नचकी

सुनवाई नहीं होगी। पत्थरसे टक्कर होगी तो चोट लगेगी, आगमें हाथ पड़ेगा तो झुलस जायगा, पानीमें कपड़ा गिरेगा तो गीला अवश्य होगा—यह निर्दय, निर्मम कार्य-कारणका नियम विश्वका संचालन कर रहा है। इस नियमसे ही सूर्य उदय होता है, चन्द्र अपनी रश्मियोंका विस्तार करता है, पृथिवी अपनी परिधिपर घूमती है, समुद्रमें ज्वार-भाटा आता है। 'अवश्यंभाविता' कार्य-कारणके नियमकी आत्मा है—कारणका कार्य अवश्यंभावी है, उसे टाला नहीं जा सकता।

'अवश्यंभाविता'के साथ-साथ कार्य-कारणका नियम एक 'चक्र'में चलता चला जाता है। कारण कार्यको उत्पन्न करता है, वह कार्य फिर कारण बन जाता है, अपनेसे अगले कार्यको उत्पन्न कर देता है—और इस प्रकार प्रत्येक कारण अपनेसे पिछलेका कार्य और अगलेका कारण बनता चला जाता है, और यह प्रवाह सृष्टिका अनन्त-प्रवाह बन जाता है। बीज वृक्षको उत्पन्न करता है, वही वृक्ष फिर बीजको उत्पन्न कर देता है, वह बीज अगले वृक्षको जन्म देता है, और यह परम्परा अनन्तकी ओर मुंह उठाये आगे-ही-आगे बढ़ती चली जाती है।

कर्ममें 'अवश्यंभाविता' तथा 'चक्रपना'—

क्योंकि 'कर्म'का सिद्धान्त 'कार्य-कारण'का ही सिद्धान्त है, इसलिये कर्ममें भी कार्य-कारणकी दोनों बातें—'अवश्यंभाविता' तथा 'चक्रपना' पायी जाती हैं। प्रत्येक कर्मका फल अवश्य भोगना पड़ता है—यह 'अवश्यंभाविता' है, प्रत्येक कर्मका फल, फल न रहकर, स्वयं एक कर्म बन जाता है, ऐसा कर्म जिसका फिर आगे फल मिलता है—यह 'चक्र' है। कर्मका 'चक्र' कैसे

चलता है ? हमें किसीने मारा। उसका हमें यह मारना या 'फल' है, 'कर्म' है, 'कार्य' (Effect) है या 'कारण' (Cause) है। अर्थात्, या तो वह किसी पिछले कर्मका हमें 'फल' मिला है, या जिसने हमें मारा उसने एक नया 'कारण' उत्पन्न किया जिसका उसे आगे फल मिलना है। अगर हमें फल मिला है तो यह किसी 'कारण'का 'कार्य' है, और अगर हम थप्पड़ खाकर चुप रह जायं, गुस्सा तक न करें, तो यह 'फल' (कार्य) शान्त हो जाय, और अगली कार्य-कारण-परंपराको खड़ा न करे। परन्तु ऐसा नहीं होता। हमें किसीने मारा, इसलिये हम उसका बदला अवश्य लेंगे, सीधे थप्पड़का जवाब थप्पड़से न दे सकेंगे, तो दूसरे किसी उपायकी सोचेंगे, और कुछ नहीं, तो बैठे-बैठे मनमें ही संकल्प-विकल्पोंका ताना-बाना बुनेंगे। नतीजा यह होगा कि अगर यह 'फल' था, हमारे ही कर्मोंका परिणाम था, किसी पिछले कारणका 'कार्य' था, तो भी यह सिर्फ 'कार्य' या 'फल' न रहकर फिर 'कारण' बन जाता है, और अगले चक्रको चला देता है। और, अगर यह हमारे किसी पिछले कर्मका फल नहीं था, एक नया कारण था, जिसने हमें थप्पड़ मारा उसने एक नया सिलसिला शुरू किया था, तब तो कार्य-कारणके नियम के अनुसार उसे इसका फल मिलना ही है—इससे भी चक्रका चल पड़ना स्वाभाविक ही है। हर हालतमें, प्रत्येक 'कर्म'—चाहे वह कारण हो, चाहे कार्य—एक चक्रको चला देता है, और प्रत्येक कर्म पिछले कर्मका कार्य और अगलेका कारण बनता चला जाता है। इस प्रकार यह 'आत्म-तत्त्व' कर्मोंके एक ऐसे जाल में बंध जाता है जिसमेंसे निकलनेका कोई उपाय नहीं सूझता। इसमेंसे निकलनेका हर झटका एक

दूसरी गांठ बांध देता है, और जितनी गांठें खुलती जाती हैं उतनी ही नयी गांठें पड़ती जाती हैं।

'कर्मोंके चक्र' को ही 'भाग्य' कहते हैं—

'कार्य-कारण'के अटल नियममें से बच निकलनेका कोई रास्ता नहीं, तो क्या 'कर्म' के बन्धनोंसे बच निकलनेका भी कोई रास्ता नहीं ? तब तो जो कुछ हो रहा है—ठीक हो या ग़लत—ऐसा होना ही है, कुछ टल नहीं सकता, जो-कुछ हो रहा है वह कर्मोंका फल होगा, हम इसमें क्या कर सकते हैं ? अगर बुरा हो रहा है तब भी हमारे बसका नहीं। कार्य-कारणके अटल नियमकी तरह कर्मका अटल नियम काम करेगा, हम चाहेंगे तब भी करेगा, न चाहेंगे, उल्टा चाहेंगे, तब भी करेगा। इसीको आम बोलचालकी भाषामें 'कर्मोंका लेखा', 'प्रारब्ध', 'भाग्य', 'दैव' आदि शब्दोंसे पुकारा जाता है। अगर कार्य-कारणका नियम ही आध्यात्मिक-जगत्में कर्मका सिद्धान्त है, तो जैसे कार्य-कारणके नियममें 'अवश्यंभाविता' और 'चक्रता' है, वैसे कर्म में भी अवश्यंभाविता और चक्रका होना आवश्यक है—यही 'प्रारब्ध' है, 'भाग्य' है, 'दैव' है। अच्छा-बुरा जो-कुछ हो रहा है वह कार्य-कारणका विस्तार है, पिछले कारण ऐसे थे जिनसे वर्तमान कार्य ही उत्पन्न हो सकते हैं, दूसरे नहीं। कर्मोंके सिद्धान्तको मानकर चलने का यह भयंकर परिणाम सामने आ खड़ा होता है। आत्म-तत्वकी स्वतन्त्रता—वह स्वतन्त्रता जिसके लिए हम क्षण-क्षण तरसते हैं, जिसके लिए जातियां और देश सदियोंतक जीवन-मरणका युद्ध किया करती हैं—वह स्वतन्त्रता एक मरु-मरीचिकाकी तरह कभी

हाथमें न आनेवाली वस्तु हो जाती है। 'पुरुषार्थ' के स्थानमें 'भाग्य' एक लम्बा-चौड़ा लेखा लेकर हमारे सामने आ खड़ा होता है।

कर्म तथा वर्तमान विज्ञान—

इस उलझनमेंसे निकलनेका क्या रास्ता है ? सबसे आसान रास्ता तो यह है कि कर्म के सिद्धान्त को ही न मानें। कर्मको कार्य-कारणका ही एक रूप माननेसे ही तो पूर्वजन्म और पुनर्जन्म मानना पड़ता है, इन्हें माननेसे कर्मोंकी उलझन उठ खड़ी होती है। यह न मानकर इतना ही मानें कि जो-कुछ हो रहा है इस जन्ममें ही हो रहा है। हम पैदा हुए—माता-पिताके रज-वीर्यके द्वारा उनके तथा 'वंश-परंपरा' (Heredity) के संस्कारों को लेकर जन्मे, उसके बाद जैसी 'परिस्थिति' (Environment) में रहे उसके अनुसार बने या बिगड़े, अन्तमें समाप्त हो गये। न पिछला सिलसिला, न अगला सिलसिला, यहींकी कहानी यहीं समाप्त हो गयी। वर्तमान विज्ञान यही मानता है। परन्तु क्या ऐसा हो सकता है ? क्या विज्ञान कार्य-कारणके नियमको छोड़ सकता है ? जो विज्ञान अभावसे भावका उत्पन्न होना, और भावका अभावमें चला जाना नहीं मानता, वह चेतनाके इस जन्ममें एकाएक, अकारण उत्पन्न होने, और एकाएक समाप्त हो जानेको कैसे मान सकता है ? परन्तु क्या पूर्वजन्म और पुनर्जन्म को न मानना चेतनाका अकारण उत्पन्न होना और अकारण ही नष्ट हो जाना नहीं है ? विज्ञान जिसका आधार ही कार्य-कारणका नियम है, अपने को विज्ञान कहता हुआ कर्मके उस सिद्धान्तसे कैसे इन्कार कर

सकता है, जो अगर कुछ है तो कार्य-कारणका ही नियम है, और कुछ नहीं है। यह कैसे हो सकता है कि 'चेतना'-जैसी एक महान्, अद्वितीय, विलक्षण सत्ता उत्पन्न हो जाय, और उसका पीछे कोई निशानतक न हो, यह 'चेतना' इस जीवनमें कुछ देर तक अपनी झलक दिखाकर एकाएक आंखोंसे ओझल हो जाय, और आगे उसका अता-पता न हो? यहीं होना और यहीं समाप्त हो जाना असंभव है, तभी संभव है अगर कार्य-कारणका नियम दिल बहलावेकी बात हो।

इसके अतिरिक्त इस विचारमें भी 'स्वतंत्रता' कहां है? 'वंशपरंपरा' और 'परिस्थिति' ही तो हमें बनाती हैं। इस विचारमें, अवैज्ञानिक तौरसे कार्य-कारणके नियम को तिलांजलि देकर, यह माना जाता है कि पिछले जन्मके कर्मोंका कोई अस्तित्व नहीं है, कर्मोंका अस्तित्व इस जन्मके आगे भी नहीं है। इस जन्म में वंश-परम्परा के—माता-पिताके ही नहीं, पितामह, प्रपितामह और पिछली सभी पीढ़ियोंके संस्कारोंमें बंधकर पैदा होना, और इस जन्ममें भी परिस्थितियोंका ही दास बने रहना, परिस्थिति-को अपने अनुकूल बनानेके स्थान में परिस्थितिके थपेड़े खाकर जैसा वह बनाये वैसा बन जाना—इस विचारमें मानवकी स्वतन्त्रता कहां रही, पुरुषार्थ कहां रहा? फिर तो सब दैव ही दैव, प्रारब्ध ही प्रारब्ध, स्वतंत्रता तथा पुरुषार्थ का अभाव ही रह जाता है।

अगर पिछले जन्मके 'कर्म' इस जन्मके कारण नहीं है, तो जीवन प्रारम्भ करते ही हम सबमें इतनी विषमता क्यों? अभी तो हमने कुछ किया ही नहीं! इसका उत्तर आधुनिक विज्ञानके पंडित 'वंश-परंपरा' और 'परिस्थिति'से देते हैं।

माता-पिताके रज-वीर्यकी भिन्नता, और जिन भिन्न-भिन्न परिस्थितियोंमें वे अपनी संतानों को रखते हैं उससे प्राणी-प्राणीमें भेद उत्पन्न हो जाता है। इसका अभिप्राय तो यह हुआ कि हमने कुछ नहीं किया, माता-पिताने किया, और उनके कियेका फल उन्हें मिलने के स्थानमें हमें मिला। माता-पिताके अच्छे-बुरे कामोंका फल माता-पिताको मिलना चाहिये, या हमें? प्रश्नोंका प्रश्न, महान् प्रश्न, वह प्रश्न जिसका 'वंशपरंपरा' तथा 'परिस्थिति' का नाम लेनेवाले विज्ञानके पास कोई उत्तर नहीं है, यह है कि हमने क्या किया था जो हमें ऐसे माता-पिताके साथ बांध दिया गया जिनके रज-वीर्यमें रोग के कीटाणु थे, जो हमें अच्छी परिस्थितियोंमें नहीं रख सकते थे? इसका उत्तर इसके सिवाय क्या दिया जा सकता है कि हम तो हैं ही नहीं—यह 'हम' एक आकस्मिक घटना है, हम आकस्मिक रूपमें ही उत्पन्न हो गये, और आकस्मिक रूपमें ही समाप्त हो जायेंगे। परन्तु कार्य-कारण का अटल नियम जाननेवाले विज्ञानके यहां तो आकस्मिक कुछ है ही नहीं। ऐसी अवस्थामें 'वंशपरंपरा' और 'परिस्थिति' मात्र मान लेनेसे जन्मकी प्रारंभिक विषमताओं को आकस्मिक, अकारण मानना पड़ता है। इसके अतिरिक्त अच्छे माता-पिताकी बुरी संतान, बुरे माता-पिताकी अच्छी संतान, उत्तम-से-उत्तम परिस्थितिमें नीच-से-नीच व्यक्ति, नीच-से-नीच परिस्थिति में उत्तम-से-उत्तम व्यक्ति क्यों पैदा हो जाते हैं? फिर, अन्त में सारा लेखा एकदम समाप्त हो जाता है। ऐसा क्यों? हरेक बही-खाता जब शुरू होता है तो कुछ रकम लेकर शुरू होता है, हर दिनके जोड़में कुछ लेना, कुछ देना बना रहता है, सालके बाद जब दूसरी बही खोली जाती

है, तब पिछलीका लेना-देना अंकित करके हिसाब आगे चलता है। क्या जीवनकी बही बिना किसी हिसाबके है? यह बिना लेने-देनेके शुरू हो जाती है, बिना लेखा पूरा किये समाप्त हो जाती है, ऐसा कैसे हो सकता है?—नहीं हो सकता, विज्ञान भी जबतक कार्य-कारणके नियमपर स्थित है तबतक वैदिक-संस्कृतिके कर्मके सिद्धान्त से इन्कार नहीं कर सकता।

कर्म तथा मतमतान्तर—

यहूदी, ईसाई तथा मुसल्मान कर्मके सिद्धान्त को अटल रूपसे नहीं मानते। उनका कहना है कि इस जन्ममें परमात्माने आत्माको पैदा कर दिया—उनके कर्मों के कारण पैदा कर दिया, या यूंही पैदा कर दिया—इसका उनके पास कोई उत्तर नहीं। इस जन्ममें अच्छे कर्म करनेवाले स्वर्ग चले जायेंगे, बुरे कर्म करनेवाले नरक चले जायेंगे। वे वर्तमान वैज्ञानिकों-की तरह जीवनका आकस्मिक उत्पन्न होना तो मानते हैं—भले ही परमात्माने उत्पन्न किया हो, हुआ तो यूं ही, बिना हमारी ज़िम्मेदारीके—परन्तु वर्तमान वैज्ञानिकोंकी तरह इस सब हिसाब-किताबको अकारण राख करके चल देना नहीं मानते। इस जन्मके कर्मोंका फल स्वर्ग या नरक मानते हैं, और स्वर्ग नरकको अनन्त मानते हैं? परन्तु इस जन्मके थोड़े-से, सान्त कर्मोंका अनन्त फल कैसे हो सकता है? हमने इस जन्म में कुछ अच्छे काम किये, कुछ बुरे किये। अगर अच्छे बुरोंकी अपेक्षा कुछ ही ज्यादा हो गये, तो हमें सदाके लिये स्वर्ग मिल गया, अगर कुछ कम रह गये, तो हम सदा के लिए नरक में धकेल दिये गये—यह विचार कार्य-कारणके नियमके विपरीत है।

कर्मका सिद्धान्त अगर कार्य-कारण के नियम पर आश्रित है, तो पूर्व-जन्म भी मानना पड़ता है, पुनर्जन्म भी मानना पड़ता है। यह तो हमें दीख रहा है कि अगर कार्य-कारण का नियम एक सत्य-नियम है, तो कर्मोंका लेखा भी एक अमिट लेखा है, यह हिसाब पीछेसे चला आता है, इस जन्ममें यह हमारे हाथमें आ जाता है, और जब इस जन्ममें हम जीवनकी इस बहीको बन्द करते हैं तो आगे कहीं इसी लेन-देनसे अगला हिसाब शुरू करते हैं, इसी हिसाबसे बँधे रहते हैं। और कोई कल्पना कार्य-कारणके नियम को छोड़कर ही की जा सकती है, इसके बिना नहीं। कर्मके सिद्धान्तका आधारभूत तत्त्व यह है कि कर्मका फल अवश्य मिलता है। मनुष्यकी सबसे बड़ी समस्या यह रही है कि वह कर्म तो कर लेता है, परन्तु अगर उसका कड़आ फल मिले तो उससे बचना चाहता है। मनकी इसी कमज़ोरीके कारण फलसे बचनेके मनुष्य अनेक उपाय ढूंढ़ा करता है। कोई कहता है, मन्दिर में जाओ, मस्जिदमें जाओ, गिर्जेमें जाओ, यहां डुबकी लगाओ, वहां गोता लगाओ, इसमें यकीन लाओ, उसको दान दो—इस उपायसे, उस उपायसे कर्म अपना फल नहीं देगा, परन्तु ये सब मनुष्यके मन की कमज़ोरियां हैं, ये सब समस्याका हल करनेके नहीं, समस्यासे बचनेके प्रयत्न हैं।

भाग्य अथवा पुरुषार्थ—एक समस्या—

तो फिर वही प्रश्न जहां-का-तहां खड़ा है। क्या हम प्रारब्धसे, दैवसे, भाग्यसे, पिछले कर्मोंसे इस प्रकार जकड़े हुए हैं कि इनकी 'अवश्यंभाविता' और इनके 'चक्र'मेंसे निकल ही नहीं सकते, जो होना है वह होना ही है, मस्तकमें जो रेखा खिच

गयी वह अमिट है—'भवितव्यता बलीयसी'—या जीवनमें पुरुषार्थको, स्वतन्त्रताको भी कोई स्थान है, हम कुछ नया भी कर सकते हैं ? वैदिक-संस्कृतिने विश्वमें कार्य-कारणके व्यापक भौतिक नियमको देखकर उसीको आध्यात्मिक-जगत्में कर्मके सिद्धान्तका नाम दिया, कर्मके सिद्धान्तको माननेसे उसके लिये पूर्वजन्म तथा पुनर्जन्मको मानना आवश्यक हो गया, परन्तु इसके माननेसे उनके सामने एक महान् समस्या उठ खड़ी हुई। आत्माको वैदिक-संस्कृति कर्ता मानती है, कर्म नहीं ; भोक्ता मानती है, भोग्य नहीं ; स्वतन्त्र मानती है, परतन्त्र नहीं—फिर कर्मके सिद्धान्तके साथ जिसमें आत्म-तत्त्व परतंत्र हो जाता है, यह आत्म-तत्त्वकी स्वतंत्रता की संगति कैसे करे ?

भाग्य तथा पुरुषार्थ, आत्म-तत्त्वका कर्मोंके बन्धनके साथ बंधा होना तथा स्वन्त्ररूपसे कार्य कर सकना—इन दोनों बातोंकी संगति समझनेके लिये 'कर्म' को कुछ और गहराईसे समझनेकी ज़रूरत है।

संचित, प्रारब्ध तथा क्रियमाण-कर्म—

'कर्म' तीन तरहका माना गया है—'संचित', 'प्रारब्ध' तथा 'क्रियमाण'। पिछले जन्मोंसे लेकर अबतकका जितना कर्म है वह 'संचित' कहलाता है। 'संचित' कर्मोंमेंसे किन्हींका फल मिल चुका है, वे अब 'संचित' नहीं रहे, कुछका मिलने लग रहा है, कुछका अभी मिलना बाकी है। जिनका फल मिल चुका, या जिनका मिलने लग रहा है, उन्हें 'प्रारब्ध' कहते हैं। 'प्रारब्ध' इसलिये क्योंकि उनका फल मिलना 'प्रारंभ' हो गया है। 'प्रारंभ' से 'प्रारब्ध'। जिन कर्मोंका अभी फल मिलना

बाकी रह गया वे 'संचित' की श्रेणीमें ही हैं। 'संचित' और 'प्रारब्ध'-कर्मों में इतना ही भेद है कि 'संचित' कर्मोंका जब फल मिल जाय, या मिलना प्रारंभ हो जाय, तब 'संचित' कर्म ही फलके प्रारंभ हो जानेके कारण 'प्रारब्ध' कहाते हैं। असल-में 'संचित' और 'प्रारब्ध' दोनोंका भूतके कर्मोंके साथ सम्बन्ध है। वर्तमानमें जो कर्म हम कर रहे हैं वे 'क्रियमाण' कहाते हैं, परन्तु 'क्रियमाण'-कर्म ही फल मिलते ही झट-से 'संचित' या 'प्रारब्ध' की श्रेणीमें चले जाते हैं। इस जन्मसे उठकर अगर हम पिछले जन्ममें चले जायं, तो इस जन्मके जो 'संचित' या 'प्रारब्ध' कर्म हैं, वे उस जन्मके 'क्रियमाण'-कर्म थे, और अगर हम इस जन्मसे अगले, आनेवाले जन्मकी दृष्टिसे देखें, तो इस जन्मके जो 'क्रियमाण'-कर्म हैं, वे अगले जन्मके 'संचित' या 'प्रारब्ध' कर्म होंगे। इन तीनों में असली कर्म, 'संचित' और 'क्रियमाण'-कर्म हैं। 'प्रारब्ध' तो 'संचित' और 'क्रियमाण'-कर्म इन दोनोंके फलके प्रारंभ हो जानेका नाम है। इसलिये जब कोई अच्छा या बुरा फल दीखने लगता है, कर्मका अच्छा या बुरा फल प्रारंभ हो जाता है, तब हम कहते हैं—'प्रारब्धमें ऐसा लिखा था'। बिना फल प्रारंभ हुए कैसे कहें—'प्रारब्धमें ऐसा था'। एक आदमीको बैठे-बैठे सांप आकर डस गया। जब तक नहीं डसा तबतक हम नहीं कहते कि 'प्रारब्ध' ऐसी थी, जब डस गया तब कहते हैं कि 'प्रारब्ध'में ऐसा लिखा था। तब इसलिये कहते हैं क्योंकि उस समय 'संचित' या 'क्रियमाण'का फल मिलना प्रारंभ हो गया दीखने लगता है। असली कर्म 'संचित' तथा 'क्रियमाण' ही हैं, और इन दोनोंमें भी हमारी मुख्य समस्या 'क्रियमाणकर्मों'की ही है।

क्या 'क्रियमाण-कर्म' इस जन्ममें स्वतंत्र रूपसे हो सकता है ?—

'कर्म'-सिद्धान्तकी वास्तविक समस्या 'प्रारब्ध'की न होकर 'क्रियमाण'-कर्मकी है। जो कर्म हम इस समय करने लगे हैं वह बिल्कुल नया, स्वतन्त्र कर्म है, या यह किसी पिछले कर्मका फल है, यह किसी कारणका कार्य है, या एक नया कारण है जो किसी अगले कार्यको उत्पन्न करनेवाला है ? इसी प्रश्नके हलमें 'भाग्य' या 'पुरुषार्थ' की समस्या का हल छिपा है।

इस प्रश्नके दो उत्तर तो स्पष्ट हैं। एक तो यह कि 'क्रियमाण'-कर्म कोई स्वतन्त्र कर्म नहीं है, कार्य-कारणकी अनन्त कालसे चली आ रही लड़ीकी यह एक कड़ी है, दीखनेको यह एक स्वतन्त्र कर्म दीखता हैं, परन्तु वास्तवमें पिछले कर्मोंका यह फल है, यह ऐसा ही होना है, इससे भिन्न नहीं हो सकता। जो विचारक कर्मके सिद्धान्त को कार्य-कारण का सिद्धान्त ही मानते हैं, वे इसके अतिरिक्त दूसरी बात कैसे कह सकते हैं ? इसीलिये कर्मका सिद्धान्त माननेवाले प्रायः 'भाग्यवादी' (Fatalists) हो जाते हैं, जो-कुछ हो रहा है उसे अमिट, अवश्यंभावी मानते हैं, उसमें परिवर्तन नहीं हो सकता—ऐसा मानते हैं। इस प्रश्नका दूसरा उत्तर यह है कि 'क्रियमाण'-कर्म एक स्वतन्त्र कर्म है, हम जो चाहें कर सकते हैं, किसी पिछले बंधनसे हम बंधे नहीं हैं। यह सिद्धान्त 'पुरुषार्थवादियों' (Free-willists) का है, परन्तु इस सिद्धान्त को माननेसे कार्य-कारणके नियमको छोड़ना पड़ता है। इन दो उत्तरोंके अतिरिक्त इस

प्रश्नका एक तीसरा उत्तर भी है—यह उत्तर वैदिक-संस्कृति-का है। यह उत्तर क्या है ?

कार्य-कारण के नियम तथा कर्मके सिद्धांतमें भेद—

तीसरा उत्तर यह है कि कार्य-कारणके नियम और कर्मके सिद्धान्तमें जहां समानता है वहां उस समानताके साथ एक भिन्नता भी है। कार्य-कारणका नियम भौतिक-जगत्‌का नियम है, आग-पानी-हवाका नियम है; कर्मका नियम आध्यात्मिक-जगत्‌का नियम है, उस जगत्‌का नियम है, जहां 'चेतना' नामकी पंच-तत्वोंसे भिन्न सत्ता काम करने लगती है। भौतिक-जगत् स्वतंत्र जगत् नहीं है, दूसरे किसीके अधीन है। यह दूसरा कौन है ? कोई कहता है 'परमात्मा', कोई कहता है 'नियम' (Law) — परन्तु जो-कुछ हो, भौतिक-जगत् स्वतन्त्र नहीं है, परमात्मा मानो तो भी, न मानो तो भी, भौतिक-जगत् कार्य-कारणके महान् नियमके अधीन है, उससे इधर-उधर नहीं हो सकता। आत्म-तत्त्वके साथ यह बात नहीं है। आत्म-तत्त्व भौतिक पदार्थोंसे एक भिन्न तत्त्व है। वर्तमान विज्ञान इसे 'आत्म-तत्त्व' न कहकर 'चेतना' (Consciousness) कहता है। 'चेतना' कहनेपर भी जो बात हम कह रहे हैं उसमें फ़र्क़ नहीं पड़ता। हम इतना ही कहना चाहते हैं कि 'आत्म-तत्त्व'में —'चेतना'में—स्वतन्त्रताकी अनुभूति प्रत्येक व्यक्ति को होती है। इसमें सन्देह नहीं कि मैं चारों तरफ़से बंधा हुआ हूँ, परन्तु इसमें भी सन्देह नहीं कि मैं इन बन्धनोंमेंसे निकल भी सकता हूँ। कौन नहीं अनुभव करता कि ये बन्धन मेरे स्वाभाविक बन्धन नहीं हैं। जब हम किसी रोगीको देखते हैं

तब पूछते हैं—तुम रोगी क्यों हो ? स्वस्थ व्यक्ति को देखकर तो कोई नहीं पूछता, तुम स्वस्थ क्यों हो ? अस्वस्थ व्यक्ति हर समय स्वस्थ बननेके लिए प्रयत्न करता ही रहता है, भले ही स्वास्थ्यके पीछे भागता-भागता वह मर ही जाय। बन्धनोंको तोड़नेके लिये, रुग्णतासे नीरोग होनेके लिये, दुःखोंकी उलझनों-को काटकर सुखके लिये 'चेतना'की यह भाग-दौड़ क्या सिद्ध करती है ? क्या यह सिद्ध करती है कि हम बन्धनोंमेंसे निकल ही नहीं सकते, या यह सिद्ध करती है कि बन्धनोंमेंसे निकलने-के लिये ही हम पैदा हुए हैं। हर प्राणी बन्धनोंको तोड़नेके लिये हर समय झटका दिया करता है, स्वतन्त्र होना चाहता है, बन्धनोंसे मुक्त होना चाहता है, बंधे रहना नहीं चाहता, बन्धनोंको देखकर जिस किसी उपायसे, सफल हों, असफल हो, उन्हें काटा करता है। इससे क्या यह पता नहीं चलता कि बंधनोंमें बंधे रहना नहीं, कार्य-कारणमें उलझे रहना नहीं, इस उलझनमेंसे निकल जाना मनुष्यका स्वभाव है। पानी गर्म कर दें, तो पड़े-पड़े वह ठंडा हो जाता है। क्यों हो जाता है ? क्योंकि शीत पानीका स्वभाव है। महान्-से-महान् दुःखमें पड़ा व्यक्ति भी, स्त्री-पुत्रके वियोगसे पागल हो जानेवाला भी कुछ देर के बाद फिर हंसने-खेलने लगता है। क्यों ऐसा होता है ? क्योंकि 'आत्म-तत्त्व'—'चेतना'—सदा बन्धनोंसे निकलनेकी दिशाकी तरफ़ जा रही है, वह बंध नहीं रही, मुक्त हो रही है —धीरे-धीरे, परन्तु कितने ही धीरे हो, यह कर्मोंका अनन्त-कालका रास्ता उसे मोक्षकी तरफ़, सच्चिदानन्दकी तरफ़ ले जा रहा है। मनुष्यमें ही नहीं, पशु-पक्षीतकमें बन्धनसे निकल जानेकी एक प्रबल भावना है। आग-पानी-हवामें, भौतिक-

जगत्‌के किसी तत्त्वमें तो ऐसा नहीं । वे तो कार्य-कारणके नियमसे ऐसे जकड़े हुए हैं कि करोड़ों वर्षोंसे इधर-से-उधर नहीं हिले, उनकी विशेषता ही उनका कार्य-कारणके नियमोंमें बंधे रहना है। परन्तु मनुष्य, पशु-पक्षी, कीट-पतंगे ? ये जबसे सृष्टिमें आये तभीसे उस अनन्त सच्चिदानन्दकी तरफ़ मुँह उठाये आगे-ही-आगे बढ़े जा रहे हैं, उसकी खोज कर रहे हैं, हर बन्धनसे विद्रोह कर रहे हैं, इनके गलेमें कर्मोंके बड़े-बड़े मज़बूत रस्से पड़े हैं, परन्तु उन रस्सोंको तोड़नेके लिये ये लगातार झटके-पर-झटके दिया करते हैं। इस सबका कारण क्या है? इसका कारण यही है कि यद्यपि 'आत्म-तत्त्व'—'चेतना'—बन्धनमें है, तथापि इसका स्वभाव बन्धनमें पड़े रहने-का नहीं है। यह बन्धन में आया है बन्धनमेंसे निकलनेके लिये, कर्मसें फंसा है कर्मको काटने के लिये, कार्य-कारणमें उलझा है कार्य-कारणकी गांठको खोलकर उससे स्वतंत्र हो जानेके लिये।

'कार्य-कारण' तथा 'कर्म' के नियममें यही भेद है। 'कर्म' इससें सन्देह नहीं, 'कार्य-कारण' का ही नियम है, परन्तु भेद यह है कि 'कार्य-कारण' जड़-जगत्‌का, 'कर्म' चेतन-जगत्‌का नियम है; 'कार्य-कारण' अन्धा नियम है, 'कर्म' सुजाखा नियम है; 'कार्य-कारण' प्रकृतिका नियम है, 'कर्म' आत्म-तत्त्वका नियम है; प्रकृतिका स्वभाव ही 'कार्य-कारण'के अटल नियम-में जकड़े रहनेका है, आत्म-तत्त्वका स्वभाव ही बन्धनसे निकलनेका, कर्मोंकी भारी-भारी बेड़ियों और हथकड़ियोंको काट देनेका हैं। अगर आत्म-तत्त्व एक स्वतन्त्र तत्त्व न होता, अगर पंच-महाभूतोंकी ही यह उपज होता, तब प्रकृतिकी तरह यह भी कार्य-कारणकी बेड़ियोंमें जकड़ा रहता, तब जो हो रहा

है वह अवश्यंभावी होता, तब हम अगला-पिछला जन्म न मानते यही जन्म मानते। वैदिक-संस्कृति ऐसा नहीं मानती। उसकी दृष्टिमें आत्म-तत्त्व प्रकृतिसे एक भिन्न स्वतंत्र तत्त्व है। यह जबतक प्रकृतिके साथ अपनेको एक किये बैठा है तबतक कार्य-कारणकी उलझनमें पड़ा हुआ है, जहां इसने अपने स्वरूपको पहचाना, वहीं यह कार्य-कारणके बन्धनसे साफ़ निकलकर बाहर आ खड़ा होता है। इसीको कर्मका सिद्धान्त कहा जाता है—'आत्मा कर्म करनेमें स्वतन्त्र है'—यह कहा जाता है।

तो फिर क्या स्थिति हुई? क्या 'क्रियमाण'-कर्म अवश्यं-भावी हैं, जन्म-जन्मान्तरके चक्रके परिणाम हैं, या स्वतंत्र—इस जन्ममें एकदम नये—भी हो सकते हैं? वैदिक-संस्कृतिकी जिस विचारधाराका हमने अभी उल्लेख किया उसके अनुसार ये दोनों हो सकते हैं। कर्म, कार्य-कारणका ही एक रूप हैं, इसलिये हमारे 'क्रियमाण'-कर्म, वे कर्म जिन्हें हम इस जन्ममें इस समय कर रहे हैं, पिछले कर्मोंका भी फल हो सकते हैं, कार्य-कारणकी शृंखलामें एक कड़ी भी हो सकते हैं; और क्योंकि आत्म-तत्त्वकी नींव ही स्वतन्त्रतापर खड़ी है, इसलिये ये 'क्रियमाण'-कर्म आत्म-तत्त्वके इस जन्मके सर्वथा स्वतन्त्र कर्म भी हो सकते हैं। इन्हें पिछले जन्मोंका फल (दैव—Fate) या इस जन्मके स्वतन्त्र कर्म (पुरुषार्थ—Free-will) माननेसे कार्यकारणके नियममें कोई त्रुटि नहीं आती।

कर्मके सिद्धान्तको कार्य-कारण के नियम का ही एक रूप माननेमें सबसे बड़ी निराशाकी बात यह आ पड़ती है कि हम अपनेको स्वतन्त्र कर्म करनेमें, पुरुषार्थ करनेमें अशक्त पाते हैं, सब-कुछ दैव, भाग्य समझने लगते हैं। वैदिक-संस्कृतिका कहना

है कि 'आत्मा-तत्त्व'के यथार्थ-स्वरुपको समझ लेनेसे यह निराशा जाती रहती है। 'आत्म-तत्त्व' कर्मोंसे बंधा है, कार्य-कारणके इधर-उधर नहीं जा सकता—यह बात ठीक है, परन्तु यह बात भी उतनी ही ठीक है कि इसमें स्वतंत्र कार्य करनेकी उग्र भावना भी अन्तर्निहित है। आत्म-तत्त्वका यह स्वतंत्र कर्तृत्व हम सबको दीखता है, इसे किसी युक्तिसे सिद्ध करनेकी आवश्यकता नहीं रहती। अगर स्वतंत्र कार्य करनेकी भावना भी कर्मोंका फल है, कार्य-कारणके नियमका ही परिणाम है, तब तो यह विवाद एक शब्दाडंबर-मात्र रह जाता है। हमारा काम तो इतनेसे ही चल जाता है कि जीव बंधा ही बंधा न रहे, स्वतंत्र भी काम कर सके, भाग्यकी डोरसे ही लटका न रहकर पुरुषार्थ भी कर सके।

कार्य-कारणके नियमके पीछे चलते हुए कर्मके सिद्धान्तको जन्म देने वाली वैदिक-संस्कृति कर्मके सिद्धान्तसे इतनी परास्त नहीं हुई थी कि वह आत्म-तत्त्वकी स्वतंत्र-क्रिया-शक्तिको भूल जाती। कर्मका सिद्धान्त जहां वैदिक-संस्कृतिका मूल-तत्त्व है वहां आत्माके स्वतन्त्र-कर्तृत्व—'स्वतंत्रः कर्ता'—का सिद्धान्त भी उसका उतना ही बड़ा मूल-तत्त्व है। हम बँधे हैं, परन्तु बन्धन काट सकते हैं; उलझे हैं, परन्तु उलझनमें से निकल सकते हैं; कर्मके चक्रमें आ पड़े हैं, परन्तु इस चक्रमेंसे बाहर भी आ सकते हैं; हम परतंत्र हैं, कर्मके अधीन हैं, परंतु स्वतंत्र भी हैं, कर्मके स्वामी भी हैं। प्रश्न यही है कि यह कैसे ?

यह इस प्रकार। 'क्रियमाण'-कर्मके विषयमें ही तो हमें निश्चय करना है कि यह पिछले कर्मोंका ही परिणाम है, या इस जन्मका ही नया कर्म है ? 'क्रियमाण'-कर्म दो तरह का

हो सकता है—'वैयक्तिक' या 'सामाजिक' । 'वैयक्तिक' वह जिसका हमारे निजके साथ संबंध है, दूसरोंके साथ कोई सम्बन्ध नहीं । हम खाते हैं, पीते हैं, चलते हैं, फिरते हैं । भूख लगी, खाना खा लिया, प्यास लगी, पानी पी लिया । इन कर्मोंमें भी 'अवश्यंभाविता' और 'चक्र' है, परन्तु वे हमारे लिये कर्मोंकी कोई समस्या नहीं खड़ी करते । भूख लगनेपर खायेंगे तो तृप्ति अवश्य होगी, पेट अवश्य भरेगा, भरकर पेट काम करेगा, भोजन पच जायगा, फिर भूख लगेगी—यह 'अवश्यंभाविता' है, और इसके साथ तृप्ति और भूखका 'चक्र' भी चल पड़ेगा । परन्तु कर्मके सिद्धान्त की जो उलझन है, वह यह नहीं है । उलझन कहां आती है ? उलझन आती है उन कर्मोंमें जिन्हें 'सामाजिक' कहा जा सकता है । 'सामाजिक'-कर्मोंसे हमारा अभिप्राय उन कर्मोंसे है, जो करते तो हम हैं, परन्तु उनका संबंध हमारे निजसे होता हुआ भी दूसरोंसे भी कम नहीं होता । हमने किसीको क्रोधमें आकर मार डाला, पकड़े जानेपर साफ़ झूठ बोल दिया, इन्कार कर दिया, किसी-के घर डाका डाला या सेंध लगायी, दुराचार किया—ये सब बातें करते तो हम हैं, परन्तु, इनका सम्बन्ध दूसरोंसे होता है—समाजसे होता है । कर्मोंके सिद्धान्तकी जटिलता इन्हीं 'सामाजिक'-कर्मोंके सम्बन्ध में है, और यह जटिलता यही है कि ये कर्म अगर कार्य-कारण की शृंखलाके परिणाम हैं, अगर 'अवश्यंभावी' हैं, और एक 'चक्र' को उत्पन्न कर रहे हैं, तो पाप-पुण्य क्या रहा ? पाप तो पाप तब हो सकता है, और इसी प्रकार पुण्प पुण्प तब कहा जा सकता है, जब वह जान-बूझकर, अपनी इच्छासे किया जाय । जो काम

होना ही है, हम चाहें, न चाहें, पिछले कर्मोंके ज़ोरसे होना है, वह न पाप हो सकता है, न पुण्य हो सकता है, वह तो टल ही नहीं सकता, उसमें तो हमारा कोई वस ही नहीं है।

असली समस्या, पारमार्थिक नहीं लौकिक समस्या, वह समस्या जिसका व्यावहारिक रूपमें हम सवको सामना करना पड़ता है, यह है कि हम जो सामाजिक कर्म करते हैं—किसी-को मार दिया, किसीको लूट लिया, किसीकी स्त्री को भगा लिया—ये हमारे हाथकी बातें हैं, या ये टल ही नहीं सकतीं? समस्या के इस बिन्दु पर पहुंचनेपर वैदिक-संस्कृतिका कहना था कि 'कर्म' कार्य-कारणके नियमकी तरह एक अन्धा नियम नहीं है। यह ईंट-पत्थरका, अचेतनका नियम नहीं, चेतनका नियम है। दीवारपर ईंट फेंकी जायगी तो वह अवश्य दीवार-से टकराएगी, किसी मनुष्यपर फेंकी जायगी तो वह एक ही स्थानपर खड़ा रहकर चोट भी खा सकता है, एक तरफ़को हटकर चोटसे बच भी सकता है। खड़ा रहकर दीवारकी तरह व्यवहार करेगा, तो अचेतनकी तरह व्यवहार करेगा, एक तरफ़को हट जायगा तो चेतनकी तरह व्यवहार करेगा—खड़ा रहेगा तो 'अवश्यंभाविता' और 'चक्र' में फंस जायगा, हट जायगा तो इन दोनोंमेंसे निकल जायगा।

कर्म-चक्रका कारण 'आवेग' है—

इस बातको अभी और अधिक समझनेकी ज़रूरत है। हम कर्मके चक्रमें क्यों पड़ते हैं? हमने किसीकी कोई चीज़ चुरा ली, उसने हमें पकड़ लिया, उसे क्रोध आया, उसने हमें थप्पड़ मारा, हमने बदलेमें मारा, उसे और क्रोध आया—चक्र

चलता गया, चलता गया। प्रश्न यह है कि क्या हम इस 'अवश्यंभाविता' और 'चक्र'को कहींपर काट भी सकते हैं, या नहीं? वैदिक-संस्कृतिकी विचार-धारा यह है कि हम इसे शुरूमें भी काट सकते थे, बीच में भी काट सकते हैं, अन्तमें भी काट सकते हैं, जब चाहें इस चक्रमेंसे निकल सकते हैं, इसलिये निकल सकते हैं क्योंकि हम ईंट-पत्थर नहीं, चेतन प्राणी हैं, प्रकृति-तत्व नहीं, आत्म-तत्त्व हैं, स्वतन्त्रता आत्म-तत्त्वका जन्म-सिद्ध गुण है, जबतक हम अपने आत्म-तत्वको भूले हुए हैं तभीतक हम इस उलझनमें फंसे हैं। यह चक्र चला कैसे? हमने किसीकी चीज़ चुराई थी। अगर हम लोभ न करते, दूसरेकी चीज़ न चुराते, तो यह चक्र कैसे चलता? चुरानेपर जब उसने हमें मारा तब हम क्रोधमें आकर प्रतिक्रिया न करते, अपने अपराधको स्वीकार कर लेते, तो यह चक्र कैसे चलता? चलते-चलते किसी क्षण भी हम क्रोध छोड़ सकते थे, अपना अपराध स्वीकार कर सकते थे। इसका अर्थ यही है कि किसी समय भी हम कर्मकी 'आवश्यंभाविता' और 'चक्र'मेंसे निकल सकते थे। यह कहना कि जिस समय हमने पहले-पहल चीज़ चुरायी थी उस समय ही हम चोरी करने-न-करनेमें स्वतंत्र नहीं थे, कर्मोंके लेखेके अनुसार हमें चोरी करनी ही थी, यह विधिका विधान था, टल नहीं सकता था—यह कहनेके समान है कि 'आत्म-तत्त्व' आत्म-तत्त्व नहीं है, ईंट-पत्थर है। यह तो हम देखते हैं, अनुभव करते हैं कि क्रोध हमें आता है, हम चाहें तो क्रोधको दबा भी सकते हैं, लालच हमें पराभूत कर देता है, हम चाहें तो लालचको जीत भी सकते हैं, बदले की भावना सिरपर सवार हो

जाती है, हम चाहें तो इस भावनासे ऊपर भी उठ सकते हैं, काममें आदमी पागल हो जाता है, सोच-समझसे चले तो कामके वेगको शान्त भी कर देता है। इस बातको खूब अच्छी तरहसे समझ लेने की ज़रूरत है कि कर्मके चक्रके चल पड़नेका कारण भौतिक नहीं, आध्यात्मिक है। काम-क्रोध-लोभ-मोह—इन भौतिक नहीं, किन्तु आध्यात्मिक कारणोंसे हम कर्मके चक्रको चलने देते हैं। असंख्य प्राणियोंका कितना ही कर्मका चक्र है जो सिर्फ़ काम-वासनाको काबूमें न रखनेके कारण चल रहा है। लाखों-करोड़ों प्राणियोंके कर्म-चक्रके पीछे क्रोध है, लोभ है, मोह है। कर्म-चक्रके चलने में ये आध्यात्मिक, अर्थात् शरीरसे नहीं अपितु मन तथा आत्मसे संबन्ध रखनेवाले कारण हैं, और इस-लिये कर्म-चक्रमेंसे निकलनेके आध्यात्मिक ही उपाय हैं। वैदिक-संस्कृतिका मूल-तत्त्व यह था कि काम-क्रोध-लोभ-मोह आदि मानसिक विकारोंपर विजय पा लिया जाय तो कर्मका बन्धन, उसका चक्र अपने-आप कटकर गिर जाता है, और इनपर विजय पाना अपने हाथमें है।

भोग-योनि तथा कर्म-योनि—

काम-क्रोध-लोभ-मोह आदि मनके आवेग हैं। इनके वशमें पड़ जानेसे कर्मका चक्र चल पड़ता है, इन्हें अपने वशमें कर लेनेसे चक्र टूट जाता है। परन्तु इन्हें वशमें कर लेना भी तो कोई हंसी-खेल नहीं। अधिक अवस्था तो ऐसी ही होती है जिसमें हम इनके वशमें रहते हैं। इस समस्याको सुलझानेके लिये वैदिक-विचारकोंनें 'भोग-योनि' और 'कर्म-योनि'के सिद्धान्त-की कल्पना थी। आत्म-तत्त्वके विकासकी एक अवस्था तो वह

है जिसमें हम इन मनोवेगोंमेंसे बचकर निकल ही नहीं सकते, कार्य-कारणके अटल नियमकी तरह इनके घात-प्रतिघातोंमें थपेड़े खाते ही रहते हैं। यह अवस्था 'भोग-योनि' कहाती है। इसमें हम कर्म करनेमें स्वतन्त्र नहीं। जो कर्म हैं, अवश्यं-भावी हैं। कर्म कौन से ? वही—काम, क्रोध, लोभ, मद, मोह, मत्सरता आदि मनोवेगोंद्वारा प्रेरित कर्म। पशु-योनि भोग-योनि है। इस योनिमें कर्मका सिद्धान्त बिलकुल कार्य-कारणके भौतिक नियमकी तरह अटल कार्य करता है। ये योनियां अनन्त है। अनन्त इसलिये हैं क्योंकि कार्य-कारण-के नियमके अनुसार चलते हुए काम, क्रोध, लोभ, मोहका अन्तमें अवश्यंभावी परिणाम क्या हो सकता है—यह पाठ आत्म-तत्त्वमें पूरी तरहसे बैठ जाय, समा जाय, किसीके कहने-सुननेसे नहीं, अपने अनुभवसे उसमें रच जाय कि ये मार्ग एक ऐसे चक्रको चला देते हैं जिसका कहीं अन्त नहीं—इस पाठको इन योनियोंमें जा-जाकर अनुभवद्वारा हृदयंगम करनेके लिये ये योनियां अनन्त हैं। मनुष्य-जन्म कर्म-योनि है। कर्म-योनि इसलिये क्योंकि इस योनिमें कर्म आत्म-तत्त्व को कार्य-कारण-के अटल नियमकी तरह नहीं चिपटता। भोग-योनियोंमें से गुज़रनेके बाद आत्म-तत्त्वपर यह अमिट छाप तो पड़ चुकी होती है कि कर्मके वन्धनोंमेंसे निकलनेका रास्ता आत्मतत्त्वके बन्धनोंको—काम, क्रोध, लोभ, मोहको—काट देना है। मनुष्यकी इस कर्म-योनिमें आकर हमारे हाथमें वह शस्त्र आ जाता है जिससे हम कर्मके वन्धनोंको, अर्थात् कर्मकी 'अवश्यंभाविता' और 'चक्र'को काट सकते हैं, परन्तु हम इसका लाभ उठाते हैं या नहीं, यह दूसरी बात है। जो मनुष्य मनुष्य-

जन्मको एक दुर्लभ अवसर समझते हैं, वे इसका लाभ उठाते हैं, जो इस अवसरको खो देते हैं, वे चौरासी लाख योनियोंमें फिरसे यह सीखनेके लिये चल देते हैं कि काम-क्रोध आदिके वशमें पड़े रहनेका परिणाम क्या होता है! यह बात ठीक है कि इन योनियोंमें जाकर इस बात का ज्ञान नहीं होता कि किस कारणका कौन-सा फल मिल रहा है, न मनुष्य-जन्ममें ही पता होता है कि किस कर्मका क्या परिणाम है—परन्तु इससे कर्मके सिद्धान्तमें कोई वाधा नहीं पहुंचती। कर्मकी पाठशाला-मेंसे आत्म-तत्त्व एक वहुत लम्बे रास्तेको तय करता हुआ गुज़र रहा है। इस लम्बे रास्तेमें यह जो अनुभव प्राप्त करता है वे इसकी 'अवचेतना' (Sub-conscious self) के हिस्से होते जाते हैं। आजका मनोविश्लेषणवाद कहता है कि हमारी सव प्रेरणाओंका मूल-स्रोत यही 'अवचेतन'-मन है। भिन्न-भिन्न जन्मोंके अनुभव—उनकी अप्रत्यक्ष स्मृति—आत्म-तत्त्वके इसी 'अवचेतन' का निर्माण करते चले जाते हैं। हम भिन्न-भिन्न योनियोंमें काम-क्रोध-लोभ-मोह आदिके जिन अनुभवोंमेंसे गुज़रते हैं, वे अनुभव हमारी 'अवचेतना'के हिस्से होते चले जाते हैं, और हमारी 'चेतना'को काम-क्रोध आदिके बुरे परिणामोंके—किस कारणका कौन-सा कार्य है—यह जाननेकी आवश्यकता नहीं रहती, उन परिणामोंका स्वाभाविक ज्ञान हमारी 'अव-चेतना'का अंग बन जाता है और वही 'अवचेतना' हमारे बिना जाने हमारी 'चेतना'को प्रेरित किया करती है।

हां; तो हम कह रहे थे कि भोग-योनिमें कार्य-कारणका नियम काम करता है, कर्म-योनिमें कर्मका सिद्धांत। भोग-योनि-में आत्म-तत्त्व कर्म करनेमें स्वतंत्र नहीं होता, कर्म-योनिमें

स्वतंत्र होता है। कर्मका सिद्धान्त मूलतः भोग-योनिका नहीं, कर्म-योनिका सिद्धांत है। इस सिद्धांतकी आत्मा यह नहीं है कि हम कर्मोंके बन्धनोंसे बंधे हुए हैं, इस सिद्धांतकी आत्मा यह है कि यद्यपि हम पिछले जन्म-जन्मान्तरके कर्मोंके अथाह बोझ-को लिये खड़े हैं तब भी आत्मा अपने निजी रूप में कर्म करने-में स्वतंत्र है, और यह स्वतंत्रता का अवसर इसे मनुष्य-जन्ममें ही मिलता है। मनुष्य-जन्म कर्म-भूमि है। इस एक जन्ममें इतना सामर्थ्य है कि हम पिछले सभी जन्मोंके 'संचित' कर्मोंको इस जन्मके 'क्रियमाण'-कर्मसे काट सकते हैं। आख़िर, असली कर्म तो 'क्रियमाण'-कर्म ही हैं। जिन कर्मोंको हम 'संचित' कहते हैं, वे भी तो किसी समय किये ही जा रहे थे—'क्रियमाण' ही थे। यह नहीं माना जा सकता कि हरेक कर्म किसी-न-किसी पिछले कर्मका परिणाम है। अगर ऐसा माना जाय तब तो शुरू-शुरूका सिर्फ़ एक कर्म रह जाता है। उस एक कर्मसे—अगर किसी तरह हम अपने उस पहले जन्मको पकड़ पायें जो संभव नहीं है—यह सारा सिलसिला चल पड़ा—यह असंभव है। कर्मोंकी समस्याका हल तभी निकलता है जब हम यह मानें कि हरेक कर्म पिछलेका परिणाम तो है, परन्तु उसमें इस जन्म का नयापन भी अवश्य है, अगर नयापन न होता, तो आगे-आगेके कर्मों और कर्मोंके फलोंमें भेद क्यों होता? यह नयापन आत्म-तत्त्वकी अन्तर्निष्ठ स्वतंत्राके कारण है, यह नयापन ही कर्मके सिद्धांतकी अन्तरात्मा है। आत्माकी कर्म करनेकी इस स्वतंत्रताके आधारपर ही, बिल्कुल नया कर्म करनेकी, पिछले किसी कार्य-कारणके बंधन से न बंधें हुए कर्म करनेकी आत्म-तत्त्व की सामर्थ्यके सहारे ही आत्मा कर्मोंके चक्रमेंसे, विधिके

विधानमेंसे निकल सकता है, जन्म-जन्मान्तरोंकी माथेपर पड़ी लकीरोंको मिटा सकता है।

कर्म-चक्र कट सकता है—

कर्मका चक्र कैसे चल पड़ता है, और यह चक्र कैसे कट भी जाता है, यह कुछ उदाहरणोंसे स्पष्ट हो जायगा। आप बैठे एक लेख लिख रहे हैं, बड़ी तन्मयताके साथ, दत्त-चित्त होकर। इतनेमें पत्नीने आकर पुकारा, चलो घूम आयें। आप झुँझला उठे, क्रोधमें भर गये—इसलिए कि उसे इतना भी ख़्याल नहीं कि ऐसे समय जब विचारोंकी धारा एक ख़ास दिशामें बह रही है तब बीचमें उस श्रृंखलाको न तोड़े। आपने कहा, चुप रहो, काम करने दो। आपके क्रोधको देखकर उसे क्रोध आया—क्योंकि मानसिक-उद्वेग छूत की बीमारीकी तरह दूसरेके उद्वेगसे वेग ग्रहण कर लेता है। क्रोधको देखकर क्रोध बढ़ता है, भयको देखकर भय बढ़ता है, कामको देखकर काम बढ़ता है, लालचको देखकर लालच बढ़ता है। उसने कहा, चुप कैसे रहूं, घूमने का वक्त हो गया है, चलना होगा। आपने लिखना छोड़ दिया, अकड़कर बैठ गये, कह दिया, नहीं चलते—बस, तू-तू मैं-मैंका सिलसिला चल पड़ा, पति-पत्नीमें लड़ाई हो गयी, घंटों आप दोनों एक दूसरेसे नहीं बोले। यह एक छोटे-से कर्म-चक्रका दृष्टांत है। ऐसे चक्र हमारे जीवनमें रोज़ चला करते हैं, परन्तु हम जब चाहें ये कट भी सकते हैं। अगर जब आपको काम छोड़कर घूमने चलनेको कहा गया था तब आप चल पड़ते तो यह तू-तू, मैं-मैंका सिलसिला न चलता, अगर शांतिसे कह देते, अच्छा, दो-चार मिनटमें चलता हूँ, तब भी मामला आगे न

बढ़ता । चक्रको चलने देना, न चलने देना, आपके अपने हाथमें था । हर व्यक्तिके जीवनमें, हर रोज़, मानसिक-आवेगोंद्वारा, कर्मके ऐसे छोटे-से चक्र बना ही करते हैं, आवेगोंमेंसे निकलकर काम करना अपने ही हाथमें होता है, परन्तु हम ज़रा-ज़रा-सी बातमें लड़ा करते हैं, झगड़ा करते हैं, एक-दूसरेसे उलझा करते हैं, और कर्मका चक्र लम्बा होते-होते कभी-कभी बहुत बड़ा हो जाता है । पिछले दिनों अख़बारोंमें पढ़ा कि दो आनेके लेन-देनपर ख़ून हो गया । एक मोचीसे किसीने जूता ठीक कराया । मोचीने चार आने मांगे, देने-वालेने दो आने दिये । देकर वह चल दिया, मोचीने उसे पकड़ लिया । झगड़ा हो गया, झगड़ा बढ़ते-बढ़ते हाथापाई होने लगी, ग्राहकने मोचीका गला दबोच लिया, मोचीने उसका गला दबोचनेकी कोशिश की । ग्राहकने क्रोधके आवेशमें चाकू निकाला और मोचीके पेटमें खोप दिया, वह चिल्लाया और देखते-देखते चल बसा । कितनी छोटी-सी बात थी, कितना भयंकर परिणाम निकला । इस घटना पर बड़े-बड़े विचारक मग़ज़पच्ची कर सकते हैं । हो सकता है, यह सब पिछले जन्मका नाटक इस जन्ममें खेला जा रहा हो । इस जन्मका मरनेवाला पिछले जन्म-का मारनेवाला हो, इस जन्मका मारनेवाला पिछले जन्मका मरने-वाला हो । इस जन्ममें तो यह दो आनेका पहली बारका लेन-देन था, फिर इतनी भयंकर घटना किसी इतने ही भयंकर कारणके बिना कैसे हो गयी ? परन्तु फिर प्रश्न होगा, अगर ऐसी भयंकर घटना इस जन्ममें पहली बार नहीं हो सकती, तो पिछले जन्ममें पहली बार कैसे हुई होगी ? अगर यह माना जाय कि पिछलेसे पिछले जन्म में हुई होगी, तब तो पीछे-ही-

पीछे चलते चले जाना होगा । अगर इससे समस्या हल नहीं होती, तब कहीं कोई जन्म तो मानना ही पड़ेगा, जब ऐसी कोई भयंकर घटना इन दोनोंके जीवनमें पहली बार हुई होगी। अगर पिछले किसी जन्ममें पहली बार ऐसी घटना हो सकती है, तो इस जन्ममें भी पहली बार क्यों नहीं हो सकती ? समस्या यह नहीं है कि यह घटना कब हुई, इस जन्ममें पहली बार हुई, या पिछले किसी जन्ममें पहली बार हुई। यह तो स्पष्ट है कि इस जन्ममें, या पिछले किसी जन्ममें यह अवश्य पहली बार हुई, और जैसे पहली बार हुई, वैसे इसे पहली बार में समाप्त भी तो किया जा सकता था। हमारी व्यावहारिक समस्या यह है कि अगर यह घटना कर्मोंकी पिछली किसी श्रृंखलाकी कड़ी है, तो क्या इस श्रृंखलाको किसी समय आगे बढ़नेसे रोका जा सकता था, पीछे नहीं रोका गया तो क्या अब रोका जा सकता है, और अगर रोका जा सकता है, तो कैसे ? क्या यह चक्र अटल है, अमिट है, हम इसे तोड़ नहीं सकते, या यह टल सकता है, ! अगर नहीं टल सकता तो हमारा सब कर्म निरर्थक है, टल भी सकता है, तभी कर्मकी सार्थकता है। ये सब गुत्थियां वर्तमान घटनाका विश्लेषण करने पर स्वयं खुलने लगती हैं। घटना क्या थी ? मोचीने चार आने मांगे, ग्राहक ने दो आने दिये। अगर मोची दो आने लेकर चुप हो जाता, या ग्राहक चार ही आने दे देता, तब मामला आगे कैसे बढ़ता ? मोची दो आने लेकर चुप नहीं रहा, ग्राहक चार आने देनेपर राज़ी नहीं हुआ । क्यों ? इसलिये कि दोनों अपने-आपेको भूल गये, बुद्धि से काम लेने के स्थानमें मानसिक-आवेगोंसे काम लेने लगे। उनके आत्म-

तत्त्वपर क्रोध छा गया, लोभ छा गया, पैसेको दांतसे पकड़नेकी भावना छा गयी। अगर वे दोनों ज़रा सोच-समझसे काम लेते, तो मामला आगे बढ़ ही नहीं सकता था। जीव भोग-योनिमें तो परतन्त्र है, कर्म-योनिमें तो स्वतंत्र है— चाहे उस स्वतंत्रताका उपयोग करे या न करे। मोची और जूता गठवानेवाला दोनों भोग-योनिके जीवोंका-सा बरतने लगे, कार्य-कारणके थपेड़े खाने लगे, कर्म-योनिके जीवका-सा नहीं बरते, कार्य-कारण मेंसे निकलकर कर्मके सिद्धांतसे नहीं चले। परन्तु क्या चल नहीं सकते थे ? सारा प्रश्न तो मानसिक-उद्वेगोंमेंसे निकलनेका था। मनुष्य-जन्म दिया ही इसलिये गया कि मनुष्य सोच-समझसे काम ले, अपने स्वतंत्र-कर्तृत्वको जगाये, मनके आवेगों-में अन्धा होकर न चले। अगर उन दोनोंमेंसे कोई एक भी क्रोध न करता, तो कर्मका यह चक्र चाहे जन्म-जन्मान्तरसे, पीछेसे, चला आ रहा हो, या इस जन्ममें पहली बार आगेके लिये बनने जा रहा हो—एकदम टूट जाता। कर्मके चक्रका सारा प्रश्न मानसिक-उद्वेगोंमेंसे निकलनेका, काम-क्रोध-मोह-लोभको जीतने का प्रश्न है। इसमेंसे मनुष्य निकला नहीं और कर्म-चक्र टूटा नहीं।

महात्मा गांधीने इसी परीक्षणको एक विस्तृत क्षेत्रमें घटानेका प्रयत्न किया था। हमारा तथा अंग्रेज जातिके पारस्परिक कर्मोंका लेना-देना देरसे चला आ रहा था। वे भारत में लूट मचा रहे थे, भारत विद्रोह कर रहा था। अंग्रेज़ोंने जो-कुछ किया उसकी प्रतिक्रियामें १८५७ में ग़दर हुआ। हमारा क्रोध बढ़ा, उनका और ज़्यादा वढ़ा। क्रिया-प्रतिक्रिया चलती चली जा रही थी, कर्मका चक्र कहीं टूटता न था। इस बीच

महात्मा गांधीने एक नवीन विचारधाराको जन्म दिया। हम विद्रोह करें, परन्तु ऐसा विद्रोह करें जिससे प्रतिक्रिया उत्पन्न न हो, कर्मका चक्र न चले। प्रतिक्रियाका ग्राधार तो मानसिक-उद्वेग है। काम-क्रोध-लोभ-मोह ग्रादि के ग्रावेशमें जो कार्य किया जायगा उसीकी तो प्रतिक्रिया होगी। हम क्रोधमें किसी को मारेंगे, वह भी बदला लेनेके लिये ग्रपना हाथ उठायेगा, प्रेम की चपतपर कौन थप्पड़का जवाब थप्पड़से देता है ? १९१९ में ग्रमृतसर में जलियानवाला बाग़की दुर्घटना हुई, निहत्थोंको डायरने गोलियोंसे भून दिया। देशमें बदलेकी भावना वेगसे उठ खड़ी हुई। लोग क्रोधमें पागल हो गये। ग्रगर फिर पत्थरका जवाब पत्थरसे दिया जाता तो कर्म-चक्र फिर ग्रागे चल पड़ता। परन्तु ठीक इस समय महात्मा गांधीने कर्म-चक्रको काटनेका एक नया उपाय देशके सामने रखा। उन्होंने भी विद्रोह किया, परन्तु जिसके प्रति विद्रोह किया उसके प्रति वैर-भावको नहीं उत्पन्न होने दिया। काम कामको उत्पन्न करता है, क्रोध क्रोधको उत्पन्न करता है, लोभ लोभको उत्पन्न करता है, मोह मोहको उत्पन्न करता है—इसीसे चक्र चलता है। सकामताके सामने निष्कामता खड़ी हो जाय, क्रोध-के सामने ग्रक्रोध खड़ा हो जाय, लोभके सामने ग्रपरिग्रह ग्रौर त्याग खड़ा हो जाय, मोहके सामने वैराग्य खड़ा हो जाय, तो चक्र ग्राप-से-ग्राप टूट जाता है, ग्रगला सिलसिला बनने ही नहीं पाता। महात्मा गांधीके सत्यके लिये ग्राग्रह—'सत्याग्रह'—या ग्रसत्यसे ग्रलग रहना—'ग्रसहयोग'—इस विधि-निषेधात्मक ग्रान्दोलन का यही रहस्य है। हिंसा एक ऐसा कर्म है जो ग्रगले कर्मको उत्पन्न कर देता है, सिलसिलेको बढ़ा देता है; ग्रहिंसा

ऐसा कर्म है जो कर्मके शैतानकी आंतकी तरह एकके बाद निकलनेवाले दूसरे और दूसरेके बाद तीसरे कर्म को शुरू-शुरूमें ही काट डालता है। तभी तो संसारमें युद्धसे युद्ध न रुका, न रुक रहा है, न रुक सकेगा—यह सिलसिलेको बढ़ानेका रास्ता है। महात्मा गांधीकी इस विचारधारा के विश्व-भरमें प्रवाहित होनेसे, वैदिक-संस्कृतिके इसी दृष्टिकोणसे सोचने से युद्ध रुक सकते हैं। वैदिक संस्कृतिकी विचार-धारा है—'अक्रोधेन जयेत् क्रोधं असाधुं साधुना जयेत्। जयेत् कदर्यं दानेन सत्येनालीकवा-दिनम्।'

आवेगोंसे कर्मोंका बन्धन चलता है, आवेग ही कर्म-चक्रके मूल-स्रोत हैं। इस चक्रमेंसे निकलनेका रास्ता आवेगोंमेंसे निकल जाना है। उद्वेग मनुष्यको अन्धा बना देता है, उसके स्वतंत्र-कर्तृत्वको उससे छीन लेता है, उस समय आत्म-तत्त्व स्वयं कुछ नहीं करता, परिस्थितियां उसे नचाती हैं, कार्य-कारणकी शृंखलामें उसकी छीछालेदर होती है। उद्वेगके पीछे भोग-योनि के जीव चलते हैं। कर्म-योनिका उद्देश्य मानसिक-उद्वेग, काम-क्रोध आदिमेंसे निकलकर तर्कके, बुद्धिके, सोच-समझके क्षेत्रमें आ जाना है, अंधी शक्तियोंके थपेड़े खानेके स्थानमें मनचाहा संसार बनाना है। भोग-योनिमें कर्म कार्य-कारणके नियमके अनुसार चलता है। उस योनिमें जो होगा अटल नियमानुसार होगा। उस योनिमें कर्मके प्रेरक कारण काम-क्रोध-लोभ-मोह हैं, 'मानसिक-उद्वेग' (Emotions) हैं। भोग-योनिमें मानसिक उद्वेगोंसे धकेला हुआ प्राणी काम करता है। उस समय आत्म-तत्त्व अपनेको कर्म करनेमें स्वतंत्र अनुभव नहीं करता, वह जो करता है इसलिये करता है, क्योंकि उससे भिन्न कर ही नहीं

सकता, इस योनिमें काम-क्रोध कर्मों के ही अवश्यंभावी परिणाम हैं, इनपर विजय नहीं पाया जा सकता। कर्म-योनिमें ऐसा नहीं है। इस योनिमें 'मानसिक-उद्वेग' भी कर्मके प्रेरक कारण हो सकते हैं, प्राणी मानसिक-उद्वेगोंको मसल भी सकता है, बुद्धि-से, तर्कसे, सोच-समझ (Reason) से भी काम कर सकता है। कर्म-योनिमें कर्ताके सामने दो रास्ते हर समय खुले रहते हैं। एक रास्ता तो वह है जो कार्य-कारणका अवश्यंभावी परिणाम है, जो रास्ता भोग-योनिमें चल रहा है। परन्तु कर्म-योनिमें एक दूसरा रास्ता भी हर समय खुला है। इस योनिमें, आत्म-तत्त्व, अपने अन्तर्निहित स्वतंत्र-कर्तृत्वके कारण कार्य-कारणकी शृंखलाको तोड़कर, मानसिक-उद्वेगोंके पीछे चलनेके स्थानमें उन्हें बुद्धि तथा तर्कके पीछे चलाकर, एक बिलकुल नये रास्ते को भी पकड़ सकता है। कई मनुष्य मनुष्य होते हुए भी भोग-योनिके रास्तेपर ही चलते हैं। काम-क्रोध आदिमें अन्धे हो जाते हैं, अपने स्वतंत्र-कर्म करने के सामर्थ्य का प्रयोग नहीं करते, परन्तु मनुष्य वही है जो आत्म-तत्त्वके स्वतंत्र कर्तृत्वका प्रयोग करे, बुद्धि और तर्ककी आंखोंसे आगे-पीछे देखता हुआ कर्मके चक्रमें बंधनेके स्थानमें उसमेंसे निकलनेका प्रयत्न करे। ऐसा प्रयत्न करनेका सामर्थ्य अन्य किसी जन्ममें प्राप्त नहीं होता, केवल मनुष्य-जन्ममें प्राप्त होता है। मनुष्य-जन्ममें भी सामर्थ्य-भर प्राप्त होता है, यह मनुष्यकी इच्छापर निर्भर है कि वह इस सामर्थ्यका उपयोग करे, या न करे। जो उपयोग करता है वह क्रोधका बदला क्रोधसे नहीं लेता, वह क्रोधके बदलेमें शान्तिका स्रोत बहा देता है, घृणाका उत्तर घृणासे नहीं देता, घृणाकी प्रतिक्रियामें प्रेमकी रागिनी अलापने लगता

है, मानसिक-उद्वेगोंमें उलझनेके स्थानमें इनमेंसे निकल जाता है। वैदिक-संस्कृतिकी घोषणा है कि कर्मकी गांठोंको खोलनेका, कर्मके दुर्गम व्यूहमेंसे निकलनेका यही असली रास्ता है।

प्रश्न यह रह जाता है कि काम-क्रोध आदि मानसिक उद्वेगों-को हम जीत सकते हैं या नहीं ? कहीं ये पिछले जन्मके ही अमिट बन्धन तो नहीं ! वैदिक-संस्कृतिके पास इस प्रश्नका उत्तर यही है कि भोग-योनिमें तो मानसिक-उद्वेग कार्य-कारण-के नियमानुसार चलते हैं, परन्तु कर्म-योनिमें संचालन कर्मके आध्यात्मिक सिद्धान्तसे होता है। हम चाहें इनको दबा दें, चाहें न दबायें, चाहें सच बोलें, चाहें झूठ बोलें—इस योनिमें आकर जीव कर्म करनेमें स्वतंत्र हो जाता है। और, क्या हम इस बात-को अपने जीवनमें देखते नहीं ? हम क्रोधमें हैं—क्या क्रोध एक ऐसा आवेग है जिससे हम अपने को छुड़ा नहीं सकते ? ऐसी कोई बात नहीं है। क्रोधके समय हम क्रोधका विश्लेषण करने लगें—क्यों क्रोध आया, क्या यह ठीक है या ग़लत—इन बातों-पर सोचन लगें तो क्रोध एकदम काफ़ूर हो जाता है। प्रत्येक मानसिक-उद्वेगकी यही अवस्था है। मानसिक विकारके बादल आत्म-तत्त्वपर तभीतक छाये रहते हैं जबतक हम बुद्धिके प्रकाश-से उन्हें छिन्न-भिन्न नहीं कर देते। जहां बुद्धिकी आंखसे देखा वहीं उद्वेग समाप्त हो जाता है। काम-क्रोध आदिमें अन्धापन इन उद्वेगोंका सहचारी गुण है। जहां बुद्धि या तर्ककी आंख खुली वहीं मनुष्यको अन्धा बनानेवाले ये मानसिक-विकार समाप्त हो जाते हैं। कर्म-योनिमें तर्क है, भोग-योनिमें नहीं। कर्म-योनिमें तर्ककी सत्ता सिद्ध करती है कि काम-क्रोध पिछले जन्मके अमिट बन्धन नहीं, कट सकनेवाले बन्धन हैं, और इसी-

लिये वैदिक-संस्कृतिके सभी शास्त्र एक-स्वर होकर, एक ही पुकारसे मनुष्यको जगा रहे हैं—'उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान् निबोधत'—उठो, जागो, ज्ञानी पुरुषोंके चरणोंमें जाकर आत्म-तत्त्वको पहचानो—क्योंकि जिस घुमरघेरीमें हम आ पड़े हैं उसमेंसे मनुष्य-जन्ममें ही निकला जा सकता है, दूसरे किसी जन्ममें नहीं।

[५]

आत्म-तत्त्व

आत्म-तत्त्व एक यथार्थ-सत्ता है—

हम इस पुस्तकमें जगह-जगह 'आत्म-तत्त्व'—इस शब्द का प्रयोग करते आये हैं, और आगे करेंगे। हम आगे बढ़ने से पहले यह स्पष्ट कर देना उचित समझते हैं कि यह 'आत्म-तत्त्व' क्या है?

हम नदीके तटपर खड़े हैं। जलकी असीम राशि एक तरफ़से आती है, दूसरी तरफ़ निकल जाती है। यह असीम जल-राशि कहांसे आती है, कहां चली जाती है—इसे हम नहीं देख पाते। परन्तु क्या नदीका प्रवाह सिर्फ़ उतना है जितना हमारी दृष्टिके सामने है? नहीं, जितना हमें दीख रहा है वह उस जल-प्रवाहका सौवां हिस्सा भी नहीं जो पीछेसे आ रहा है, आगे बढ़ा जा रहा है। जीवन-रूपी नदीके इस विशाल प्रवाहमें हम एक बिन्दु पर खड़े हैं। यह जीवनका प्रवाह इस बिन्दुके पीछे कहांसे आता है और इसके आगे कहां चला जाता है—इसे हम नहीं देख पाते। परन्तु नहीं देख पाते, तो क्या हमारा जीवन सिर्फ़ वह बिन्दु है जो हमें दीख रहा है? क्या इस बिन्दुके पीछे जीवनका कोई प्रवाह नहीं बह रहा? क्या इस बिन्दुपरसे निकलकर जहां हम खड़े हैं यह वहांसे आगे नहीं चला जा रहा? कितनी अस्वाभाविक-सी बात मालूम पड़ती है। साठ-सत्तर-अस्सी बरस हम इस जीवनमें बिताते हैं। यह जीवनका

स्रोत जब हम जन्मे तभी फूटा, और जब हम कूचका डंका बजाते चल दिये तब यहीं सूख गया—यह कैसे हो सकता है ? ये साठ-सत्तर-अस्सी बरस क्या एक खेल है ? यह सब गोरखधंधा क्या है ? हम संसारमें आये । क्यों आये ? क्या रज-वीर्यके संयोगमात्रसे हम पैदा हो गये, क्या इतने मात्रसे एक सिकन्दर बन गया, नैपोलियन बन गया, शंकराचार्य बन गया, दयानन्द बन गया, गांधी बन गया, दूसरा जन्मसे ही कोढ़ी बन गया, अंधा बन गया, अपाहिज बन गया । हमने जीवनमें कई काम कर डाले, कुछ पूरे हुए, कुछ अधूरे रहे । इन अधूरोंको छोड़कर हम चल दिये, बैठे-बैठे हमें बुलावा आ गया । क्या इन कामोंमें हाथ डालनेका एक हंसी-खेलके सिवा कोई मतलब नहीं था ?—ये प्रश्न हैं जिनकी तरफ़ प्रत्येक व्यक्तिका बरबस ध्यान जाता है, हमारा ही नहीं, जबसे मनुष्य-समाजने चिन्तन शुरू किया, तबसे मनुष्यको ये प्रश्न व्याकुल करते रहे, और वह इनका हल ढूंढता रहा । वैदिक-संस्कृतिके विचारकोंने इन प्रश्नोंकी बहुत गहरी मीमांसा की थी । वे इस परिणामपर पहुंचे थे कि जिस प्रकार नदीका प्रवाह पीछेसे आता है, आगे चला जाता है, सामने जो-कुछ है वह असलका बहुत थोड़ा-सा हिस्सा है, इसी प्रकार जीवन-रूपी नदीका प्रवाह पीछेसे आ रहा है, आगे बढ़ा जा रहा है । यह जीवन जो हमारे सामने है, वह असल जीवनका एक अत्यन्त छोटा-सा हिस्सा है । हमारी सत्ताका एक बहुत बड़ा हिस्सा पीछे है, और एक बहुत बड़ा हिस्सा ही आगे है । वर्तमान तो इस महान् जीवन-प्रवाहमें एक छोटा-सा बिन्दु है । हम पिछले प्रवाहको लेकर आते हैं, इस जीवनके वर्तमान प्रवाह-को अगले प्रवाहमें मिला देते हैं । आज यहां हमारे सामने जो-

कुछ है, पौधेकी तरह फूट रहा है, उसका बीज पहले-कभी पड़ा था, और आज जो बीज बोया जा रहा है, उसका अंकुर भविष्यमें फूटनेवाला है। यह जीवन एक खेल नहीं, तमाशा नहीं, रज-वीर्यका संयोग-मात्र नहीं। यह किसी महान् व्यवस्थाका अंग है। रज-वीर्यका संयोग होना तो ज़रूरी है, परन्तु इतनेमात्रसे नैपोलियन और सिकन्दर हो जाते, दयानन्द और गांधी हो जाते, तो आये-दिन इनकी बहार होती। पहाड़ों, घाटियों और मैदानोंमें जैसे नदीका प्रवाह बहता जाता है, वैसे भिन्न-भिन्न जन्मोंमें जीवन का प्रवाह बह रहा है—वही प्रवाह जो पहाड़पर था मैदानमें बह रहा है, वही जीवन जो एक जन्ममें था दूसरे जन्मोंमें बढ़ता जाता है। नदीके पाट नदी नहीं, पाटोंमें बह रहा जलका प्रवाह नदी है, इसी प्रकार हमारे ये भिन्न-भिन्न शरीर जीवन नहीं, इन शरीर-रूपी पाटोंमें पीछेसे आ रहा और आगे बढ़ा जा रहा प्रवाह ही जीवन है, यही आत्म-तत्त्व है।

वैदिक-संस्कृतिके विचारकोंका कहना था कि आत्म-तत्त्व एक यथार्थ सत्ता है, वैसी ही यथार्थ-सत्ता जैसी इस शरीरकी यथार्थ-सत्ता है। यह भी है, वह भी है। शरीर आत्म-तत्त्व नहीं, आत्म-तत्त्व शरीर नहीं। दोनों एक-दूसरेसे भिन्न हैं। किसी मकानमें बिस्तर बिछा हो, तो क्या समझा जायगा? क्या यह समझा जायगा कि बिस्तरके सोनेके लिये बिस्तर बिछा है, बिस्तर बिस्तरपर सोता है, या यह समझा जायगा कि किसी आदमीके सोनेके लिये बिस्तर बिछा है? शरीर भी एक प्रकारका बिस्तर नहीं तो क्या है? शरीरके लिये ही शरीर नहीं हो सकता। बिस्तर तो किसीके लिये है, उसके लिये जो बिस्तरसे अलग है, बिस्तरका इस्तेमाल कर सकता है। शरीर भी

किसी दूसरेके लिये है, किसी ऐसेके लिये जो शरीरसे अलग है, और शरीरका इस्तेमाल कर सकता है। जो शरीर नहीं, शरीर-से अलग है, जिसके लिये शरीर है, जो शरीर के लिये नहीं है, वही आत्म-तत्त्व है।

आत्म-तत्त्व तथा शरीरका संबंध—

आत्म-तत्त्व शरीरसे अलग ही हो, और इन दोनोंका आपसका कोई सम्बन्ध न हो, ऐसी बात भी नहीं है। इन दोनोंका एक ख़ास सम्बन्ध है, और वह सम्बन्ध वही है जो दीखता है। बड़े-छोटे, अमीर-ग़रीब, अच्छे-बुरे सबको दीखता है कि शरीर आत्माके भोगका साधन है। आत्मा और शरीरका वास्तविक सम्बन्ध भोक्ता और भोग्यका, कर्ता और कर्मका, साधक और साधनका संबंध है। इन दोनोंके इस सम्बन्धको युक्तियोंसे सिद्ध करनेकी आवश्यकता नहीं, यह सम्बन्ध स्वभाव-सिद्ध है। मनुष्य ही मकानमें रह सकता है, मकान मनुष्यमें नहीं रह सकता, चेतन ही जड़का उपभोग कर सकता है, जड़ चेतनका उपभोग नहीं कर सकता, शरीर ही आत्माका साधन हो सकता है, आत्मा शरीरका साधन नहीं हो सकता। असल बात तो यही है, परन्तु फिर भी व्यवहारमें ऐसा नहीं दीखता। हम शरीरको साधन समझकर नहीं चलते, शरीरको ही सब-कुछ समझकर चलते हैं। शरीर दुःखी हो तो हम दुःखी, शरीर सुखी हो तो हम सुखी, शरीरको ही हम सब-कुछ मानकर अपना सारा व्यवहार चलाते हैं—इसका क्या कारण है? अगर आत्म-तत्त्व है, और अगर शरीर ही आत्म-तत्त्व नहीं, तो शरीर के दुःखी होनेसे हम क्यों अनुभव करते हैं कि सारा दुःख हमीं

पर आ पड़ा, सुखी होनेसे क्यों अनुभव करते हैं कि अब हमें और किसी चीज़ की आवश्यकता नहीं।

इस व्यावहारिक समस्याका उत्तर हमारे व्यवहारसे ही मिल जाता है। मैं मकान बनाता हूँ, मोटर ख़रीदता हूँ, बाग लगाता हूँ, मुझे यह स्पष्ट अनुभव है कि मैं मकानके लिये नहीं हूँ, मकान मेरे लिये है, मैं मोटरके लिये नहीं हूँ, मोटर मेरे लिये है, मैं बगीचे-के लिये नहीं हूँ, बग़ीचा मेरे लिये है। परन्तु क्या हम नहीं देखते कि मकान हाथसे खो जानेपर मनुष्य अपनेको खो बैठता है, मोटर छिन जानेपर वह अपनेको छिना-सा अनुभव करने लगता है, बगीचा उजड़ जानेपर वह उजड़ा-उजड़ा फिरता है। अगर हम अपनेको मकानसे, मोटरसे, बग़ीचेसे अलग अनुभव करें, तो इनके बननेसे हम अपने को बनता-सा, इनके बिगड़नेसे अपनेको बिगड़ता-सा न मानने लगें। ये चीज़ें हमसे अलग हैं, हमसे भिन्न हैं—इसे मूर्ख-से-मूर्ख व्यक्ति भी जानता है, परन्तु जानता हुआ भी अपनेको इनमें इतना खो देता है कि इन वस्तुओंको 'मैं' समझकर ही वह दुनियाँमें चलता-फिरता है। ठीक इसी तरह यह शरीर 'मैं' नहीं हूँ, यह शरीर मेरा मकान है, मेरा साधन है, मेरा भोग्य है। वह 'मैं' जो असलमें 'मैं' है, इस शरीरसे ठीक इसी तरह अलग है जैसे यह शरीर मकानसे, बाग़-बग़ीचेसे अलग है। और, जैसे मैंने, मकान-बाग़-बग़ीचेसे अपनेको भिन्न जानते हुए भी अभिन्न बना रखा है, वैसे शरीरमें रहनेवाले आत्माने शरीरसे भिन्न होते हुए भी अपनेको शरीरसे अभिन्न बना रखा है। वैदिक-संस्कृति ठीक इस बिन्दुपर आकर समस्याकी उलझनको पकड़ लेती है। शरीर आत्मा नहीं है, शरीर आत्माका साधन है, आत्मा शरीर-का भोक्ता है, शरीर रथ है, आत्मा उसका रथी है—'आत्मानं

रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु'—यथार्थ सत्य यही है, परन्तु आत्म-तत्त्व शरीरमें अपनेको खोये दे रहा है, स्वयं रथ और शरीर को रथी समझ रहा है, शरीरके लिये अपने को मिटाये दे रहा है—ठीक इसी कमज़ोरीको निकाल देनेकी, गलतीको पकड़ लेनेकी आवश्यकता है। आत्म-तत्त्वने जहां अपनेको शरीरके सामने झुकाया, वहीं वैदिक-संस्कृतिने उंगली उठाकर खड़ी कर दी, और कह दिया कि हमारे जीवनकी दिशामें ग़लतीका श्रीगणेश यहींसे हो रहा है।

आत्म-तत्त्वका स्वरूप—

उपनिषद्ने ठीक कहा है—जिसके बिना आंखें देख नहीं सकतीं, जिसकी आंख साधन हैं, जो आंखोंद्वारा देखता है, वही आत्मा है ; जिसके बिना कान सुन नहीं सकते, जिसके कान साधन हैं, जो कानोंद्वारा सुनता है, वही आत्मा है ; जिसके बिना नासिका सूंघ नहीं सकती, जिसके लिये नासिका साधन है, जो नासिकाद्वारा सूंघता है, वही आत्मा है ; जिसके बिना मुख रस नहीं ले सकता, जिसका मुख साधन है, जो मुखद्वारा रस लेता है, वही आत्मा है ; जिसके बिना त्वचा स्पर्श नहीं कर सकती, जिसकी त्वचा साधन है, जो त्वचाद्वारा स्पर्श करता है, वही आत्मा है ; जिसके बिना मन मनन नहीं करता, जिसका मन साधन है, जो मनद्वारा सोच-विचार करता है, वही आत्मा है। आत्मा भोक्ता है, कर्ता है, द्रष्टा है, श्रोता है, घ्राता है, रसयिता है, स्पर्ष्टा है, मन्ता है। आत्मा भोक्ता है, परन्तु जब संसारके भोगोंमें लीन होने लगता है, उन भोगोंसे अपनेको अलग नहीं कर सकता, तभी भोग्य बन जाता है। संसारको

भोगते हुए भोगोंके बन्धनमें न पड़ना भोक्ता बने रहना है, भोगनेपर भोगमें अपनेको खो देना भोग्य बन जाना है। आत्मा कर्ता है, परन्तु जब संसारके कर्मोंमें वह इस तरह जुट जाता है कि उनसे अपनेको जुदा कर ही नहीं सकता, काम-धन्धे आत्माको दबा लेते हैं, तभी वह कर्म बन जाता है। संसारके काम करते हुए उन्हें इतना करना कि वे काम हमारे गले में ज़ंजीर बनकर न पड़ जायं, कर्ता बने रहना है, काम करते हुए काममें फंस जाना कर्म बन जाना है। आत्मा द्रष्टा है, परन्तु जब संसारके दृश्योंमें रमकर वह अपनेको भूल जाता है, तब दृश्य बन जाता है। जबतक इन दृश्योंमें रमते हुए भी अपनेको नहीं भुलाता, तभीतक वह द्रष्टा है। आत्मा श्रोता है, परन्तु जब संसारके मधुर-स्वरोंके रसमें अपनेको खो देता है, तब श्रव्य बन जाता है। जबतक शब्द-रसका आनन्द लेते हुए भी वह अपनेको खो नहीं देता तभीतक वह श्रोता है। आत्मा घ्राता है, परन्तु जब संसारके गंधोंमें वह मस्त हो जाता है, गन्धके सिवा उसे कुछ नहीं सूझता, तब घ्राता के स्थानपर वह घ्राय्य बन जाता है, तब संसार मानो उसे सूंघने लगता है। जबतक गन्ध लेता हुआ भी वह उसमें बेसुध नहीं होता, तभीतक वह घ्राता है। आत्मा रसयिता है, परन्तु जब संसार-के रसों में वह बह जाता है, तब स्वयं रस बन जाता है, तब संसार मानो उसे चखने लगता है। जबतक रस लेता हुआ भी वह रसमें बहता नहीं तभीतक वह रसयिता है। आत्मा स्पर्ष्टा है, परन्तु जब संसारके कोमल-कोमल स्पर्शोंका मज़ा लेनेमें वह इतना लीन हो जाता है कि स्पर्शके सिवा उसे कुछ अच्छा नहीं लगता, तब वह स्पृश्य बन जाता है, संसार मानो उसके स्पर्श-

का मज़ा लूटने लगता है। जबतक स्पर्श करता हुआ भी वह स्पर्शमें धंस नहीं जाता, तभीतक वह स्पर्ष्टा है। आत्मा मन्ता है, परन्तु संसारकी तरफ़ खींचनेवाले विचारोंमें जब वह खिंचा चला जाता है, तब वह स्वयं मननका विषय बन जाता है, तब मानो संसार उसका मनन करने लगता है, और सोचता है कि यह क्या तत्त्व है जो कर्त्ता बनकर आया था, कर्म बन गया, द्रष्टा बनकर आया था, दृश्य बन गया, श्रोता बनकर आया था, श्रव्य बन गया, घ्राता बनकर आया था, घ्राय्य बन गया, रसयिता बनकर आया था, रस बन गया, स्पर्ष्टा बनकर आया था, स्पृश्य बन गया, मन्ता बनकर आया था, मननका विषय बन गया। उपनिषदोंमें जहां-तहां बिखरी हुई वैदिक-संस्कृतिका संदेश है—हम भोक्ता हैं, भोग्य बने हुए हैं; कर्ता हैं, कर्म बने हुए हैं; द्रष्टा हैं, दृश्य बने हुए हैं; श्रोता हैं, श्रव्य बने हुए हैं; घ्राता हैं, घ्राय्य बने हुए हैं; रसयिता हैं, रस बने हुए हैं; स्पर्ष्टा हैं, स्पृश्य बने हुए हैं; मन्ता हैं, मनन का विषय बने हुए हैं; रथी हैं, रथ बने हुए हैं; स्वामी हैं, भृत्य बने हुए हैं; राजा हैं, रंक बने हुए हैं—आत्म-तत्त्वके अपने स्वरूप में उद्बुद्ध होनेकी आवश्यकता है।

आत्म-तत्त्वके दो विशेष गुण—
'तद्रूपता' तथा 'पृथक्-रूपता'—

आत्म-तत्त्व अपने स्वरूपको प्रकृतिमें क्यों खो देता है? इसलिये, क्योंकि 'तद्रूपता' इसका स्वभाव है। जिसके साथ यह मिलकर चलता है उसीको 'मैं' समझने लगता है। यह शरीर 'मैं' नहीं है, परन्तु शरीरके सम्पर्कमें आकर आत्मा शरीरको,

शरीरकी इन्द्रियोंको 'मैं' पुकारने लगता है। सांख्य-दर्शनने विश्व-रचनाकी मीमांसा करते हुए बतलाया है कि पहले प्रकृति थी, फिर प्रकृतिसे महत्-तत्त्व, महत्-तत्त्वसे अहंकार-तत्त्व, अहंकार-तत्त्वसे सम्पूर्ण ब्रह्मांडकी रचना हुई। हमारे व्यक्तित्वमें जो अहंता है, वह आत्माकी नहीं, प्रकृतिकी है। आत्मा जब इस अहंताके सम्पर्कमें आता है, तो तदाकार हो जाता है, क्योंकि विषयके साथ 'तद्रूपता' इसका स्वाभाविक गुण है। इसी भावको गीतामें—'प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः। अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते'—'प्रकृतिके अहंकार-तत्त्वके साथ मिल जानेके कारण प्रकृतिके जो धर्म हैं उन्हें आत्मा अपने धर्म समझने लगता है'—यह कहा है। प्रकृतिके साथ मिले बिना आत्म-तत्त्वका विकास नहीं हो सकता इसलिये वह प्रकृतिका सहारा लेता है। आत्म-तत्त्वका विकास इसी प्रकार हो सकता है, इसके बिना नहीं। आत्मा प्रकृतिका सहारा ले, परन्तु अपनेको प्रकृति न समझने लगे—इसी मार्गसे आत्मा-की शक्ति उद्बुद्ध हो सकती है, नहीं तो यह अपनी सारी शक्ति-को खो बैठता है। हम देखते नहीं कि काम-क्रोध-लोभ-मोहके आवेगमें हम इतने बह जाते हैं जैसे आत्मापर इनकी आंधी आ चढ़ी हो, इनसे हम ऐसे दब जाते हैं जैसे हम इनके सिवा कुछ नहीं? परन्तु क्या आत्म-तत्त्वका यही स्वरूप है? जिस समय मेरे शरीरका तार-तार क्रोधमें कांप रहा होता है, मैं आपेसे बाहर हो जाता हूँ, तब क्या इस प्रकारका भयानक रूप आत्मा धारण कर लेता है? ऐसी बात नहीं है। क्रोधकी अवस्थामें आत्म-तत्त्व नहीं, अहंकार-तत्त्व क्रोधके आवेशमें भरा होता है, और क्योंकि आत्म-तत्त्वका स्वभाव विषयके साथ 'तद्रूप' हो जानेका है, इस-

लिये ऐसा प्रतीत होने लगता है कि आत्म-तत्त्वमें भूचाल आ गया, उथल-पुथल मच गयी। दूसरेको क्रोधमें देखकर हम दो प्रकारकी प्रतिक्रियाएँ कर सकते हैं। एक प्रतिक्रिया तो यह है कि जैसे वह क्रुद्ध होकर हाथ-पैर पटक रहा है वैसे हम भी हाथ-पैर पटकने लगें, अंट-संट बकने लगें; दूसरी प्रतिक्रिया यह है कि हम उसकी हरकतको देखकर उसके साथ तद्रूप न हो जायं, द्रष्टाकी भांति उसे देखकर टाल भर जायं। ठीक इसी तरह जब हमारे अपने भीतर क्रोधकी उथल-पुथल मच रही हो, तब भी तो हमारा आत्म-तत्त्व दोनों प्रकारकी प्रतिक्रियाएं कर सकता है। एक प्रतिक्रिया तो यह है कि अहंकार-तत्त्वमें लबालब भर रहे क्रोधके साथ आत्म-तत्त्व तदाकार हो जाय, तद्रूप हो जाय। सहज, स्वाभाविक प्रतिक्रिया यही है। दूसरी प्रतिक्रिया यह भी हो सकती है कि अपनेसे ज़रा पीछे हटकर, अहंकार-से अपनी तद्रूपता या तदाकारता हटाकर, द्रष्टा बनकर आत्म-तत्त्व अपने अहंकार-तत्त्वमें भर रहे क्रोधको देखने लगे—स्वयं 'द्रष्टा' बनकर इस 'दृश्य' को देखे। जब आत्म-तत्त्व इस प्रकार देखने लगेगा उसी समय क्रोध शान्त हो जायगा क्योंकि क्रोध 'आत्म-तत्त्व'में नहीं, 'अहंकार-तत्त्व'में था, जो आत्मा का नहीं प्रकृति का गुण है। क्रोध ही क्या, जितने भी मानसिक-उद्वेग हैं, सब-के-सब, आत्म-तत्त्वके तद्रूपता और तदाकारताके स्वभावके कारण उसमें दीख पड़ते हैं। आत्म-तत्त्वके विकासके लिये उसका ऐसा स्वभाव होना आवश्यक है। तभी तो प्रकृतिके स्थानमें जब वह सृष्टिके परम-तत्त्वके सम्पर्कमें आता है तब वह उस परमात्म-तत्त्वके गुणोंके साथ अपनी तद्रूपता स्थापित कर लेता है। योग-शास्त्रने

इसी भावको प्रकट करते हुए कहा है कि जैसे स्फटिक-मणिके सामने फूल हो तो उसमें फूलका प्रतिविम्ब पड़ता है, वैसे आत्मा-के सामने प्रकृति हो तो उसमें प्रकृतिका, परमात्मा हो तो परमा-त्माका प्रतिबिम्ब पड़ता है, उससे तद्रूपता हो जाती है। परन्तु तद्रूपताके स्वभावका यह अभिप्राय नहीं कि आत्म-तत्त्व विषयके तद्रूप ही हो सकता है, उससे अपनेको अलग नहीं कर सकता। जैसे तद्रूप होना उसका स्वभाव है, वैसे विषयसे अपनेको अलग कर लेनेकी भी उसमें सामर्थ्य है। अभी हमने देखा कि क्रोधके हम तद्रूप हो जाते हैं परन्तु क्रोधसे अपनेको अलग करके, द्रष्टा बन-कर, उस क्रोधकी अवस्थाका विश्लेषण भी कर सकते हैं, 'क्रुद्ध-मैं'को दृश्य बनाकर 'आत्म-तत्त्व' के द्रष्टाकी हैसियतसे भी हम देख सकते हैं। जब कोई क्रोधमें भर रहा हो, हम उसे कहते हैं, अपनेसे ऊपर उठो, तब हम ऐसा क्यों कहते हैं? उस समय हम आत्मा-अनात्माके भेदको स्पष्ट देख रहे होते हैं, हम देख रहे होते हैं कि 'मैं' जो क्रोध कर रहा हूँ, लोभ कर रहा हूँ, वह वास्तवमें 'मैं' नहीं हूँ, 'मैं'ने ग़लतीसे अनात्माको आत्मा समझा हुआ है, जो 'मैं' नहीं हूँ, उसे 'मैं' समझा हुआ है, नहीं तो कोई क्यों कहे, अपनेसे ऊपर उठ, अपने स्वरूपको पहचान! आत्म-तत्त्वमें दोनों बातें हैं—'तद्रूपता' और 'पृथक्-रूपता'। जब प्रकृतिके साथ वह तद्रूपता स्थापित करता है तब प्रकृतिके साथ एक हो जाता है, उसमें इतना घुल-मिल जाता है कि अपने स्वरूपको खो बैठता है। परन्तु उसमें पृथक्-रूपताकी भी तो सामर्थ्य है। प्रकृतिमें रहते हुए ही जब उससे वह अपनी पृथक्ता स्थापित कर लेता है तब उसका यथार्थ स्वरूप प्रकट होता है। आत्मा कर्ता है, भोक्ता है, द्रष्टा है—यह सब-कुछ वह

तभी है जब प्रकृतिमें रहता हुआ वह तद्रूप और तदाकार न हो जाय, प्रकृतिमें अपनेको खो न दे, प्रकृतिको अपना साधन समझे, और इसे साधन समझकर जो चाहे इसका उपयोग करे, ऐसा न हो कि 'प्रकृति', या प्रकृतिका पुत्र 'अहंकार-तत्त्व' आत्म-तत्त्वका उपभोग करने लगे। इस एक विचारमें वैदिक-संस्कृति-का मूल निहित है।

आत्म-तत्त्वकी शक्ति—

आत्म-तत्त्व अपने स्वरूपमें आकर इसमें निहित जो महान् शक्ति है उसे जाग्रत् करता है, जैसे पांचों महाभूत जड़के समान हैं, परन्तु उनमें कितनी असीम शक्ति भरी हुई है? पृथिवी बेकार पड़ी है, परन्तु इसमें कितनी शक्ति है, इसमें बीज डाल-कर क्या-क्या नहीं पैदा किया जा सकता? जलकी असीम राशि यूं ही वहती रहती है, परन्तु उसीसे विद्युत् उत्पन्न की जाती है। अग्निमें छिपी शक्तिसे रेल, जहाज, तोप, बन्दूक चलते हैं। देखनेको ये महाभूत कितने निर्जीव दीखते हैं, परन्तु इनकी शक्तिका आविर्भाव करनेसे वे कितने सजीव हो जाते हैं। ठीक ऐसे, आत्म-तत्त्व असीम शक्तिका भंडार है। वह सारी शक्ति इसमें ऐसे ही छिपी बैठी है जैसे पृथिवी-अप्-तेज-वायु-आकाश-की शक्ति इन तत्त्वोंमें छिपी बैठी है। आत्म-तत्त्वमें असीम शक्ति है—इतना कह देने-मात्रसे वह शक्ति नहीं जग उठती, उस शक्तिके विकासके साधन करने होंगे, तभी वह शक्ति जाग्रत् होगी, अन्यथा आत्म-तत्त्व भी प्रकृति-तत्त्वके समान जड़वत्, अशक्त वना रहेगा। वह शक्ति भौतिक शक्ति नहीं होगी। आत्म-तत्त्वकी शक्तिके विकाससे बिजली, भाप, आदि नहीं

पैदा होंगी। भौतिक-पदार्थ भौतिक-शक्ति उत्पन्न करेंगे, तो आध्यात्मिक-तत्त्व आध्यात्मिक शक्ति उत्पन्न करेंगे। आत्म-तत्त्वकी शक्तिके विकासका रूप क्या होगा? उसके विकाससे अनेकताके स्थानमें एकता, स्वार्थके स्थानमें परार्थ, द्वेषके स्थान-में प्रेम एवं अशांतिके स्थानमें शांति पैदा होगी। ये तत्त्व प्रकृति-मेंसे नहीं आत्म-तत्त्वमेंसे निकलते हैं। आख़िर, जाने-अनजाने हम इन्हींको लक्ष्य बनाकर ही तो चल रहे हैं। हम युद्धकी बात करते हैं तब भी कहते हम यही हैं कि हमारा लक्ष्य ऐसी लड़ाई लड़ना है जिससे आगे किसी लड़ाईकी संभावना ही न रहेगी। वैदिक-संस्कृतिका डंकेकी चोट कहना यह है कि आत्म-तत्त्वके विकासके बिना मानव-समाज उस लक्ष्य तक नहीं पहुंच सकता जिधर जानेके लिये यह हाथ-पांव पटक रहा है, क्योंकि एकता, शक्ति, विश्व-बन्धुत्व आदि जिन तत्त्वोंकी खोजमें मनुष्य भटक रहा है उनका स्रोत बाहर नहीं, भीतर है, प्रकृतिमें नहीं आत्मा-में है, आत्मा ही इन तत्त्वोंके लिये शक्तिका भंडार है।

जो लोग कहते हैं कि आत्म-तत्त्व प्रकृतिको छोड़कर, प्रकृति से हटकर अपने यथार्थ विकासके मार्ग पर चलेगा, वे ग़लत कहते हैं। वैदिक-संस्कृतिका कहना यह नहीं है। वैदिक-संस्कृति का कहना यह है कि प्रकृतिको छोड़कर आत्म-तत्त्व एक क़दम भी आगे नहीं बढ़ सकता। अपने विकासके लिये आत्म-तत्त्व प्रकृति का सहारा लेकर ही चल सकता है। ग़लती सिर्फ़ इस बातमें हो जाती है कि जो सहारा है, वह सहारा ही नहीं बना रहता, धीरे-धीरे वही मुख्य स्थान ग्रहण करने लगता है। वैदिक-संस्कृति आत्म-विकासको इस ग़लत रास्तेपर जानेसे बचा लेती है।

पांच कोशोंद्वारा आत्म-तत्त्वका विकास—

आत्म-तत्त्व और प्रकृति-तत्त्वका मेल न होता तो संसार-का विकास ही न हो पाता। जितना विकास है, जितनी गति है, आत्म-तत्त्वके कारण है। स्वयं प्रकृति तो जड़ है, जड़में अपने भीतरसे ही तो गति नहीं उत्पन्न हो सकती। अगर जड़में स्वाभाविक गति हो, बाहरसे किसीने दी न हो, तो वह एक ही दिशामें चलती चली जायगी, वह रुक ही नहीं सकती, न जिस दिशा में जा रही है उससे किसी भिन्न दिशामें जा सकेगी। जैसे प्रकृति अपनेंसे अतिरिक्त किसी अन्य तत्त्वके बिना गति नहीं कर सकती, वैसे आत्म-तत्त्व भी प्रकृतिकें बिना विकासके मार्गपर नहीं चल सकता। चलेगा तो प्रकृतिके द्वारा चलेगा, प्रकृतिको माध्यम बनाकर चलेगा। आत्म-तत्त्व अपनेको प्रकृति-द्वारा ही प्रकट कर सकता है, और किसी तरह नहीं, इसलिये प्रकृतिको छोड़नेंसे उसका काम नहीं चल सकता। जब आत्म-तत्त्व प्रकृतिको माध्यम बनाकर अपनें स्वरूपको प्रकट करनेका प्रयास करता है तब सृष्टि विकासके मार्गपर चल पड़ती है, ठीक ऐसे जैसे रेलका एंजिन जब गाड़ीके डब्बोंके साथ जुड़कर चलने लगता है तब सारी रेलगाड़ी एंजिनकी चालसे चलने लगती हैं। आत्माके विकासकी इस प्रक्रियामें सबसे पहली अवस्था तब आती है जब जड़-जगत्में किसी भी स्थानपर चेतनताका आवि-र्भाव हो जाता है। यह चेतनता क्या है? यह आत्म-तत्त्वका, प्रकृति-तत्त्वको माध्यम बनाकर, अपनेको प्रकट करनेका प्रयत्न है, इसीका नाम 'देह'का उत्पन्न हो जाना है। जितना अन्नमय जगत् है, उद्भिज जगत्, वृक्ष-लता-ओषधि-वनस्पति—ये सब इस

दृष्टिसे आत्म-तत्त्वके प्रथम विकास हैं, और इतने अंशतक जीवित हैं जितने अंशतक प्राण न लेनेपर भी उगने-बढ़ने-फूलने-फलनेवाले देहको जीवित कहा जा सकता है। इनमें भोजनका आदान-प्रदान, जीना-बढ़ना-मरना पाया जाता है, परन्तु आत्म-तत्त्वका यह विकास अत्यन्त प्रारंभिक, अत्यन्त निम्न-स्तरका विकास है क्योंकि इसमें अभी प्राणका विकास नहीं हुआ होता। इस विकासके बाद, प्रकृतिको माध्यम बनाकर, आत्म-तत्त्वके विकासकी दूसरी अवस्था वह आती है जब देहमें 'प्राण'का विकास हो जाता है। यह अवस्था वृक्ष-लता-ओषधि में नहीं, कीट-पतंग-पशुमें पायी जाती है। इनमें आत्म-तत्त्वका विकास वृक्ष आदिकी तरह देहतक न रुककर प्राणतक चला गया है। यह आत्म-तत्त्वके विकासकी द्वितीय अवस्था है, परन्तु यह भी निम्न अवस्था है। इसके बाद आत्म-तत्त्व और ज़ोर मारता है, और वेग पकड़ता है, और जब वह वेग प्रबल हो जाता है, तब 'मन' प्रकट होता है, यह आत्म-तत्त्वके विकास की, अपनेको प्रकट करनेकी तीसरी अवस्था है। यह अवस्था मनुष्यमें दिखायी देती है। वर्तमान युगके महान् विचारक श्रीअरविंदका कहना था कि विकासोन्मुखी आत्म-तत्त्व अभीतक इस तीसरी अवस्था तक ही पहुंचा है, अभी चौथी अवस्था और आनेवाली है। जैसे आत्म-तत्त्वके अभीतकके विकासमें 'देह' प्रकट हुआ, फिर 'प्राण' प्रकट हुआ, फिर 'मानस' प्रकट हुआ, वैसे अब चौथा तत्त्व 'अतिमानस' प्रकट होगा। सृष्टिमें 'देह'का प्रकट होना एक महान् घटना थी, उसके बाद जब 'प्राण' प्रकट हुआ तब दूसरी महान् घटना घटी, फिर जब 'मानस' प्रकटा तब तीसरी महान् घटना घटी, और अब जब 'अतिमानस' प्रकट होगा तब तो आत्म-तत्त्वके विकासमें महान्-

तम घटना घटेगी। श्रीअरविंदका कहना था कि जैसे वनस्पति एक विशेष योनि है, पशु एक दूसरी योनि है, मनुष्य एक तीसरी योनि है, वैसे अतिमानसके प्राणी एक भिन्न ही प्रकारके व्यक्ति होंगे, उनमें जरा-मरण नहीं होगा, उनका यही शरीर एक दिव्य-शरीर हो जायगा। 'मानस' जो प्रकट हो चुका है, तथा 'अति-मानस' जो अभी प्रकट होगा—इन दोनोंमें मौलिक भेद क्या होगा? हमारा मन ज्ञानके लिये प्रयास तो करता है, परन्तु प्रयास करता हुआ भी अज्ञानसे बंधा रहता है, ज्योतिकी खोज तो करता है, परन्तु ज्योतिके लिये अपनेको पूर्णतया खोल नहीं पाता। अतिमानसके प्रकट हो जानेपर अज्ञानके साथ इसका बन्धन टूट जायगा, ज्योतिसे भर जानेके लिये यह लगातार खुला रहेगा। जैसे मनुष्यके लिये मनन न करना असंभव है, जैसे पशु-पक्षीके लिये प्राण न लेना असंभव है, जैसे वनस्पतिके लिये भोजन छोड़ देना असंभव है, वैसे जिसमें अतिमानस विकास पा जायगा उसमें अज्ञान असंभव हो जायगा। श्री-अरविंदकी इस खोजका आधार उपनिषदोंके ऋषियोंकी वाणीमें छिपा है। तैत्तिरीयोपनिषत्में पांच कोशोंका वर्णन आता है। वे कोश हैं—अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय तथा आनन्द-मय। श्रीअरविंदके कथनका अभिप्राय यह है कि अभीतक सृष्टि अन्नमय, प्राणमय और मनोमय-कोश तक विकसित हुई है, चौथे विज्ञानमय कोशका विकास होना अभी बाकी है। अन्नमय-कोश वनस्पतियोंमें, प्राणमय पशु-पक्षियोंमें, मनोमय मनुष्योंमें विकसित हो चुका है। अब विज्ञानमय-कोशका विकास होना है, इसीको श्रीअरविंदकी भाषामें 'अतिमानस' कहा गया है। उपनिषत्में इसी अतिमानस को विज्ञानमय-कोश कहा है। उप-

निषत्‌के ऋषि श्रीअरविंद के अतिमानस या विज्ञानमय-कोशसे आगे भी आत्म-तत्त्वके विकासका एक और स्तर बतलाते हैं। उनका कथन है कि 'विज्ञानमय-कोश'के विकासके बाद 'आनन्द-मयकोश'का विकास होता है। इसका अभिप्राय यह है कि उस समय आत्म-तत्त्व ऐसी स्थितिमें पहुंच जाता है जो परमानन्दकी स्थिति है, जिसमें आनन्द-ही-आनन्द है, जिसमें निरानन्दता असंभव हो जाती है। श्रीअरविंदका कहना था कि जैसे पार-दर्शक शीशेमेंसे उसके पीछे जो-कुछ है वह दीख जाता है, वैसे उन्हें मानसके आगे अतिमानस, विकसित होता हुआ स्पष्ट दीख रहा है। ठीक इन्हीं शब्दोंमें कहा जा सकता है कि उपनिषत्‌के ऋषियोंको इसी तरह अतिमानस अर्थात् 'विज्ञान-मय-कोश'के आगे 'आनन्दमय-कोश' दीख रहा था, और आत्म-तत्त्वके विकासकी दिशाका वर्णन करते हुए वे कहते थे कि प्रकृतिके माध्यम द्वारा विकास करते-करते एक ऐसा स्तर आता है जो अतिमानससे अगला आनन्दमय स्तर है। अति-मानसके विषयमें श्रीअरविंदकी यह नयी धारणा है कि यह तत्त्व अभीतक प्रकट नहीं हुआ, आगे होगा; उपनिषदोंके ऋषियोंका कहना था कि आत्म-तत्त्वका वह प्राकृतिक माध्यम जिसके द्वारा आत्माके लिये अज्ञान असंभव हो जाता है, विज्ञानमय-कोश है, और वह माध्यम जिसके द्वारा निरानंदता असंभव हो जाती है, आनन्दमय कोश है, जो बीजरूपमें पहले-से ही हर मनुष्यमें विद्यमान हैं। दूसरे शब्दोंमें, प्रकृतिके माध्यमसे आत्म-तत्त्वके उत्तरोत्तर विकासकी दिशा 'विज्ञान-मय-कोश'की जागृति है, आत्माका यह विकास आगे-आगे होता जाता है, तबतक होता जाता है जबतक आत्मा अपने

आनन्दमय स्वरूपको जागृत नहीं कर लेता। ये कोश, इस शरीरमें, एकके भीतर एक छिपे हुए, एक-दूसरेसे सूक्ष्म, कोई सूक्ष्म-शरीर नहीं हैं। शरीरका नाम ही 'कोश' है। 'अन्नमय-कोश'का अर्थ है यह अन्नमय स्थूल शरीर। वनस्पतियां 'अन्न-मय कोश' तक ही रह जाती हैं, इससे आगे उनका विकास नहीं हो पाता। 'प्राणमय-कोश'का अर्थ है, वह शरीर जो अन्नसे तो बना है, क्योंकि वह अन्नमय-शरीरके ही द्वितीय विकासका नाम है, परन्तु जिसमें अन्नके अतिरिक्त 'प्राण' एक नवीन-तत्त्व प्रकट हो गया है। पशु-पक्षी अन्नमयकी प्रक्रियामें-से तो गुज़र ही चुके हैं, परन्तु इनका शरीर 'अन्नमय-कोश' नहीं, 'प्राणमय-कोश' कहाता है, क्योंकि प्राण एक तत्त्वके रूपमें वनस्पतियोंमें नहीं प्रकट हुआ, परन्तु पशु-पक्षियोंमें प्रकट हो गया है। 'मनोमय-कोश'का अर्थ है वह शरीर जो अन्न और प्राणसे तो बना है, परन्तु जिसमें 'मन' एक नवीन तत्त्व प्रकट हो गया है। मनुष्यका शरीर 'मनोमय-कोश' है क्योंकि मन एक तत्त्वके रूपमें वनस्पति, पशुपक्षीमें नहीं, मनुष्यके शरीरमें प्रकट हुआ है। 'विज्ञानमय-कोश'का अर्थ है वह शरीर जिसमें देह, प्राण तथा मनके अतिरिक्त एक चौथा तत्त्व—'विज्ञान' या श्रीअरविंदके शब्दोंमें 'अतिमानस'—प्रकट हो गया है। 'आनन्दमय-कोश' का अर्थ है, वह शरीर जिसमें देह, प्राण, मन और विज्ञानके अतिरिक्त एक पांचवां तत्त्व—'आनन्द'—प्रकट हो जाता है। जो तत्त्व अभीतक प्रकट नहीं हुए उनका बीज एक-दूसरेमें निहित है। आनन्दमयका विज्ञानमयमें, विज्ञानमयका मनोमयमें, मनोमयका प्राणमयमें, प्राणमयका अन्नमयमें बीज है—हां, अन्न, प्राण, मन विकसित हो चुके हैं,

विज्ञान तथा आनन्द विकसित होने हैं, या किसी-किसीमें हो हो चुके हैं। जब आत्म-तत्त्व प्रकृतिको माध्यम बनाकर उस तत्त्वको उत्पन्न कर लेगा जिसके द्वारा अज्ञान और निरानन्दता असंभव हो जायगी, तो वह अवस्था उसकी जीवन-यात्राकी अंतिम मंजिल होगी, और उस समय उसका भौतिक-शरीर ही पहले 'विज्ञानमय' और फिर विकसित होता हुआ अन्तमें 'आनन्दमय-कोश' हो जायगा। इस प्रकार आत्म-तत्त्व अन्ततक प्रकृतिके सहारे आगे-आगे बढ़ता जायगा, विकसित होता जायगा, अपने-आपको प्रकृतिमें खो-खोकर उसमेंसे निकलता आयगा, और अपने लक्ष्यतक पहुंचनेके लिये प्रकृतिको अपना साधन बनाता जायगा।

इस सारे विवेचनका अभिप्राय यह है कि अन्नमय-कोश प्राणमयके लिये है, प्राणमय अन्नमयके लिये नहीं ; प्राणमय मनोमयके लिये हैं, मनोमय प्राणमयके लिये नहीं ; मनोमय विज्ञानमयके लिये है, विज्ञानमय मनोमयके लिये नहीं; विज्ञानमय आनन्दमयके लिये है, आनन्दमय विज्ञानमयके लिये नहीं। आध्यात्मिक-विकासकी यही दिशा है। जब हम आध्यात्मिक आनन्द की अपेक्षा विज्ञानको, विज्ञानकी अपेक्षा मनको, मनकी अपेक्षा प्राणको, प्राणकी अपेक्षा अन्नमय स्थूल शरीरको अधिक महत्त्व देने लगते हैं तब हम आत्म-तत्त्वके विकासके मार्गपर न चलकर उल्टे मार्गपर चलने लगते हैं। हमें भिन्न-भिन्न कोशोंको आगे-आगे जानेका साधन समझकर चलना है, अन्नमयको प्राणमयका, प्राणमयको मनोमयका, मनोमयको विज्ञानमयका और विज्ञानमयको आनन्दमयका साधन समझना है—अगले-अगलेके विकासमें सहायक समझना है, इससे उल्टा नहीं।

पिंड तथा ब्रह्मांडका आत्म-तत्त्व—

सृष्टिमें पिंड तथा ब्रह्मांड दो वस्तुएं हैं । दोनों जड़ हैं, प्रकृतिके बने हुए हैं। दोनों आत्म-तत्त्वके साधन हैं, इन दोनों को माध्यम बनाकर ही आत्म-तत्त्व अपना विकास करता है। पिंडको माध्यम बनाकर जब आत्म-तत्त्व अपना विकास करता है तब उस विकसित हुए पिंडको 'देह', 'शरीर' आदि शब्दोंसे पुकारते हैं, उन भिन्न-भिन्न देहोंमें विकासके भिन्न-भिन्न स्तरों-पर पहुंचे आत्म-तत्त्वको 'आत्मा' पुकारते हैं। आत्म-तत्त्व जैसे पिंडको माध्यम बनाकर अपनेको प्रकट कर रहा है, वैसे ब्रह्मांडको साधन बनाकर भी अपनेको प्रकट कर रहा है। ब्रह्मांडद्वारा अपने स्वरूपको प्रकट करनेवाले आत्म-तत्त्वको 'ब्रह्म' पुकारते हैं, 'परमात्मा' पुकारते हैं, विकसित हुए ब्रह्मांड-को सृष्टि पुकारते हैं। देह तथा सृष्टि दोनों प्रकृति-तत्त्व हैं, आत्मा तथा परमात्मा दोनों आत्म-तत्त्व हैं। देह तथा सृष्टि आत्मा तथा परमात्माके साधन हैं, देह आत्माके और प्रकृति परमात्माके अपने स्वरूपको प्रकट करने, विकसित करनेके माध्यम हैं। विकासके मार्गमें आत्म-तत्त्वको एक जगह रुकना नहीं है, आगे जानेके लिये जहां पांव रखा है, उसे और आगे बढ़नेके लिये उठा देना है, जो पकड़ा है, उसे छोड़ देना है। माध्यम लक्ष्य नहीं साधन है, काम निकल जानेपर साधनको हट जाना है, आत्म-तत्त्वके विषयमें यह वैदिक-संस्कृतिकी विचार-धारा है।

आत्म-तत्त्व-विषयक इहलौकिक तथा पारलौकिक विचार—

इस स्थानपर यह कह देना आवश्यक है कि वैदिक-संस्कृति की विचार-धाराके दो रूप हैं—एक इहलौकिक, दूसरा पार-लौकिक। हम इस ग्रन्थमें वैदिक-संस्कृतिके इहलौकिक रूपपर ही विचार कर रहे हैं। वैदिक-संस्कृतिने जीवनके कार्य-क्रमका निर्माण जिस विचारको आधार बनाकर किया है, वह विचार है—शरीरके पीछे आत्मा है, प्रकृतिके पीछे परमात्मा है शरीर आत्माका साधन है, प्रकृति परमात्मा का साधन है। यह इह-लौकिक विचार है जिससे वैदिक-संस्कृतिने जीवनके प्रति अपने दृष्टि-कोणको बनाया है। शरीर हो, आत्मा न हो, प्रकृति हो, परमात्मा न हो, तो जीवनकी दिशा एक तरफ़ चली जाती है; शरीर हो परन्तु आत्माका साधन हो, प्रकृति हो परन्तु वह परमात्माका साधन हो, तो जीवनकी दिशा दूसरी तरफ़ चल पड़ती है। वैदिक-संस्कृतिकी जीवनकी दिशा इस दूसरी तरफ़ ही गई है। इसी दिशाकी तरफ़ जाते हुए वैदिक-संस्कृतिके इहलौकिक जीवनका कार्य-क्रम बना है। निष्काम-कर्म, आश्रम-व्यवस्था, यज्ञ, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, प्राणि-मात्रमें आत्म-भावना—वैदिक-संस्कृतिके इन सब इहलौकिक विचारोंका उद्‌गम आत्म-तत्त्वकी कल्पनासे ही हुआ है। आत्म-तत्त्व एक पारलौकिक कल्पना नहीं है। वैदिक-संस्कृतिमें आत्म-तत्त्वको एक वैसी ही इहलौकिक वस्तु माना गया है जैसे हम प्रकृति-तत्त्वको मानते हैं। हां, जैसे, जो लोग प्रकृतिको ही यथार्थ-तत्त्व मानते हैं, वे प्रकृतिकी छानबीनमें लग जाते हैं,

और प्रकृतिके सम्बन्धमें भी सैकड़ों पारलौकिक कल्पनाएं कर डालते हैं, वैसे, क्योंकि वैदिक-संस्कृतिके उपासक आत्म-तत्त्वको यथार्थ-तत्त्व मानते थे, इसलिये आत्म-तत्त्वके पारलौकिक स्वरूपकी उन्होंने भी खूब छानवीन की थी, खूब चर्चा की थी। क्या आत्म-तत्त्व प्रकृति-तत्त्व-जैसा एक स्वतंत्र तत्त्व है जिससे हम सबका भिन्न-भिन्न आत्मा विकसित होता है? क्या आत्म-तत्त्व परमात्माका भी आधार-भूत तत्त्व है? क्या प्रकृति-तत्त्व-का विकास भी इस आत्म-तत्त्वसे होता है? आत्मा-परमात्मा एक हैं, या इनका मौलिक भेद है? जड़-चेतन एक हैं, या इनका मौलिक भेद है? त्रैतवादियोंकी तरह आत्मा, परमात्मा, प्रकृति —इन तीनको पृथक्-पृथक् मानें; ईसाई-मुसलमानों की तरह परमात्मा और प्रकृतिको ही यथार्थ सत् मानें, आत्माको परमात्माकी रचना मानें; वेदान्तियोंकी तरह प्रकृति और जीव को ब्रह्मका ही रूपान्तर मानें—ये सब पारलौकिक विचार हैं, इन सब विचारोंको भारतकी संस्कृतिने जन्म दिया है, इन सब विचारोंका भारतीय-संस्कृतिके विकास पर प्रभाव भी पड़ा है, परन्तु इन सब विचारोंका आधारभूत इहलौकिक विचार, इन सब विचारोंका सार, वह वैदिक विचार जो भिन्न-भिन्न पार-लौकिक विचारोंके होते हुए भी सबमें समान है, एक ही विचार है, और वह यह कि आत्म-तत्त्व एक इहलौकिक यथार्थ सत्ता है, हमें अपने वैयक्तिक और सामाजिक-जीवनका विकास इस सत्ताको मानकर करना है, इसके बिना माने नहीं। प्रकृति-तत्त्वके सम्बन्धमें भिन्न-भिन्न कल्पनाओं के होते हुए भी इसका अन्तिम पारलौकिक-रूप क्या है, परमाणु हैं, इलेक्ट्रोन हैं, इले-क्ट्रोन भी धन-ऋण विद्युत्के आवेशके बिना कुछ हैं या कुछ

नहीं—इन विविध कल्पनाओंके होते हुए भी प्रकृति-तत्त्वको आधार-भूत तत्त्व मानकर जीवनका एक प्रकारका विकास-क्रम बना है, और बनता चला जा रहा है ; ठीक इसी प्रकार आत्म-तत्त्वके सम्बन्धमें भिन्न-भिन्न कल्पनाओंके होते हुए भी—इसका अन्तिम रूप, पारलौकिक रूप क्या है, एकत्व ठीक है, द्वैत ठीक है, त्रैत ठीक है, मुक्तिका स्वरूप क्या है, मुक्तिसे लौट आते हैं, नहीं आते, पुनर्जन्म कैसे होता है, आत्मा पशु-योनिमें लौटकर जाता है, नहीं जाता—इन विविध कल्पनाओंपर विचार करते हुए, इन सबमें एकमत न होते हुए भी आत्म-तत्त्वको आधार-भूत मूल-तत्त्व मानकर जीवनका एक दूसरी प्रकारका विकास-क्रम बना था, वैदिक-संस्कृतिके विचारकोंने बनाया था, और उनका दावा था कि जीवनकी यही दिशा मनुष्यको सुख, शांति और सन्तोष दे सकती है, दूसरी नहीं । हमने सदियोंतक दूसरी दिशाकी तरफ़ जाकर देख लिया, उससे न सुख मिला, न शांति मिली, न सन्तोष मिला । ज्यों-ज्यों हम उस दिशाकी तरफ़ बढ़ रहे हैं, त्यों-त्यों सुख, शान्ति और सन्तोषसे दूर होते चले जा रहे हैं । क्या आज समय नहीं आ गया कि हम आत्म-तत्त्वको प्रकृतिकी तरह यथार्थ-सत्ता मानकर उसके मार्गपर चलकर भी देखें, और देखें कि जिस सुख, शांति और सन्तोषकी खोजमें मानव-समाज भटक रहा है वह ऋषि-मुनियोंके बताये मार्गपर चलनेसे मिलता है या नहीं ।

[६]

'आत्म-तत्त्व' तथा 'अहंकार'

'अहंकार' आत्म-तत्त्वका नहीं प्रकृति-तत्त्वका गुण है—

वैदिक-संस्कृति में सांख्य-दर्शनके रचयिता आचार्य कपिल-का नाम बड़े गौरवसे लिया जाता है। कहते हैं, 'नास्ति सांख्यसमं ज्ञानम्'—सांख्य-दर्शनके समान कोई ज्ञान नहीं। आचार्य कपिलने सृष्टिकी उत्पत्तिका वर्णन करते हुए कहा है—'प्रकृतेर्महान्, महतोऽहंकारः, अहंकारात्पंचतन्मात्राणि उभय-मिन्द्रियं, तन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि, पुरुष इति पंचविंशति-र्गणः'— अर्थात्, सृष्टिकी उत्पत्ति २५ तत्त्वोंसे हुई है। मुख्य तत्त्व तो दो हैं—प्रकृति और पुरुष, परन्तु प्रकृतिका विकास होते-होते २४ तत्त्वोंका निर्माण हुआ है, और पुरुष इन चौबीसोंके अलावा है, इस प्रकार इन पच्चीसोंके मिलने से सृष्टि चलती है। इस प्रकरणमें पुरुषसे अभिप्राय पुरुष तथा स्त्री दोनोंके आत्म-तत्त्वसे है। पुरुषका अर्थ है, शरीर-रूपी पुरीमें शयन करनेवाला, रहनेवाला। पुरुषका यहां अर्थ है—'आत्मतत्त्व'। 'प्रकृति' से विकास पानेवाले चौबीसों तत्त्व और 'पुरुष'—ये दोनों एक दूसरेसे भिन्न हैं। इनका एक-दूसरेसे भेद कैसा है—इसे स्पष्ट करते हुए कपिल ऋषि कहते हैं कि प्रकृति, पुरुष अर्थात् आत्म-तत्व के बिना सृष्टिको नहीं चला सकती, पुरुष, अर्थात् आत्म-तत्त्व प्रकृति के बिना कुछ नहीं

कर सकता। प्रकृति अंधी है, आत्म-तत्त्व लंगड़ा है। 'प्रकृति' और 'आत्म-तत्त्व' का मेल अन्धे और लंगड़े का मेल है। अन्धे और लंगड़ेको एक ही जगह जाना हो तो वे क्या करते हैं? लंगड़ा अन्धेकी पीठपर सवार हो जाता है, क्योंकि वह देख सकता है, चल नहीं सकता; अन्धा चल सकता है, देख नहीं सकता; लंगड़ा रास्ता बताता जाता है, अन्धा चलता जाता है—दोनों ठिकाने पहुंच जाते हैं। आत्म-तत्त्वके लिये प्रकृतिका यही लाभ है, यही उपयोग है।

प्रकृतिका विकास होते-होते जिन २४ तत्त्वोंका निर्माण हुआ है, वे क्या हैं? प्रकृति तो सृष्टिके भौतिक-घटक-अवयवोंकी उस आदि-अवस्था का नाम है जिसमें कारण-रूपता है, कार्य-रूपता नहीं, जिसमें कार्य-कारणकी परंपरा शांत होकर बैठ गई है, जिसमें कुछ बन-बिगड़ नहीं रहा। इस आदि-अवस्थासे जब सृष्टिका विकास चला, और दूसरी अवस्था आयी, वह अवस्था आयी जिसमें कार्य-कारणकी परंपरा अपने शांत रूपको तजकर जग उठी, जो इतनी महान् है कि प्रकृतिके उस जगे रूपमें सारी सृष्टि डोलने-सी लगी, उसे इतना महान् होनेके कारण कि सारा ब्रह्मांड बीज-रूपमें उसमें डोलने-सा लगा, 'महान्' या 'महत्तत्त्व' कहा गया है। प्रकृतिके महत् रूपके विकसित होनेके वाद तीसरी अवस्था प्रकट होती है। सृष्टि अपने अगले विकासकी इस तीसरी अवस्थामें एकतासे अनेकताकी तरफ़ जाती है। 'प्रकृति' तथा 'महत्'-अवस्थातक वह अपनी एकताकी अवस्थामें थी, परन्तु एकताके रूपमें वने रहनेपर सृष्टि ही नहीं चल सकती, अतः अगर सृष्टिका प्रवाह चलना है तो एकताका टूटना और अनेकताका

सूत्रपात होना (From homogeniety to heterogeniety) भी आवश्यक है। अनेकताका अर्थ है, प्रत्येक वस्तुकी पृथक्-पृथक् स्थिति, प्रत्येक वस्तुका अपना-अपना व्यक्तित्व, अपना-अपना 'मैं-पना', 'अहं-भाव', 'इन्डीवीजुएलिटी'। प्रकृतिके विकासके इस तीसरे तत्त्वको कपिल ऋषिने 'अहंकार'का नाम दिया है। 'अहंकार' कोई जीती-जागती चीज़ नहीं है। संसार-की हर वस्तुमें अपनी सत्ता है, हर वस्तुका अहं-भाव है, हर वस्तु दूसरे से पृथक् है—इसी सत्ता, पृथक्ता, अहं-भावका नाम 'अहंकार' है। यह आत्माका नहीं, प्रकृतिका, जड़ प्रकृतिका गुण है। इस अहंकार-तत्त्वमें जब सतोगुणकी मात्रा बढ़ जाती है तब यह 'मन'के रूप में प्रकट होता है; जब इसमें रजो-गुणकी मात्रा बढ़ जाती है तब ५ ज्ञानेन्द्रिय तथा ५ कर्मे-न्द्रिय—ये 'चेतन' प्रकट होते हैं; जब इसमें तमोगुणकी मात्रा बढ़ जाती है तब गन्ध-रस-रूप-स्पर्श-शब्द तथा पृथ्वी-अप्-तेज-वायु-आकाश—ये दस 'जड़' प्रकट होते हैं। इस प्रकार 'प्रकृति', 'महान्' तथा 'अहंकार'के बाद बाकी २१ 'चेतन' तथा 'जड़' तत्त्वोंका विकास मुख्यतौरपर 'अहंकार'-तत्त्वसे हुआ है। अहंकारका मतलब घमंडसे नहीं है। अहंकारका अभिप्राय कपिल मुनिकी परिभाषामें सिर्फ़ यह है कि प्रत्येक भौतिक पदार्थकी जो स्वतंत्र सत्ता है, उसका अपना-अपना व्यक्तित्व है, वह वस्तु दूसरी वस्तुओं से अलग है—यह स्वतंत्र-सत्ता, यह व्यक्तित्व, यह अलगपना जड़-जगत् में भी दीखता है, चेतन-जगत् में भी दीखता है, हर चीज़ मानो कह रही है—'मैं हूं', 'मैं हूं'। पृथ्वी-अप्-तेज-वायु-आकाश—ये 'जड़' भी अपनी अलग-अलग सत्ताका बखान कर रहे हैं, मनुष्य-पशु-कीट-

पतंग—ये 'चेतन' भी अपनी ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियोंद्वारा अपना अलग-अलग बखान कर रहे हैं। चारों तरफ़से उठ रहा यह व्यक्तित्वका, अलगपनेका, मैं-पनेका, नानात्वका घोष ही 'अहंकार' है, अतः 'अहंकार' ही प्रकृतिका मुख्य, आधार-भूत तत्त्व है, प्रकृतिका आगे-आगे जो विकास है वह 'अहंकार'का ही विकास है।

'अहंकार' आत्म-तत्त्वका साधन है—

'प्रकृति' तथा 'पुरुष'के संयोगसे संसार चलता है—सांख्य-दर्शनके इस कथनका अभिप्राय यही है कि 'अहंकार' और 'आत्म-तत्त्व'के संयोग से संसार चलता है—क्योंकि प्रकृतिका मुख्य-तत्त्व 'अहंकार' है, पुरुषका मुख्य-तत्त्व 'आत्म-तत्त्व' है। 'अहंकार'की आंखें नहीं, वह अन्धा है, परन्तु उसमें वेग है, वह चल सकता है, दौड़ सकता है ; 'आत्म-तत्त्व'की आंखें हैं, परन्तु वह लंगड़ा है, साधनके बिना स्वयं कुछ नहीं कर सकता। फिर कैसे काम चले ? 'आत्म-तत्त्व' 'अहंकार'के कन्धे-पर सवार होकर, दूसरे शब्दोंमें 'पुरुष' 'प्रकृति'की पीठपर चढ़कर उसकी सवारी करता है, उसके सहारे चलता है। कपिल मुनिका कहना है कि प्रकृति पुरुषके लिये अपने उद्देश्यतक पहुंचनेका साधन है, अर्थात् अहंकार आत्म-तत्त्वके लिये अपने पूर्ण-विकासको पानेका सहारा है। मुख्य सत्ता पुरुष है, प्रकृति नहीं; आत्म-तत्त्व है, अहंकार नहीं। पुरुषको अपने उद्देश्यतक पहुंचाना प्रकृति का काम है, अर्थात् आत्म-तत्त्वको अपने पूर्ण विकासमें सहायता देना अहंकारका उद्देश्य है।

'अहंकार' स्वार्थका और 'आत्म-तत्त्व' परार्थका आधार है—

'आत्म-तत्त्व' जब 'अहंकार'का सहारा लेता है तब इस चलती-फिरती, मेरी-तेरी दुनियाँकी रचना होती है। इस रचनामें सबसे पहले 'मैं'का, प्रत्येक वस्तुके 'व्यक्तित्व'का, उसके 'अहं-भाव'का, 'अहंकार'का निर्माण होता है। 'मैं'की उत्पत्ति, ख़ुद-ब-ख़ुद, मेरे अलावा जो-कुछ है, उसकी भावनाको जन्म दे देती है। 'मैं'को संस्कृतमें 'स्व', तथा मेरे अलावा जो-कुछ है, उसे 'पर' कहते हैं। अहंकार, अर्थात् व्यक्तित्वके विकासका परिणाम 'स्व'-'पर'-भावनाका प्रकट होना है। संसार ख़ुद-ब-ख़ुद 'स्व' और 'पर'—इन दो भागों में बंट जाता है। 'स्व' अर्थात् मेरे लिये जो-कुछ है, उसे 'स्वार्थ', और 'पर' अर्थात् दूसरेके लिये जो कुछ है, उसे 'परार्थ' कहते हैं। 'अहंकार'से 'स्वार्थ'-'परार्थ'का द्वन्द्व उत्पन्न हो जाता है। 'स्वार्थ'-'परार्थ'का द्वन्द्व उत्पन्न न होता अगर पुरुषका प्रकृतिसे, आत्म-तत्त्वका अहंकारसे संयोग न होता, परन्तु इस संयोगके उत्पन्न हो जानेके बाद अहंकार स्वार्थकी तरफ़, और आत्म-तत्त्व परार्थकी तरफ़ खींचने लगता है। अहंकार और आत्म-तत्त्वका इस प्रकार परस्पर-विरोधी खिचाव क्यों होता है? क्योंकि अहंकारका उदय प्रकृतिसे है, और स्वार्थका सम्बन्ध भी प्राकृतिक-वस्तुओंसे है; आत्म-तत्त्व अप्राकृतिक है, और परार्थका सम्बन्ध भी प्राकृतिक-पदार्थोंसे हटनेसे है। अहंकार स्वार्थकी तरफ़ खींचता है, आत्म-तत्त्व परार्थकी तरफ़ खींचता है, परन्तु इस खेंचातानीमें सही रास्ता कौन-सा है? हम पहले

ही कह आये हैं कि प्रकृति अन्धी है, पुरुष सुजाखा है ; पुरुष-को, आत्म-तत्त्वको, प्रकृति अर्थात् अहंकारके कन्धेपर चढ़कर अपने लक्ष्यतक पहुंचना है। अगर आत्म-तत्त्वको अहंकारके कन्धे पर चढ़ना है, तो सीधी बात है कि परार्थको स्वार्थके कन्धेपर चढ़कर अपनी यात्राको तय करना है। प्रकृति-पुरुषकी, अहंकार-आत्म-तत्त्वकी, स्वार्थ-परार्थकी कशमकश तो चलेगी —दोनोंमेंसे एक प्रबल होनेका प्रयत्न करेगा, परन्तु अगर हम वैदिक-संस्कृति के इस केन्द्रीय विचारको ध्यानमें रखें कि प्रकृति पुरुषकी सहायता करनेके लिये है, आत्म-तत्त्वके आगे चलने, आत्म-विकासके मार्गपर बढ़ने के लिये है, तो ज्यों-ज्यों हमारा विकास होता जायगा, अहंकार अपनेको आत्म-तत्त्वके लिये मिटाता जायगा, स्वार्थ अपनेको परार्थके लिये बलि चढ़ाता जायगा। हम प्रकृतिसे चलें और प्रकृतिको छोड़ते चले जायं, अहंकारसे प्रारंभ करें और अहंकारको तजते जायं, स्वार्थको जीवनका आधार बनायें और धीरे-धीरे स्वार्थकी जगह परार्थको लाते जायं—आत्म-तत्त्वके विकासकी यही दिशा है। इससे उल्टा भी हो सकता है। हम प्रकृतिसे चलें और प्रकृतिमें लिपटते ही चले जायं, अहंकारसे प्रारंभ करें और अहंकार घनीभूत होता जाय, स्वार्थसे चलें और स्वार्थके सिवा कुछ न देख सकें। वैदिक-संस्कृतिके शब्दोंमें यह मार्ग आत्माके जीवन-का नहीं, आत्माके हननका है, आगे बढ़नेका नहीं, पीछे लौटनेका है, विकासका नहीं, ह्रासका है।

प्रकृति और पुरुष, अहंकार तथा आत्म-तत्त्वके मिलनेसे, पहले-पहल, स्वार्थका ही विकास होता है। यह स्वाभाविक है। जब सुजाखा अन्धेकी पीठपर चढ़ेगा तब एकदम वह लक्ष्य तो

नहीं दीख सकता जहां पहुंचना है। यह जीवनकी यात्रा तो जन्म-जन्मान्तरोंकी यात्रा है। सुजाखेने अन्धेको रास्तेपर डाल दिया तो लगातार चलते रहनेका काम तो अन्धेका ही है। सारी शक्ति अन्धेकी ही खर्च होनी है, एक जीवनमें नहीं, कई जीवनोंमें, इसीलिये आत्म-तत्त्वकी जीवन-यात्रामें प्रकृतिका दृष्टिकोण, स्वार्थका दृष्टिकोण प्रथम दृष्टिकोण है, और प्रथम होनेके साथ प्रबल दृष्टिकोण है। स्वार्थ न हो तो अहंकार एक कदम भी आगे न रखे। जीवन-यात्रा शुरू इसीसे होती है, चलती भी इसीसे है, यह दूसरी बात है कि चलते-चलते जब लक्ष्य निकट आ जाता है, जहां पहुंचना है वह स्थान आ जाता है, तब लंगड़ेको अन्धेकी ज़रूरत नहीं रहती, पुरुषको प्रकृतिकी, आत्म-तत्त्वको अहंकारकी, परार्थको स्वार्थकी आवश्यकता हट जाती है, और जहां पहले अन्धा प्रधान था वहां सुजाखा प्रधान हो जाता है, जहां प्रकृति प्रधान थी वहां पुरुष प्रधान हो जाता है, जहां अहंकार प्रधान था वहां आत्म-तत्त्व प्रधान हो जाता है, जहां स्वार्थ प्रधान था वहां परार्थ प्रधान हो जाता है।

अहंकारसे ता। जीवन-यात्रा शुरू होती है—

जीवन-यात्रा स्वार्थसे चलती है। व्यक्ति अपने लिये परिवारको रचता है, अपने लिये स्त्री-बच्चे, घर-बार, सम्पत्ति-जायदाद बनाता है। मनुष्यका बात-बातमें 'मैं' उभरता रहता है। वह कहता है, यह मेरी स्त्री है, मेरे बच्चे हैं, यह मेरा घर है, मेरी सम्पत्ति है। यह सब 'अहंकार' नहीं तो क्या है? अहंकार पहले-पहल व्यक्तिको, 'मैं'को जन्म देता है, परन्तु व्यक्तिमें अहंकार पूरा विकास नहीं पाता, इसलिये व्यक्तिसे अहंकार आगे बढ़कर

परिवारको जन्म देता है। परिवार 'व्यक्ति'का ही, 'अहंकार'का ही, 'स्व'का ही, 'मैं'का ही विकसित रूप है। कई लोगोंका व्यक्तित्व परिवारके आगे नहीं बढ़ता, वे परिवारतक विकसित होकर समाप्त हो जाते हैं, परन्तु अधिकांश मनुष्य परिवारसे आगे बढ़ते हैं, वे बिरादरीका निर्माण करते हैं, बिरादरीसे आगे निकलकर समाजका निर्माण करते हैं। कोई धार्मिक संगठन बनाता है, कोई राजनैतिक संगठन—होते-होते देश तथा जातिकी भावना पैदा हो जाती है। इस सम्पूर्ण विकासमें 'अहंकार'-'मैं'-'स्व' का बीज जड़ पकड़कर उगता है, बढ़ता है, पौधा बनता है, और धीरे-धीरे विशाल वृक्षका रूप-धारण कर लेता है। यह सारा विकास 'अहंकार' का ही तो विकास है। 'मैं' से यह शुरू हुआ, उससे सन्तुष्ट न हुआ, तो 'मैं'ने परिवारको जन्म दिया—'मेरा' परिवार, 'मेरे' बाल-बच्चे—वह इससे भी सन्तुष्ट न हुआ, तो अहंकारने विरादरीको जन्म दिया, 'मेरी' बिरादरी। बिरादरीके छोटे दायरेमें भी जब अहंकारको सन्तोष न मिला तो उसने समाज, देश, जातिको जन्म दिया—'मेरा समाज', 'मेरा देश', 'मेरी जाति'। इस 'मेरा'-'मेरा' को देखकर उपनिषदोंके याज्ञवल्क्य मुनिने कहा था कि असलमें बाल-बच्चे, स्त्री, परिवार, बिरादरी, समाज, देश, जाति—यह सब-कुछ 'मैं' का, 'स्व'का, 'अहंकार'का ही विकसित रूप है, इसलिये स्त्रीको पति पति होनेके नाते प्रिय नहीं होता, अपने स्वार्थके लिये प्रिय होता है, पतिको स्त्री स्त्री होनेके नाते प्रिय नहीं होती, अपने स्वार्थके लिये प्रिय होती है, पुत्र पुत्र होनेके नाते प्रिय नहीं होता, अपने स्वार्थके लिये प्रिय होता है—'न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो

भवति आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति, न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवति आत्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति, न वा अरे पुत्राणां कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति आत्मनस्तु कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति'। याज्ञवल्क्यने कैसा जड़वादी दृष्टिकोण सामने रखा है। भौतिकवादी विचार-धाराका यह तर्क-संगत परिणाम है। जब इस शरीर और इस संसारके अलावा कुछ है ही नहीं तब खाना-पीना, शरीरमें रमना, संसारके सुख भोगना, स्त्री-बाल-बच्चे, बिरादरी, समाज, देश, जाति सबसे जहांतक हो सके अपना फ़ायदा उठाना, अपना उल्लू सीधा करना—इसके सिवा कुछ किया ही क्यों जाय ? हम चल दिये तो हमारे लिये तो दुनियाँ समाप्त हो गई, हमें अपनेसे मतलब, हमें दुनियाँसे उतना ही तो वास्ता है जहां तक यह हमारे काम आती है, इससे ज़्यादा हमें दुनियाँसे क्या मतलब ?

याज्ञवल्क्यने इस जड़वादी दृष्टिकोणको बड़े ज़ोरसे रखा, और इसीमेंसे वैदिक-संस्कृतिकी विचार-धाराको खींचकर सामने लाकर खड़ा कर दिया। उन्होंने कहा कि पति पतिके नाते प्यारा नहीं होता, अपने लिये प्यारा होता है, स्त्री स्त्रीके नाते प्यारी नहीं होती, अपने लिये प्यारी होती है, पुत्र पुत्रके नाते प्यारा नहीं होता, अपने लिये प्यारा होता है, बिरादरी, देश, समाज भी अपने लिये प्यारे होते हैं—परन्तु देखना यह है कि यह 'अपना', यह 'मैं', यह 'स्व', यह 'अहंभाव' जिसके लिये सब-कुछ है, यह क्या है, उसका क्या रूप है—'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मंतव्यो निदिध्यासितव्यः'—यह 'आत्मा' क्या है जिसे याज्ञवल्क्य कहते हैं कि इस आत्माको जानना चाहिये।

'अहंकार' तथा 'आत्म-तत्त्व' का 'संघर्ष'—

'स्व' क्या है?—

वैदिक-संस्कृतिका मौलिक-विचार यह है कि जबसे प्रकृति और पुरुष, अहंकार और आत्म-तत्त्वकी यात्रा शुरू हुई है तबसे इन दोनोंका सहयोग भी चल रहा है, इनका संघर्ष, इनकी खींचा-तानी भी चल रही है। एक-दूसरेके बिना इनकी यात्रा नहीं चल सकती इसलिये तो सहयोग है, परन्तु प्रकृति पुरुषको अपनी तरफ़ खींचती है, पुरुष प्रकृतिको अपनी तरफ़ खींचता है। प्रकृति चाहती है, पुरुष प्रकृतिका होकर रहे, पुरुष चाहता है, प्रकृति पुरुषकी होकर रहे। जब प्रकृतिका पलड़ा भारी हो जाता है तब पुरुष, अर्थात् आत्म-तत्त्व अपनेको खो बैठता है, और प्रकृतिको ही 'मैं' कहने लगता है, जब पुरुषका पलड़ा भारी हो जाता है, तब 'आत्म-तत्त्व' प्रकृतिपर सवार होकर बैठ जाता है, और प्रकृतिको अपने उद्देश्यकी सिद्धिके लिये अपना साधन बनाकर चलता है। याज्ञवल्क्यका कहना यह है कि जब आत्म-तत्त्व दब जाता है, प्रकृति प्रबल हो जाती है, मनुष्य संसारके माया-जालमें बंध जाता है, बाल-बच्चों को, स्त्री-पुत्रको, सम्पत्ति-जायदादको 'मैं' समझने लगता है, और क्योंकि इन्हें ही वह 'मैं'—अपना यथार्थ-स्वरूप—समझ रहा होता है, अतः इनसे वह इतना चिपट जाता है कि इन्हें छोड़ ही नहीं सकता, तब वह अपने यथार्थ स्वरूपको भूला हुआ होता है। 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः'—आत्माको देखो, आत्मतत्त्वको अपनी आंखोंसे ओझल मत होने दो, क्योंकि आत्म-तत्त्वको देखते ही जीवनका सारा

दृष्टिकोण बदल जाता है। स्वार्थसे ही तो सारा संसार चला, अहंकार ही तो सृष्टिके प्रवाहका आदि-स्रोत है। इस स्वार्थके रहते, आत्म-तत्त्व सो रहा हो, तो जीवनका एक दृष्टिकोण उत्पन्न हो जाता है, जब जग रहा हो तो दूसरा दृष्टिकोण उत्पन्न हो जाता है। स्वार्थके रहते आत्म-तत्त्व सो रहा हो तो स्वार्थ स्वार्थको जन्म देगा, अहंकार अहंकारको जन्म देगा, हमारे हर विकासमें स्वार्थ और अहंकार घनीभूत होता जायगा। पति पतिके नाते प्रिय नहीं होता, अपने लिये प्रिय होता है—इसका अर्थ यह हो जायगा कि अपने मौज-मेलेके लिये स्त्री पतिको छोड़ सकेगी, जो चाहे कर सकेगी, इसी प्रकार स्त्री स्त्रीके नाते प्रिय नहीं होती, अपने लिये प्रिय होती है, इसका यह अर्थ हो जायगा कि पति अपनी खुशीके लिये जो चाहेगा, करेगा। परन्तु अगर स्वार्थके साथ आत्म-तत्त्व जाग रहा हो, तो स्वार्थ स्वार्थको जन्म नहीं देगा, अहंकार अहंकारको जन्म नहीं देगा। उस अवस्थामें स्वार्थ परार्थ को जन्म देगा, अहंकार अपनेको मिटानेमें अपनी सार्थकता समझेगा। उस अवस्थामें पति पतिके नाते प्रिय नहीं होता, अपने लिये प्रिय होता है, पत्नी पत्नीके नाते प्रिय नहीं होती, अपने लिये प्रिय होती है—इसका यह अर्थ होगा कि पति पत्नीके और पत्नी पतिके आत्म-तत्त्वके विकास और दर्शनका साधन बने, वे जीवन-यात्रामें इसलिये इकट्ठे हों कि एक-दूसरेके पूरक बनें, मार्ग-प्रदर्शक बनें, और एक-दूसरेके सहयोगसे मोहमें फंसकर मोहसे निकलना सीखें, विषयोंमें फंसकर विषयोंको जीतना सीखें, स्वार्थसे चलकर परार्थ की तरफ चलना सीखें, अहंकारसे शुरूकर अहंकारको मिटाना सीखें। अहंकार और आत्म-तत्त्वने मिलकर जीवन-यात्राको

प्रारंभ किया। इस यात्रामें आत्म-तत्त्व प्रसुप्त हो गया तो अहंकार प्रबल हो गया, स्वार्थ ही स्वार्थ उत्पन्न होता गया। आत्म-तत्त्व जाग्रत रहा, तो अहंकार दबता गया, स्वार्थ हटता गया, और आत्म-तत्त्व प्रकृतिको अपना साधन बनाता गया। जीवनकी यह दिशा वैदिक-संस्कृतिकी दिशा है, ऋषि याज्ञ-वल्क्यकी बताई हुई दिशा है। सारा खेल 'स्व' शब्दका है। 'स्व' क्या है? प्रकृति 'स्व' है, या पुरुष 'स्व' है? 'मैं' कौन हूँ? —यही तो याज्ञवल्क्य पूछते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि सब-कुछ 'स्व'के लिये है, 'मेरे' लिए है। मुझे अपने लिये ही सब-कुछ प्यारा होता है। परन्तु 'मैं'—'मेरा आपा'—'स्व' जिसके लिये सब-कुछ है, कौन है? यह प्रकृति है, या पुरुष, अहंकार है, या आत्म-तत्त्व? वैदिक-संस्कृतिकी घोषणा है कि 'मेरा आपा'—यह 'स्व'—प्रकृति नहीं, पुरुष है, दूसरे शब्दोंमें, अहंकार नहीं, आत्म-तत्त्व है, इस आत्म-तत्त्वके विकासके लिये ही सब-कुछ है, पुत्र-पौत्र, पति-पत्नी, बन्धु-बान्धव, समाज, देश, जाति सब-कुछ आत्माके विकासके लिये है, यह प्रकृति, यह सम्पूर्ण ब्रह्मांड आत्माके विकासके लिये है। यह सब साध्य है, साधन नहीं, साध्य तो आत्म-तत्त्व है, वही 'स्व' है, वही अपना आपा है, उसीके लिये यह सब-कुछ है, वह इसके लिये नहीं, उसीको जानो, उसीको पहचानो।

जीवनके दृष्टिकोण में आत्मतत्त्व का स्थान—

'आत्म-तत्त्व'को सृष्टिकी रचनामें मुख्य-तत्त्व माननेसे जीवनके दृष्टिकोणमें कितना भारी भेद उत्पन्न हो जाता है। मनुष्य को लें, तो यह शरीर क्या है? क्या शरीर ही हमारा

आपा है, यही हमारा 'स्व' है ? अगर शरीर ही 'स्व' है, तो इसीका सब-कुछ करना हमारा स्वार्थ हो जाता है, परन्तु अगर शरीर 'स्व' नहीं है, शरीरको साधनरूपसे बरतनेवाला 'आत्म-तत्त्व' हमारा आपा है, वही हमारा 'स्व' है, तो जैसे शरीरकी रक्षा करना हमारा स्वार्थ है, वैसे समय आनेपर शरीरको त्याग देना, मरनेपर ही नहीं परन्तु जीवनमें भी ऐसे अवसर आ सकते हैं जब शरीरकी पर्वा न करना भी हमारा स्वार्थ हो सकता है। वैदिक-संस्कृतिका दृष्टिकोण ही शरीरको आत्माका वाहन समझकर चलना है। वैदिक-संस्कृतिका घोष तो यह है—'आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु'—आत्मा शरीररूपी रथको चलानेवाला, इसपर सवारी करनेवाला स्वामी है। शरीरको आत्मा की सवारी नहीं करनी, आत्माको शरीर की सवारी करनी है। जो बात शरीरके साथ है, वही ब्रह्मांड के साथ है। आत्म-तत्त्व ब्रह्मांडके लिये नहीं, पुरुष प्रकृतिके लिये नहीं, ब्रह्मांड आत्म-तत्त्वके लिये है, प्रकृति पुरुषके लिये है। आत्मा शरीरका भोग करे, शरीर आत्माको न भोगने लगे, हम संसारको भोगें, संसार हमें न भोगने लगे—यह स्वर है जो वैदिक-संस्कृतिकी वीणामेंसे रह-रहकर गूंज उठता है।

स्वार्थके सम्बन्धमें याज्ञवल्क्यने संसारको एक नया ही विचार दिया था। मोटी दृष्टिसे तो यही जान पड़ता है कि स्वार्थसे स्वार्थ पैदा होगा, संसारसे चिपटनेकी, संसारको भोगनेकी भावना पैदा होगी, संसार छोड़नेकी भावना नहीं पैदा होगी। वैदिक-संस्कृतिका दृष्टिकोण दूसरा है। याज्ञवल्क्य जिस स्वार्थके लिये परिवारमें पड़े रहनेके स्थानमें, दुनियाँदारीसे

चिपटे रहनेके स्थानमें परिवारको छोड़ देते हैं, हम उसी स्वार्थके लिये परिवारमें, दुनियाँदारीमें पड़े रहते हैं। वैदिक-संस्कृतिकी विचार-धारा यह है कि स्वार्थ दो तरह का है। एक स्वार्थ वह है, जिसमें 'प्रकृति' 'आत्म-तत्त्व' को दवा देती है, 'प्रकृति'को हम 'स्व' बना लेते हैं, 'प्रकृति'में दिनोंदिन उलझते जाते हैं; दूसरा स्वार्थ वह है जिसमें 'आत्म-तत्त्व' 'प्रकृति'को दवा लेता है, 'आत्म-तत्त्व'को हम यथार्थ-'स्व' समझते हैं, सांसारिक बन्धनोंमें पड़कर इनमें उलझनेके स्थानमें इनमेंसे निकलना सीखते हैं। ऐसे विचारकोंके मतमें वास्तविक स्वार्थ स्वार्थ छोड़ देनेमें, मोह-मायाका बन्धन काट देनेमें है। जो व्यक्ति स्वार्थके इस अर्थको समझ जाता है वह उन्नतिके पथपर चल पड़ता है। आजका मानव-समाज 'स्व'का जो अर्थ ले रहा है उसमें 'आत्म-तत्त्व'को स्थान नहीं है। इसीलिये सृष्टिके आदि-तत्त्व 'अहंकार'ने जिस व्यक्तिका निर्माण किया है उसमें निचला स्वार्थ घनीभूत हो उठा है। व्यक्तिने जिस परिवारका निर्माण किया है उसमें कोरा स्वार्थ-ही-स्वार्थ है, परिवार जिस बिरादरीका निर्माण करता है उसमें भी कोरा स्वार्थ है, बिरादरी जिस समाज, देश व जातिका निर्माण करती है उसमें भी स्वार्थके सिवा कुछ नहीं। इस समय मानव-समाज-का विकास इसी दिशामें हो रहा है। इसीका परिणाम है कि परिवारमें हरेक व्यक्ति अपने स्वार्थके लिये लड़ता है ; समाज, देश, जातिमें दलबन्दी और पारस्परिक वैमनस्य दीखता है। याज्ञवल्क्यका दृष्टिकोण, वैदिक-संस्कृतिका दृष्टिकोण 'स्व'का अर्थ—'आत्म-तत्त्व—करता है। 'आत्म-तत्त्व' ही 'स्व' है, वही मेरा-तेरा, सबका अपना आपा है। यह 'आत्म-तत्त्व' सब

प्राणियोंमें है। 'यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति, सर्व-भूतेषु चात्मानं ततो न विचिकित्सति'—जो प्राणिमात्रको विश्वात्मामें पिरोये हुए मनकोंकी तरह देखता है, और हर प्राणीमें उसके शरीर को नहीं, परन्तु उसके 'आत्म-तत्त्व'को ही यथार्थ समझता है, उसीको वास्तविक ज्ञान है। जैसा मैं हूं वैसे ही दूसरे हैं, सभीमें 'आत्म-तत्त्व' ही विकास पा रहा है, मेरे भलेमें सबका भला, सबके भलेमें मेरा भला है—यह है दृष्टि-कोण जो एक नवीन ही दृष्टिकोण है, जिसकी आजके भौतिक-वादी मानवको बहुत अधिक आवश्यकता है। सृष्टिका प्रारंभ तो स्वार्थसे होता है, परन्तु इसका विकास दो दिशाओंमें हो सकता है। अगर 'स्व'का अभिप्राय इस 'शरीर'से है, और अगर इस शरीरके सिवा कुछ नहीं, तो 'स्व'का विकास एक ख़ास दिशा में होगा ; परन्तु अगर 'स्व'का अभिप्राय 'आत्म-तत्त्व'-से है, और अगर अनित्य शरीरके पीछे नित्य आत्मा है, तो 'स्व' का विकास एक दूसरी दिशामें होगा। स्वार्थ स्वार्थको भी जन्म दे सकता है, परार्थको भी। 'आत्म-तत्त्व'का वास्तविक स्वार्थ, उसका वास्तविक विकास तभी होगा जब स्वार्थ परार्थको जन्म देगा। विकासोन्मुखी सृष्टिके आधार-भूत मूल-तत्त्व 'अहंकार' या 'स्वार्थ'की ठीक दिशा यह है कि जैसे चुम्बकके सम्पर्कसे लोहेमें एक शक्ति आ जाती है, वैसे 'आत्म-तत्त्व'के सम्पर्कसे 'अहंकार'में एक शक्ति उत्पन्न हो जाय, इस शक्तिसे, दिनोंदिनके विकास में, 'अहंकार'का अहम्-भाव विश्वात्मभावमें लीन होता जाय, स्वार्थ अपनेको मिटाकर परार्थमें परिणत होता जाय। कितने भी गहरे स्वार्थसे हम क्यों न चलें, कितने भी गहरे भौतिकवादी दृष्टिकोणसे क्यों न देखें, स्वार्थके पीछे, स्वार्थकी

ओटमेंसे परार्थ रह-रहकर उठ खड़ा होता है। व्यक्ति कितना भी स्वार्थी क्यों न हो, परिवारके लिये अपनेको मिटा ही देता है। असलमें, पुत्रके लिये कष्ट सहनेमें माता-पिताको जो आनन्द आता है वह पुत्रको कष्टमें देखकर स्वयं सुखके साधनोंसे घिरे रहनेमें नहीं आता। व्यक्ति परिवारके लिये, देश और जातिके लिये वलिदान होनेमें आत्म-गौरव अनुभव करता है। जिस मार्गपर माता चलती है, जिस मार्गपर जातिका वीर चलता है, वही स्वार्थकी उचित दिशा है। इस दृष्टिसे स्वार्थ परार्थको उत्पन्न करता है, फिर परार्थही स्वार्थ हो जाता है, और पहला स्वार्थ मिट जाता है। स्वार्थ बना हुआ परार्थ फिर अगले स्वार्थको जन्म देता है, और यह स्वार्थ भी नष्ट हो जाता है। अगला-अगला परार्थ स्वार्थसे उत्पन्न होता है, उत्पन्न होकर वह परार्थ ही स्वार्थ बन जाता है, अगले परार्थको उत्पन्न करता है, और स्वार्थ समाप्त हो जाता है। हर स्वार्थ नष्ट होनेके लिये है, हर परार्थ टिकनेके लिये है। ठीक इसी तरह जैसे माता-पिता पुत्रको जन्म देते हैं, स्वयं चल देते हैं; पुत्र फिर माता-पिता वनता है, और अगली सन्तानको जन्म देकर अपने माता-पिताकी तरह चल देता है। स्वार्थ-परार्थकी यह गति हमारे अनजाने भी चल रही है, इस-लिये चल रही है क्योंकि 'आत्म-तत्त्व' एक यथार्थ सत्ता है, हम उसे मानें, चाहे न मानें। हम सृष्टिके विकास में 'आत्म-तत्त्व' के दर्शन करते हुए चलेंगे, तो हमें सृष्टिका गोरखधंधा समझ आता जायगा, यह समझ आता जायगा कि स्वार्थ-ही-स्वार्थके होते हुए भी हम क्यों रह-रहकर परार्थके काम करते जाते हैं, झूठ-ही-झूठके होते हुए भी क्यों हमें रह-रहकर सचाई और ईमानदारी ही खुशी देती है; 'आत्म-तत्त्व'के दर्शन करते हुए

नहीं चलेंगे तो भी 'अहंकार' अपनेको मिटाता ही नज़र आयगा, स्वार्थ अपनेको परार्थमें खोता ही दीख पड़ेगा, परन्तु यह सब क्यों होता है, यह उल्टी गंगा क्यों बहती है, यह क्या गोरख-धंधा है—यह समझ नहीं पड़ेगा।

परन्तु इस विकासको ठीकसे समझनेके लिये यह समझना भी ज़रूरी है कि कोई स्वार्थ तबतक परार्थको जन्म नहीं दे सकता जबतक वह स्वयं पक नहीं जाता। जब फल पक जाता है तभी वह बीजको जन्म देता है, और पके बीजसे अगला पौधा तैयार होता है। अधपके फलका बीज किसी कामका नहीं, और अधपके बीजका फल किसी कामका नहीं। स्वार्थ पकना चाहिये, तभी इसमेंसे निकला बीज परार्थ रूपी फल को जन्म देगा। कोई-न-कोई वासना हमारे हरेक स्वार्थको बनाती है। उस वासनाका बल कैसा है, उसका जोश समाप्त हुआ, या नहीं। स्वार्थके जिस क्षेत्रमें हम हैं उसमें वर्तमान वासनाका वेग अगर नहीं मिटा, और हम आगे चल दिये, स्वार्थसे परार्थमें चल पड़े, तो हमारा न यह क्षेत्र सफल होगा, न वह क्षेत्र। व्यक्तिका परिवारकी वासना मिट जानेके बाद परिवारमें टिके रहना ऐसा ही है जैसे भूख मिट जानेके बाद खाते चले जाना, और परिवारकी वासना न मिटनेपर परिवार छोड़कर चल देना ऐसा ही है जैसे भूख रहते भोजन छोड़कर उठ खड़े होना। स्वार्थकी आधार-भूत वासना जब न रहेगी तब स्वार्थका ही परार्थ-नामी पुत्र उत्पन्न होगा। यह विरोध मालूम पड़ता है, परन्तु यही सत्य है। वैदिक-संस्कृतिकी विचार-धारा ही यह है कि स्वार्थसे परार्थको जन्म देते जाओ, और पहले स्वार्थको मिटाते जाओ, कुचलते जाओ, समाप्त करते जाओ। परार्थ-

को स्वार्थ बनाते जाओ, उस स्वार्थसे अगले परार्थको जन्म दो, जहां स्वार्थ परार्थको जन्म दे दे वहीं स्वार्थको मसल दो, क्योंकि स्वार्थ-परार्थकी कसौटी शरीर नहीं आत्मा है, भौतिक सुख-भोग नहीं, आत्मिक-विकास है। वैदिक-संस्कृतिका विश्वके प्रति एक महान् संदेश है—'आत्म-तत्त्व' इस सृष्टिमें इन स्थूल आंखोंसे नहीं दीखता परन्तु यही इस सृष्टिका मूल-तत्त्व है, और इसी मूल-तत्त्वके कारण हर स्वार्थ परार्थके लिये है, हर बन्धन मोक्षके लिये है, हर परतन्त्रता स्वतंत्रताके लिये है, हर लगाव छूटनेके लिये है। हम स्वार्थमें अपनेको घिरा पाते हैं परन्तु हम इसमें रह नहीं सकते, हमें इसे मिटाकर परार्थकी तरफ़ जाना है; हम वन्धनों से अपनेको जकड़ा पाते हैं, परन्तु ये बन्धन टिक नहीं सकते, हमें इनसे मुक्त होना है; हम परतन्त्र हैं, परन्तु हमें साफ़ दीखता है कि हमें स्वतन्त्र होना है; हमारा संसारसे लगाव है, मोह-ममतामें हम फंसे हैं परन्तु हमारे ही भीतर कोई बैठा हमें कह रहा है कि यह लगाव आज नहीं तो कल, कल नहीं तो परसों छोड़ना है और छोड़ना ही है, प्रकृतिको पुरुषके लिये, 'अहंकार-तत्त्व'को 'आत्म-तत्त्व'के लिये बलिदान होना है। इसीमें व्यक्ति, परिवार, समाज, देश तथा विश्वका कल्याण है।

[७]

विश्व-बन्धुत्वका आधार आत्म-तत्त्व

अनेकता और विषमताकी जड़ 'अहंकार-तत्त्व' है—

संसार अभीतक किस रास्तेपर चलता रहा ? अभीतक तो हम यही देखते रहे हैं कि हमारे समाजकी रचनाकी इकाई व्यक्ति है, व्यक्तिके बाद परिवार, परिवारके बाद कोई बिरादरी, कोई ग्रुप, इसके बाद कोई समाज, कोई संगठन, कोई सम्प्रदाय, कोई जाति, कोई देश है, और इनमें, आपसमें, मनुष्य मनुष्यका वैरी, परिवार परिवारका शत्रु, ग्रुप ग्रुपका विरोधी, एक समाज, एक जाति, एक देश दूसरे समाज, दूसरी जाति और दूसरे देशसे लड़ रहा है। यह सब क्यों है ? यह सब इसलिये है क्योंकि, जैसा हम पिछले अध्यायमें देख आये हैं, सांख्यकी परिभाषामें सृष्टिका प्रारम्भ प्रकृतिसे हुआ है, और प्रकृतिका वह आदि-तत्त्व जो महाप्रबल है, जो अन्त तक सृष्टिके कण-कणमें अपनी सत्ता बनाये रखनेके लिये प्रयत्नशील है, 'अहंकार' है। 'अहंकार-तत्त्व' जब व्यक्तिमें परिपाक पा चुकता है, तब परिवारको जन्म देता है। कहनेको तो परिवारमें स्त्री हैं, बाल-बच्चे हैं, परन्तु स्त्री और बाल-बच्चे तो व्यक्तिके 'अहंकार'की, 'मैं-पने'की प्यास को बुझानेके लिये हैं। जब परिवारसे भी व्यक्तिकी मैं-पनेकी, हुकूमत करने, दूसरेको छोटा और अपनेको बड़ा समझनेकी प्यास नहीं बुझती, तो वह बिरादरीका, किसी ग्रुपका, समूहका

निर्माण करता है। इस ग्रुपमें बैठकर व्यक्तिका 'अहंकार' और अधिक तृप्त होता है, वह एकमें नहीं, अनेकमें 'मैं'-पनेको पाकर —'मैं इतना बड़ा'—इस भावनाको अनुभव करता है। प्रत्येक विरादरीमें, ग्रुपमें, समूहमें, कोई-न-कोई कुटुम्ब प्रधान होता है, किसी-न-किसी कुनबेके नीचे बिरादरी दबी रहती है, और वह कुनबा किसी-न-किसी व्यक्तिकी 'अहं-भावना'का उग्र-रूप होता है। बिरादरीकी आवाज़ कहनेको सबकी आवाज़ होती है, परन्तु होती वह किसी एक व्यक्तिकी ही आवाज़ है, ऐसे व्यक्तिकी जिसका प्रवल 'अहंकार' परिवारपर छा गया, परिवार के दूसरे व्यक्तियोंके अहंकारोंसे मिलकर वह इतना बलवान् हो गया कि बिरादरीपर भी उसीका सिक्का जम गया। बिरादरी या ग्रुपके बाद समाजकी, किसी बड़े संगठनकी बारी आती है। हमारे संगठन क्या हैं ? किसी भी संगठनमें कोई एक गुट ही प्रबल होता है, वह गुट जो चाहता है, उस समाजसे, संगठनसे कराता है। किसी समाजपर अगर कोई गुट हावी हो रहा है, तो उस गुटमें भी कोई एक व्यक्ति ही गुटका केन्द्र होता है, उस व्यक्तिका 'अहंकार' ही उस गुटपर, और उस गुटके द्वारा उस सामाजिक-संगठनपर छा रहा होता है। हर सोसाइटी, हर संगठन, हर ग्रुपकी तहमें किसी-न-किसी व्यक्तिके 'अहंकार'की धारा बह रही होती है। व्यक्तिका 'अहंकार' ही समाजकी रचनामें ओत-प्रोत दिखाई देता है, यही आगे चलकर जाति तथा देशमें व्याप जाता है। जब समाजमें धर्मकी प्रधानता होती है, तब व्यक्ति कहता है, मैं हिन्दू हूँ, मैं मुसलमान हूँ, मैं ईसाई हूँ, मैं यहूदी हूँ—मैं जो-कुछ हूँ, वही ठीक है, इसके अलावा सब ग़लत है। जब धर्मके स्थानमें जाति या देशकी भावना प्रधान

हो जाती है, तब वही व्यक्ति कहने लगता है, मैं हिन्दुस्तानी हूँ, मैं जर्मन हूँ, मैं जापानी हूँ, मैं अमरीकन हूँ, मैं रशियन हूँ—मैं जो-कुछ हूँ, वही दुनियाँ में रहेगा, और कुछ रहेगा, तो मैं उसे तहस-नहस कर दूंगा। हिटलर यही तो चाहता था कि संसारमें जर्मन हुकूमत करें, दूसरे देश गुलाम होकर रहें, मुसोलिनी भी यही चाहता था कि इटली का राज रहे, और सब मोहताज बनकर रहें। युरोपमें ईसाइयों और मुसलमानोंकी लड़ाइयां हुईं—क्रूसेडर्स पैदा हुए। ईसाइयोंमें रोमन कैथोलिक और प्रोटेस्टेन्ट सम्प्रदायों के युद्ध छिड़े—इनक्वीजीशन बैठे। मुसलमानोंमें शिया और सुन्नियोंके झगड़े हुए, अपने देशमें हिन्दुओं और मुसलमानों का खून बहा। यह सब व्यक्तिके 'अहंकार-तत्त्व'का ही परिणाम था। हजारों साल वीत गये, संसारके स्वतंत्र मनुष्यने आजतक जो-जो भी सामाजिक संगठन बनाये, जिस देश और जातिका निर्माण किया, उसमें व्यक्तिके 'अहंकार-तत्त्व'ने ही अपनेको अग्रसर रखा। वैसे तो व्यक्तिका 'अहंकार' ही हमारी सारी रचनाके आधारमें काम कर रहा है, परन्तु इसे स्पष्ट शब्दोंमें स्वीकार करनेसे हम लजाते हैं। जब इस बातको हम साफ़-साफ़ स्वीकार कर लेते हैं, तब इसीका नाम आजकल 'डिक्टेटरशिप' रखा जाता है। जो लोग इस बातको बिल्कुल स्पष्ट स्वीकार नहीं करना चाहते, वे व्यक्ति की 'डिक्टेटरशिप'के स्थानमें इसे 'पार्टी डिक्टेटरशिप'का नाम देते हैं। इस सम्पूर्ण सामाजिक-विकासकी शृंखलामें आधार-भूत तत्त्व 'अहंकार' है।

वैदिक-संस्कृतिका दृष्टिकोण रखनेवालोंने 'अहंकार-तत्त्व'-के इस विकासमें एक खास चीज़ देखी थी जिसे देखकर उन्होंने अपने जीवनकी दिशाको बदल दिया था। उन्होंने देखा कि

'अहंकार-तत्त्व'के निर्बाध विकासमें एकताके स्थानपर अनेकता-की, समानताके स्थानपर विषमताकी, पारस्परिक मेलके स्थान-पर संघर्षकी, प्रेमके स्थानपर द्वेषकी उत्पत्ति होना स्वाभाविक था। उन्होंने देखा कि 'अहंकार-तत्त्व' व्यक्तिमें परिपाक पाकर कुटुम्बको जन्म देता है। जब व्यक्ति कुटुम्बमें अपने 'अहंकार'-को पूरा पका लेता है, तब वह आगे बढ़ता है और बिरादरीको जन्म देता है। व्यक्तिका 'अहंकार' परिवारपर छा जाता है, परन्तु किस व्यक्तिका ? परिवारमें तो कई व्यक्ति होते हैं। उसी व्यक्तिका जिसका 'अहंकार' प्रबल होता है, दूसरेका नहीं। इसी प्रकार जैसे एक व्यक्तिका 'अहंकार' परिवारपर छा जाता है, वैसे एक परिवारका 'अहंकार' बिरादरीपर शासन करता है, परन्तु किस परिवारका ? उसीका, जिसका 'अहंकार' दूसरे परिवारोंसे प्रबल होता है, और जिसके सामने दूसरे परिवार दब जाते हैं। यह प्रक्रिया अन्ततक होती जाती है। अन्तमें जब देश या जातिका निर्माण होता है, तो उसमें अनेक संगठन आपसमें बंध जाते हैं, इनमेंसे कुछका 'अहंकार-तत्त्व' इतना प्रबल हो चुका होता है कि वह दूसरोंपर शासन करता है, कुछ-का चोट खा चुका होता है, और अन्दर-अन्दर घुटेदम उस मौकेकी ताकमें बैठ जाता है जब यह भी अपना सिर उठा सकेगा और दबनेके स्थानमें दबा सकेगा, झुकनेके स्थानमें झुका सकेगा, मरनेके स्थानमें मार सकेगा। 'अहंकार-तत्त्व'को आधार बनाकर जिस समाजकी रचना होगी उसका परिणाम संघर्ष होगा। व्यक्तिके 'अहंकार'का अभिप्राय है, दूसरोंको दबाकर स्वयं प्रबल होनेकी भावना। यह भावना संघर्षकी मूल है, अनेकता, विषमता, द्वेषकी जननी है। अहंकारोंके संघर्ष में कुछ

ख़ास-ख़ास व्यक्ति समाज, देश तथा जातिपर शासन करने लगते हैं। इस सारी प्रक्रियामें व्यक्तिका 'अहंकार' बढ़ता-बढ़ता परिवार, बिरादरी, समाज, देश, जातिपर छा जाता है, दूसरे अहंकारोंको दबाकर अपना सिर ऊंचा करता है। इस प्रकार जब अनेक अहंकार-तत्त्वोंके संघर्षमें एक व्यक्ति, एक परिवार, एक समाज, एक जाति, एक देशका 'अहंकार' प्रबल होकर दूसरे व्यक्तियों, दूसरे परिवारों, दूसरे समाजों, दूसरी जातियों, दूसरे देशोंको दवा देता है, तब इन दूसरोंकी 'अहंभावना'का क्या होता है? उनके हृदयमें अपनी दीन दशा देखकर एक रड़क पैदा होती है, और वे घुटे-घुटे अपने दवे हुए, कुचले हुए 'अहंकार' का वदला लेनेके मनसूबे बांधा करते हैं। उनका 'अहंकार' मिटा नहीं होता, दबाभर होता है, यही कारण है कि 'अहंकार'को आधार वनाकर बनाई गई सामाजिक-रचना में मनुष्य मनुज्यके रुधिरका प्यासा ही हो सकता है, उसे प्यार करनेवाला नहीं, देश तथा जातियां दूसरे देशों तथा जातियोंसे लड़ाई-झगड़ा ही मोल ले सकती हैं, उनके साथ मिल-जुलकर नहीं रह सकतीं। मनुष्य मनुष्यसे प्रेम भी करता है, देश तथा जातियां लड़नेके स्थानमें सुलहकी बातें भी करती हैं, इसका यह कारण नहीं है कि समाजका भवन 'अहंकार'की नींवपर खड़ा करके भी प्रेम और मेलकी बात हो सकती है। इसका कारण सिर्फ़ यह है कि सृष्टिका समुचित विकास अहंकारको आधार बनाकर नहीं, आत्म-तत्त्वको आधार वनाकर ही संभव है, और इसीलिये 'अहंकार'की भावनामें बह रहे विश्वके सामने समय-समयपर 'आत्म-तत्त्व' अपनी झलक दिखाता रहता है। 'अहंकार' संसारमें लड़ाई-झगड़े, ख़ून-ख़राबी, मार-काट,

उत्पात-उपद्रवके सिवा और कुछ नहीं कर सकता—यह वैदिक-संस्कृतिको जन्म देनेवालोंका सदियोंके अनुभवके बाद निकाला हुआ निष्कर्ष है।

'अहंकार'को मिटाकर 'आत्मा'को जगाना वास्तविक विकास है—

तब क्या किया जाय ? समाजका विकास किस दिशामें हो, किस प्रकार हो ? वैदिक-संस्कृतिका कहना है कि 'अहंकार' और 'आत्मा'में भेद है, अहंकारको आत्मा समझकर विश्वका विकास होने देना विकास की ठीक दिशा नहीं है, अहंकार आत्माका नहीं प्रकृतिका गुण है, अहंकारका विकास आत्माका नहीं प्रकृतिका विकास है। प्रकृतिमें सतोगुणकी अपेक्षा रजोगुण अधिक है, रजोगुणकी अपेक्षा तमोगुण अधिक है, अतः प्रकृति को आधार बनाकर जो विकास होगा, उसमें सात्विक प्रवृत्तियों-की अपेक्षा राजसिक प्रवृत्तियां, और राजसिककी अपेक्षा ताम-सिक प्रवृत्तियां अधिक प्रबल होंगी। इस विकासमें ईर्ष्या-द्वेष, लड़ाई-झगड़े-युद्ध स्वाभाविक ही नहीं अवश्यम्भावी होंगे, क्योंकि राजसिक तथा तामसिक-विकास इसी ओर ले जा सकता है। अहंकार और आत्म-तत्त्वके संयोगसे संसार चला, परन्तु अहं-कारको मिटाकर आत्म-तत्त्व दिनोंदिन उभरता आये, प्रकट होता जाय—यही विकासकी ठीक दिशा है। होता तो यह है कि व्यक्ति अपने घनीभूत अहंकारको लेकर, उसके सारे बलको समेटकर परिवार, बिरादरी, ग्रुप, समाज, जाति, देशका निर्माण करता जाता है, और अहंकारकी आग सब जगह लगाता जाता है, जिससे मैं-पनेके लिये, मैं बड़ा, तू छोटा—इस भावनाके

लिये, अपने-अपने स्वार्थके लिये व्यक्ति-व्यक्तिमें लड़ाई, परिवार-परिवारमें झगड़ा, देश-देशमें, जाति-जातिमें वैमनस्य और युद्ध हो रहे हैं, परन्तु यह सब इसलिये होता है, क्योंकि हम 'आत्म-तत्त्व'को भुलाये बैठे हैं। हमें अहंकारका नहीं, 'आत्म-तत्त्व'का विकास करना है, प्रकृतिका नहीं, प्रकृतिकी ओटमें छिपी आध्यात्मिक सत्ताका विकास करना है, अहंकारको मिटाते जाना है, आत्म-तत्त्वको जगाते जाना है। इस दृष्टिसे व्यक्ति ज्यों-ज्यों अगले-अगले विकास-क्रममेंसे गुज़रेगा वह अहंकारको घनीभूत नहीं होने देगा, अहंकारको मिटाता जायगा। वह अहंकारको बढ़ाकर नहीं उसे मिटाकर परिवारको बनायेगा, परिवारके अहंकारको मिटाकर बिरादरीको, बिरादरीके अहंकारको मिटाकर समाजको जन्म देगा। इस विकास-शृंखलामेंसे गुज़रते-गुज़रते जब उसका अहंकार बिलकुल मिट चुका होगा, तब जिस देश वा जातिकी भावनाका उदय होगा, जिस भावनामें अहंकारकी सत्ता ही नहीं रहेगी, वहां लड़ाई कैसी, झगड़े कैसे, पारस्परिक वैमनस्य कैसा? अहंकार ही तो अनेकताकी, विषमताकी, लड़ाई-झगड़े और विद्वेषकी जड़ है। जब अहंकार न रहा, तब अनेकतासे एकता, विषमतासे समानता, ईर्ष्या-द्वेषसे मेल-जोल और प्रेमका उत्पन्न होना कौन रोक सकेगा? इस विचार-शृंखलासे वैदिक आर्योंने विश्व-प्रेम और विश्व-बन्धुत्वकी नींवको दृढ़ आधार पर रखा था।

इस समय संसार स्वार्थको आधार बनाकर चल रहा है। हर बात स्वार्थके दृष्टिकोणसे होती है। इसमें मेरा लाभ है या नहीं? मेरा लाभ है तो ठीक, नहीं तो ग़लत। यह स्वार्थ क्या है? स्वार्थ अहंकार ही तो है। जब मैंने अपनेको केन्द्र

मानकर, अपने व्यक्तित्वकी दृष्टिसे सोचना शुरू कर दिया, वहीं अहंकार आ बैठा, और जहां अहंकार आ बैठा, वहीं स्वार्थ आ बैठा। स्वार्थको छोड़नेके लिये सब कहते हैं, परन्तु जबतक हम मेरा-तेराकी परिभाषामें बात करेंगे, 'अहंकार' की परिभाषामें बात करेंगे, तब तक स्वार्थको कैसे छोड़ सकेंगे ? स्वार्थको छोड़नेका अभिप्राय है, अहंकार को छोड़ना। अहंकार एक दार्शनिक शब्द है, सांख्य-दर्शनने इस शब्दका पारिभाषिक प्रयोग किया है, उसीको स्थूल-भाषामें सबलोग स्वार्थ कहते हैं। स्वार्थ के आधारपर खड़ी हुई सामाजिक-रचनाका इसके सिवा क्या परिणाम हो सकता है कि एक सीमापर पहुंचकर मनुष्य मनुष्य-के रुधिर का प्यासा बन जाय। स्वार्थको आधार बनाकर बनाया गया हमारा प्रत्येक सामाजिक-संगठन आज मनुष्यको आगे बढ़नेके स्थानमें पीछे घसीट रहा है। आजका कुटुम्ब व्यक्तिको उन्नत नहीं कर रहा। जो लोग समाज-सेवामें अपना समय बिता सकते हैं, वे जब कुटुम्ब पालनेमें लगते हैं तो समाज-से उदासीन हो जाते हैं। व्यक्ति परिवारके लिये लाखों रुपये जमा करता है ताकि उसके बीवी-बच्चे गुलछर्रे उड़ायें, लेकिन अपने नौकर-चाकरोंको भरपेट खानेको भी नहीं देता। कई लोग निकम्मे, समाजके लिये भार-भूत वारिसोंके लिये बड़ी-बड़ी जायदादें जमा करते-करते मर जाते हैं। समाज-सेवाका ढिंढोरा पीटनेवालोंके सामने भी जब प्रलोभन आता है, तब बच्चोंका ख्याल करके वे भी फिसल जाते हैं। क्रामवेलने अत्याचारी राजाओंसे इंग्लैंड का पीछा छुड़ाया था, परन्तु अपने खानदान-को राजघराना बनानेके लोभमें फंस गया। नैपोलियनने फ्रांस-को बहुत आगे पहुंचा दिया था, परन्तु उसने भी अपने खान-

दानको राजघराना बनाकर देशको उतना ही पीछे घसीट लिया। भारतके इतिहासमें भिन्न-भिन्न राजाओंकी लड़ाइयां खानदानोंकी, कुटुम्बोंकी लड़ाइयां हैं। यह सब क्या सूचित करता है? यह यही सूचित करता है कि व्यक्ति जब स्वार्थकी, अहंकारकी भावनासे कुटुम्बका निर्माण करता है, तो कुटुम्ब व्यक्तिके विकासके मार्गमें रुकावट बनकर खड़ा हो जाता है, वह उसे आगे नहीं बढ़ने देता। उसे कुटुम्बसे निकलकर समाज या देशकी सेवाके लिये कदम नहीं बढ़ाने देता। हमें किस बात से संतोष मिलता है? किस बातमें अपना विकास-सा होता नज़र आता है? क्या कीड़े-मकोड़ोंकी तरह अपने और बाल-बच्चोंके पोषणमें रमे रहनेमें आत्माका विकास होता नज़र आता है; या यह सब-कुछ करके, उसमेंसे निकलनेमें, विकास के मार्गपर आगे चलनेमें आत्मा विकसित होता नज़र आता है? अगर यह बात ठीक है कि अपना भला करनेमें तो संतोष मिलता ही है, परन्तु दूसरोंका भला करनेमें, दूसरोंके लिये मर-मिटनेमें आत्माको अधिक संतोष मिलता है, तो क्या बात है कि दुनियाँ अपने लिये ही मरती है, स्वार्थ ही हमारा लक्ष्य, स्वार्थ ही हमारा सब-कुछ बना हुआ है? इसका कारण यही है कि 'अहंकार' हमें आगे नहीं बढ़ने देता। 'अहंकार' 'आत्म-तत्त्व'को पहले परिवारके घेरेमें रोकता है, इसमेंसे वह निकल जाय, तो बिरादरी या ग्रुपके घेरेमें रोकता है, उसमेंसे निकल जाय तो समाज, देश व जातिके घेरेमें रोकता है। पहले मनुष्य परिवारपर आकर रुक जाता है, यह परिवार ही मेरा सब-कुछ है, और कुछ मेरा नहीं; फिर समाजपर, फिर देश और जाति पर आकर रुक जाता है—यह समाज मेरा, यह देश मेरा, यह

जाति मेरी। यही भावना तो संसारमें झगड़े पैदा करती है। 'अहंकार'का काम है आत्म-तत्त्वको इन बन्धनोंमें बांधते जाना, 'आत्म-तत्त्व'का काम है इन बन्धनोंमेंसे निकलते जाना। 'अहंकार'को इन बन्धनोंमें पड़े रहनेमें आनन्द आता है, 'आत्म-तत्त्व' को इनमेंसे निकलने में आनन्द आता है। 'अहंकार' क्योंकि प्रकृतिका गुण है, इसलिये उसे इन प्राकृतिक बन्धनोंमें पड़े रहने में तृप्ति मिलती है, 'आत्म-तत्त्व' क्योंकि प्रकृतिसे भिन्न है, प्रकृतिसे ऊपर है, इसलिये उसे इन बन्धनोंको तोड़नेमें, इनसे मुक्त होनेमें अपना विकास दीख पड़ता है। 'अहंकार' तथा 'आत्म-तत्त्व'के संघर्षमें, अहंकारसे न दबकर उसे अपना साधन बना लेना, अहंकारके फैलाये हुए बन्धनोंको काटनेके मार्गपर आत्म-तत्त्वका चल पड़ना ही वैदिक-संस्कृतिका मोक्ष है।

वैदिक-संस्कृति 'अहंकार'को मिटाना सिखाती है—

अहंकारका बन्धन इतना प्रबल है कि इसे आसानीसे काटा नहीं जा सकता। संसारके बड़े-बड़े विचारक इस प्रश्नपर सदा से विचार करते आये हैं कि अहंकारके फैलाये हुए पाशोंको काटकर किस प्रकार आत्म-तत्त्व मुक्त हो जाय? हम लड़ते-झगड़ते इसीलिये तो हैं, क्योंकि एक परिवारमें, एक बिरादरीमें, एक ग्रुपमें, एक समाज, एक देश, एक जातिमें, अपनेको बांध लेते हैं, उसीके हितको अपना हित, उसीके स्वार्थको अपना स्वार्थ समझने लगते हैं, दूसरोंको अपना शत्रु समझने लगते हैं। क्या-कुछ किया जाय, जिससे हम परिवारमें आकर परिवारमें न बंधें, समाजमें आकर समाजमें न बंधें, देश और जातिमें आकर उस देश और जातिसे इस प्रकार न बंधें कि दूसरोंको

अपना शत्रु समझने लगें। प्लेटोका कहना था कि हर बन्धनका प्रारम्भ सन्तान से होता है। अतः सन्तानके उत्पन्न होते ही उसे पालनेके लिये किसी दूसरे माता-पिताको दे देना उचित है। जब किसीको यह ख़्याल हो कि यह मेरी सन्तान है, तभी वह उसके माया-मोहमें फंसता है, उसके लिये दूसरोंका हक मारता है, सम्पत्ति-जायदादको खड़ा करता है। अगर सन्तानको अदल-बदल दिया जाय, तो स्वार्थ और अहंकारका उग्ररूप शान्त हो जाय, और परिवार व्यक्तिको पीछे धकेलनेके बजाय आगे ले जानेका, दूसरोंको अपने लिये खपानेके बजाय स्वयंको दूसरोंके लिये खपानेका साधन बन जाय। कई लोगोंका ख़्याल है कि सन्तान माता-पिताके पास रहनी ही नहीं चाहिये। अगर सन्तानोंकी अदला-बदली होगी, तब बदली हुई सन्तानमें ही मोह उत्पन्न होने लगेगा, ठीक ऐसे जैसे दत्तक-पुत्रके लिये माता-पितामें मोह उत्पन्न हो जाता है। उनके विचारमें बच्चे समाज की सम्पत्ति हैं। सब बच्चोंको माता-पितासे अलग शिशु-शालाओं में रखकर पालना चाहिये। प्रत्येक माता-पिता बच्चोंकी पूरी देख-रेख नहीं कर सकता, न उनकी हर आवश्यकताको पूर्ण कर सकता है, ऐसी आवश्यकता जो उनके विकासके लिये ज़रूरी है। जातिके सब बच्चोंको एक ही ढंगपर, एक तरीकेसे, एक-से वातावरणमें पालना उत्तम है ताकि न तो कुटुम्बकी ममताके कारण व्यक्तिके विकासमें परिवार रुकावट बन सके, और न राष्ट्रका कोई बच्चा अपनेको दूसरोंसे ऊंचा या नीचा अनुभव करे, हर बच्चेको खाने-पीने, खेलने-कूदने, शिक्षा आदिकी समान सुविधा हो। भारतके उस प्राचीन-कालमें जब यहां वैदिक-संस्कृतिका राज्य था, इस देशमें ऐसा ही होता था। यहां

छोटे-बड़े—सबके बच्चे राष्ट्रके सुपुर्द कर दिये जाते थे। छोटे-छोटे बच्चोंको राष्ट्रके जिन कर्णधारोंके सुपुर्द कर दिया जाता था, उन्हें 'गुरु' कहा जाता था। जैसे माता-पिताका अपना परिवार है, अपना कुल है, इसी प्रकार इन गुरुओंका एक बड़ा परिवार, एक बड़ा कुल होता था, जिसे 'गुरुकुल' कहते थे। बच्चेको परिवारसे अलग भी कर दिया जाता था, और रखा भी परिवारमें ही जाता था। बच्चा जीवन प्रारम्भ करते ही बन्धन काटनेके मार्गपर चल पड़ता था। गुरुकुलोंमें पढ़नेसे बच्चोंमें मोह-ममता नहीं रहती थी, छोटे दर्जेकी मोह-ममता जिसका नाम स्वार्थ है, जिसकी जड़ अहंकार है। इसके स्थानमें उनका जीवन अन्य सब साथियोंके साथ प्रेमके पथपर चल पड़ता था, प्रेमका वह पथ जो अन्तमें विश्व-प्रेम और विश्व-भ्रातृत्वके लक्ष्य तक पहुंचाता था। लोग शिकायत करते हैं कि गुरुकुल शिक्षा-प्रणालीमें बच्चोंकी माता-पिताके प्रति ममता नहीं रहती, यह शिकायत नहीं, इस प्रणाली की यह विशेषता है। हां, अगर माता-पिताके प्रति मोह छूटनेके साथ-साथ विश्वके प्राणियोंके प्रति प्रेमकी भावनाका उदय न हो, तब शिकायतका मौका अवश्य है। इस प्रणालीका लक्ष्य बालकको जीवनके प्रारम्भसे ही छोटे-छोटे बन्धनोंको काटकर बड़े बन्धनोंमें पड़नेकी शिक्षा देना, और धीरे-धीरे उन बन्धनोंसे भी मुक्त होनेके लिये तैयार करना था। बालक अपने परिवार, अपने देश, अपने राष्ट्र और अपनी जातिको ही अपना न समझे, प्राणिमात्रको अपना समझे—'वसुधैव कुटुम्बकम्'—इस भावनाको धीरे-धीरे विकसित करता जाय, सब जगह अहंकारका, नानात्वका दर्शन करनेके स्थानमें आत्माका दर्शन करना सीखे। अबतक परिवार

'व्यक्ति'के विकासमें रुकावट बना हुआ है। उसे अपनेसे आगे नहीं जाने देता। इस रुकावटको दूर करनेका एक ही उपाय है—बालकको माता-पितासे अलग कर दिया जाय, अलग करके उसे राष्ट्रकी अमूल्यनिधि समझकर पाला जाय। बालकका पूर्ण-विकास तभी हो सकता है, जब वह यह न समझे कि वह अपने माता-पिताका ही बच्चा है, उन्हींकी सेवा करना उसका कर्तव्य है, वह यह समझे कि वह राष्ट्रका बच्चा है, उसे राष्ट्र की सेवा करनी है, और राष्ट्रकी सेवा करते-करते विश्वका कल्याण उसका लक्ष्य है। इसी प्रकार कुटुम्बका पूर्ण-विकास भी तभी हो सकता है जब बच्चोंका मोह टूट जाय, कुटुम्बकी ममता न रहे, और यह ठीक तरहसे समझमें आ जाय कि व्यक्ति के विकासमें कुटुम्ब एक साधन है, साध्य नहीं, उपाय है, लक्ष्य नहीं। बच्चा कुटुम्बके साथ न बंधा रहे, और कुटुम्ब बच्चेके साथ न बंधा रहे—तभी दोनोंका समुचित विकास संभव है। बच्चेको कुटुम्बसे अलहदा कर दिया जायगा, तो उसके विकास में कुटुम्ब जो-जो रुकावटें डालता है, वे स्वयं हट जायंगी। मां-बाप कहते हैं, यह मेरा बच्चा है, मैं इसे पढ़ाऊं, न पढ़ाऊं, जो चाहूं करूं! इसके साथ ही उसके विकासमें कुटुम्ब जो-जो सहायता करता है वह सब-कुछ, और उससे बहुत-कुछ बढ़कर करना राष्ट्रका कर्तव्य हो जाता है। इससे व्यक्तिका भी कुटुम्बमें अनुचित मोह, जो बच्चोंके कारण पाया जाता है, अपने-आप छूट जायगा। आज व्यक्ति कुटुम्बके मोहमें, उसके बन्धनमें फंसा हुआ है। इन छोटे-छोटे बन्धनोंमें फंसनेके कारण ही तो मेरा-तेरा की भावना पैदा होती है, यही भावना जब उग्र रूप धारण करती है, तब लड़ाई-झगड़े खड़े हो जाते हैं। हम कुटुम्बमें फंस

जाते हैं, उसमें से निकलते हैं, तो समाज, देश, राष्ट्र, किसी-न-किसी रुकावटमें अटक जाते हैं, प्राणि-मात्रको अपना नहीं समझते, अहंकार जहां उलझ जाता है हम वहीं चक्कर काटते रहते हैं। झगड़ेकी इस सारी जड़का प्रारम्भ जहांसे होता है, वैदिक-संस्कृतिके कर्णधारोंने वहीं उंगली रख दी थी। उनका कहना था कि कुटुम्बमेंसे बच्चेको लेकर राष्ट्रके सुपुर्द कर देनेसे वे सब बन्धन जो संसारको जकड़े हुए हैं, एकदम ढीले पड़ जायेंगे, और उन बन्धनोंको काटते-काटते स्वार्थसे परार्थकी तरफ़, पारस्परिक वैमनस्य और द्वेषसे विश्व-प्रेम तथा विश्व-भ्रातृत्वकी तरफ़, राष्ट्रीयतासे अन्तर्राष्ट्रीयताकी तरफ़ जाना आसान हो जायगा।

वैदिक-संस्कृतिने जब क्रियात्मक रूप ग्रहण किया, तब चार आश्रमोंके विचारको जन्म दिया। इन आश्रमोंमेंसे एक आश्रम वानप्रस्थ-आश्रम है। वानप्रस्थका अभिप्राय है, घर छोड़ देना, जंगलकी राह लेना। अपने देशमें वर्तमान-युग में कई प्रयास होते रहे ताकि वानप्रस्थ-आश्रमोंका पुनर्निर्माण हो, परन्तु सफलता नहीं मिली। शायद नई अवस्थाएं ही ऐसी नहीं हैं जिनसे पहले की तरहके वानप्रस्थ-आश्रम आजकल भी बन सकें। अगर वैसे आश्रम नहीं बन सकते, तब भी वानप्रस्थकी भावनाको जीवनमें घटाने सें कौन-सी परिस्थिति हमें रोक सकती है ? वानप्रस्थकी भावना तो यह है कि कुटुम्ब हमारे जीवनका प्रारम्भ है, अन्त नहीं। पुरुषके लिये यह अनुभव करना कि उसकी स्त्री ही उसका संसार नहीं, और स्त्रीके लिये यह अनुभव करना कि उसका पति और बाल-बच्चे ही उसका सर्वस्व नहीं, इन छोटे दायरोंसे बाहरका संसार भी उन्हींका संसार है—यही वानप्रस्थ

की भावना है। हमारा जीवन सिर्फ़ एक या दो व्यक्तियोंके लिये ही नहीं, दूसरोंके लिये भी हो, इस भावनाको जागृत करनेसे हम वानप्रस्थके मार्गपर चलेंगे। पचास सालके बाद वानप्रस्थ-आश्रममें चले जाना अच्छा है, परन्तु जीवन-भर वानप्रस्थकी भावनाको वनाये रखना, कुटुम्बमें रहते हुए कुटुम्बमें लिप्त न होना, समाजमें रहते हुए समाजमें लिप्त न होना, देश, राष्ट्र, जातिका भला सोचते हुए इनमें लिप्त न होना, आत्म-तत्त्वके सूत्रको खो न देना—निःसंग रहना—सबसे अच्छा है, क्योंकि इसी मार्गपर चलकर संसारमें विश्वशांतिकी स्थापना हो सकती है, और किसी मार्ग से नहीं।

कुटुम्ब, बिरादरी, देश, जाति—ये सब अहंकार के तत्त्व हैं—

जैसे कुटुम्ब आत्म-तत्त्वके विकासमें रुकावट है, वैसे बिरादरी भी रुकावटका काम करती है। कुटुम्बके छोटे दायरे-मेंसे हमें निकलना है, हमें अपनोंको ही नहीं, दूसरोंको भी अपना समझना है। अहंकारके कारण हम दूसरोंको दूसरा समझते हैं, अहंकारके मिटते ही दूसरे अपने हो जाते हैं। कुटुम्ब अच्छी चीज़ है, परन्तु इसमें बुराई यह है कि कुटुम्बमें पड़कर मनुष्य कुटुम्बका ही रह जाता है, अपने छोटे-से कुनवेके स्वार्थके लिये दुनियां-भरका वैरी हो जाता है। कुटुम्बके बन्धनको तोड़कर जो बिरादरीकी सेवाके लिये निकलता है, वह एक छोटे दायरे से बड़े दायरेमें प्रवेश करता है, परन्तु यहां भी प्रकृति-पुरुषकी, 'अहंकार'-'आत्म-तत्त्व'की, एक-दूसरेकी सहायता करते हुए भी एक-दूसरेसे प्रबल होनेकी प्रक्रिया प्रकट होने लगती है। हम

जिस बिरादरीके हैं वह हमारा अहंकार बन जाती है, 'मैं' बन जाती है, 'मैं'को हम 'आत्मा' समझने लगते हैं, 'आत्मा'के लिये ही सब-कुछ है, इसलिये बिरादरीके लिये हम सब-कुछ करने लगते हैं। जैसे हम अपने कुटुम्बको ही सब-कुछ समझने लगे थे, वैसे अपनी बिरादरीको ही 'मैं'का आदि और 'मैं'का अन्त समझने लगते हैं, बिरादरी व्यक्तियों और परिवारोंके स्वार्थोंको सिद्ध करनेका, एक-दूसरेसे दुश्मनी निकालनेका अखाड़ा बन जाती है। बिरादरी जहांतक व्यक्तिको कुटुम्बसे बाहर निकालकर दूसरोंको अपना बनाना सिखाती है, सेवाका अवसर देती है, वहांतक तो ठीक है, परन्तु जहां यह समाज-सेवाके मार्गमें बाधा बनकर खड़ी हो जाती है, वहां इस दीवारको भी तोड़ गिराने की आवश्यकता है। आजकी बिरादरियां ज्यादातर व्यक्तिको पीछे घसीटने का साधन बन रही हैं, इसलिये जैसे आत्माके विकासके लिये कुटुम्ब बनाकर कुटुम्बसे आगे निकल जाना आवश्यक है, वैसे ही बिरादरी बनाकर बिरादरीसे आगे निकल जाना भी उतना ही आवश्यक है।

बिरादरीके बाद विस्तृत समाजका क्षेत्र आता है। हम देख चुके हैं कि व्यक्तिकी उन्नतिके लिये कुटुम्बका, परिवारका होना ज़रूरी है, परन्तु व्यक्तिकी उन्नतिके लिये कुटुम्बका छोड़ देना भी उतना ही ज़रूरी है। व्यक्तिकी उन्नतिके लिये बिरादरीका निर्माण करना ज़रूरी है, परन्तु उस उन्नतिके जारी रहने के लिये बिरादरीकी दीवारोंको तोड़ गिराना भी उतना ही ज़रूरी है। व्यक्तिकी उन्नतिके लिये समाजकी रचना ज़रूरी है, परन्तु व्यक्तिके पूर्ण-विकासमें समाज रोड़ा बनकर न खड़ा हो जाय, इसलिये समाजको पीछे छोड़कर आगे चल देना भी उतना ही

जरूरी है। अहंकार तथा स्वार्थसे परिवार, बिरादरी एवं समाज का निर्माण होता है। जब ये बन जाते हैं, तब ये अहंकार तथा स्वार्थको उग्ररूप भी दे सकते हैं, इन्हें मिटा भी सकते हैं। अगर इनकी रचनामें 'अहंभाव' प्रबल हो जायगा, तो व्यक्ति इन्हींमें रुक जायगा, अटक जायगा; अगर 'आत्म-तत्त्व' प्रबल हो जायगा, तो याज्ञवल्क्यकी तरह, इनसे जो-कुछ सीखना है वह सीखकर, आगे चल देगा। 'आत्म-तत्त्व'के विकासकी यही प्रक्रिया है। परिवारकी पाठशालामें व्यक्ति कोरा स्वार्थी भी हो सकता है, परार्थका, लोक-सेवाका पाठ भी सीख सकता है। पति, पत्नीके लिये, या पत्नी, पतिके लिये कौन-सा स्वार्थ है ज़ो ये दोनों एक-दूसरेके लिये नहीं छोड़ देते? बिरादरीकी नाक न कट जाय, इसलिये कितनोंने अपने अरमानोंपर पानी नहीं फेर दिया? अपने समाजके लिये कितने ही हैं जो कठिन-से-कठिन कष्ट सहनेके लिये तय्यार हो जाते हैं। परन्तु परिवार स्वार्थ भी तो सिखाता है! अपने बच्चेकी बीमारी दूर करनेके लिये दूसरोंके बच्चोंपर जादू-टोना करनेवाले मूर्ख माता-पिताओं की किसी भी देशमें कमी नहीं है। अपनी बिरादरीकी नाक रखनेके लिये हम दूसरी बिरादरियोंसे लड़ाई मोल ले बैठते हैं। समाजमें भी तो हम अहंकार और स्वार्थको ही पनपाते है। समाज ने कितनी कठिनाइयोंमेंसे गुज़रकर नागरिकताके अधिकारको प्राप्त किया है। समय था जब व्यक्तिको कोई पूछता तक न था। इतिहासके पन्ने ऐसे लोगोंके खूनसे रंगे हुए है जिन्होंने नागरिकताके अधिकारोंको पानेके लिये अपने प्राणोंकी बलि दे दी। यह मत देनेका अधिकार हमें सदियोंकी कश्मकशके बाद मिला। परन्तु इस अधिकारको पाकर हम इसका क्या उपयोग

कर रहे हैं ? हमारे मतदानसे जो व्यक्ति चुने जाते हैं, वे समाज-सेवाके स्थानमें अपना स्वार्थ सिद्ध करनेमें जुट जाते हैं। बड़े-बड़े पदोंको समाज-सेवाके लिये नहीं, अपना स्वार्थ सिद्ध करनेके लिये हस्तगत करनेकी कोशिश होती है। हम यह सब-कुछ देखते हुए अपने मतका क्या उपयोग करते हैं ? हममेंसे बहुत-से लोग तो मत देते नहीं, जो देते हैं वे, जो उन्हें चाय पिला दे, मोटरकी सैर करा दें, उसे वोट दे आते हैं। सोच-समझकर वोट कम देते हैं, एक-दूसरेका मुंह देखकर, अपना स्वार्थ कैसे सिद्ध होगा यह देखकर, ज़्यादा लोग वोट देते हैं। वोट लेनेवाले भी स्वार्थ देखते हैं, देने वाले भी स्वार्थ देखते हैं। राजनैतिक संस्थाओंको छोड़ दिया जाय, धार्मिक संस्थाओंका भी यही हाल है। वहां भी आंख मींचकर, पार्टी-बाज़ीमें पड़कर मत दिया जाता है। धार्मिक सस्थाओंके मन्दिर अहंकार तथा स्वार्थके गढ़ बने हुए हैं। यह सब इसलिये होता है क्योंकि हम समाजको आत्माके विकासमें साधन न समझकर साध्य समझ बैठे हैं। परिवारको बनानेकी आवश्यकता है, परन्तु एक हालतमें आकर परिवारको छोड़ देनेकी आवश्यकता है; बिरादरी बनानेकी आवश्यकता है, परन्तु एक हालत में आकर बिरादरीसे आगे निकल जानेकी आवश्यकता है; समाज बनानेकी आवश्यकता है, परन्तु एक हालतमें आकर समाजको छोड़कर आगे बढ़ जानेकी आवश्यकता है। यह अवस्था तब आती है जब हम समाज-सेवा करते-करते समाजसे छूट नहीं सकते, समाज से चिपटने लगते हैं, अहंकारको आत्मा समझने लगते हैं। हम आत्म-विकास की एक लम्बी यात्रापर निकले थे, उस यात्राके एक पड़ावपर घर बनाकर वहीं अटक जाना ग़लती है। आत्माके विकासका यह लम्बा मार्ग अहंकार और

स्वार्थको मिटानेके लिये है। कुटुम्ब, बिरादरी, समाज—ये तीनों स्वार्थ भी सिखाते हैं, परार्थ भी। इनका असली उद्देश्य हमें स्वार्थमेंसे गुज़ारकर परार्थका पाठ सिखाना है। परार्थका पाठ तभी गुढ़ा जाता है, जब मनुष्य स्वार्थमेंसे गुज़र लेता है। समय-समयपर अवसर आते हैं जब कुटुम्ब आदि, व्यक्तिको, स्वार्थमेंसे गुज़ारते हुए उग्र स्वार्थके मार्गपर ही डाल देते हैं। उस समय स्वार्थके मार्गपरसे हट जानेवाला जीवनके लक्ष्यकी तरफ़ ठीक-से चलने लगता है। जिस क्षण कुटुम्ब कोरे स्वार्थकी तरफ़ ले जाने लगे, जिस क्षण बिरादरी निरे स्वार्थके मार्गपर डाल दे, जिस क्षण समाजके कार्यमें अहंकार और स्वार्थ ही दीखने लगे, उसी क्षण कुटुम्ब-बिरादरी-समाजको छोड़ देना, इनसे अलग हो जाना, इन्हें आत्म-विकासके मार्गमें रुकावट समझ लेना वैदिक-संस्कृतिकी वर्तमान युगको सबसे बड़ी देन है।

देश, जाति और राष्ट्र क्या है ? कुटुम्ब, बिरादरी और अपने छोटे-से समाजके घेरेमें जो व्यक्ति कैद है, उसे देश, जाति, राष्ट्र कहां दिखाई देते हैं ? इन छोटे-छोटे दायरोंको लांघकर जो आगे चलता है वह राष्ट्रीयता के विशाल क्षेत्रमें आता है। सैकड़ोंमें एक होगा जो कुटुम्बको छोड़कर बिरादरीकी सेवाका संकल्प करता है, बिरादरीकी सेवा करनेवाले सैकड़ोंमें एक होगा जो उसे छोड़कर समाजकी सेवाकी तरफ़ पग बढ़ाता है, अपने छोटे-से समाजकी सेवा करनेवाले सैकड़ोंमेंसे एक निकलता है जो देश, जाति या राष्ट्रकी सेवा करता है। परन्तु देश, जाति तथा राष्ट्रकी सेवामें भी अहंकार और स्वार्थ आकर मानव-जातिके विकासमें रुकावट बन जाते हैं। हो सकता है, इस ऊंचे क्षेत्रमें आकर 'स्वार्थ' उतना बाधक न रहता हो जितना 'अहं-

कार'। देश, जाति और राष्ट्रकी सेवामें 'अहंकार' क्या कुछ नहीं करता—इसे आजका संसार तो देर तक भूल ही नहीं सकता। हिटलरको विश्वास था कि जर्मनी संसारमें एक-छत्र राज्यके लिये बनाया गया है। इस 'अहंकार'ने क्या-कुछ नहीं किया ? मुसोलिनीको विश्वास था कि इटली संसारकी सबसे बड़ी शक्ति बनकर रहेगा। वह भी दुनियाँको किधर धकेल-कर ले गया ? जापानको विश्वास था कि वह एशियाई देशोंमें राज्य करेगा। जापानका 'अहंकार' उसके विनाशका कारण बन गया। भारतमें विभाजनके समय जो-कुछ हुआ वह क्या था ? जाति-जातिका 'अहंकार' जाग गया। इस 'अहंकार'ने खूनकी नदियाँ बहा दीं, मनुष्यको पिशाच बना दिया। सदियों तक जो लोग साथ-साथ रहे, सुखमें साथ हंसे, दुःखमें साथ रोये—वे पशुसे भी नीचे गिर गये। पशु दूसरे पशुको तो मारता है, अपनी जातिके पशुको नहीं मारता। शेर शेरका शिकार नहीं करता। आज मनुष्य मनुष्यका शिकार करने लगा है। जंगलके जानवर अगर बोल सकते तो कह देते कि ऐसी लड़ाई मनुष्य ही लड़ सकता है, पशु इतने गिरे हुए नहीं हैं। जाति-गत, देश-गत, राष्ट्र-गत 'अहंकार' किसीमें भी जाग सकता है। हिटलरमें जागा, मुसोलिनीमें जागा, जापानमें जागा, और इन तीनोंने मिलकर पांच वर्षतक संसारमें मृत्यु और विनाशका तांडव-नृत्य करके दिखा दिया। आज जाति, देश, राष्ट्र मानवको मानवसे जुदा करनेवाली ऊंची-ऊंची दीवारें बनकर खड़े हो गये हैं, ये मिलानेके स्थानमें जुदा करनेके साधन हो गये हैं।

वैदिक-संस्कृतिका लक्ष्य मेरापन नहीं, विश्व-बन्धुत्व है—

तो क्या 'मेरी जाति', 'मेरा देश', 'मेरा राष्ट्र'का विचार मानव-समाजके विकासमें बाधक है? बेशक बाधक है, वैसे ही बाधक है जैसे कुटुम्ब, बिरादरी, हमारा छोटा-सा समाज मानव के विकासमें बाधक है। यह ठीक है कि कुटुम्बके बिना भी व्यक्तिका विकास नहीं हो सकता, बिरादरी और समाजके बिना भी मनुष्य आगे नहीं बढ़ सकता। देश, जाति तथा राष्ट्रका विचार भी एक खास सीमातक मानव-समाजके विकासके लिये आवश्यक है। जब किसी अन्धी, जोशीली जाति, देश या राष्ट्र के लोग दूसरोंको मिटानेके लिये उमड़ पड़ें तब विश्व-बन्धुत्व की पुकार कायरताकी पुकार होगी। ऐसे गिरोहोंको खुली छूट देना संसारके भाग्यको गीधों और चीलोंके लिये छोड़ देना है। किसी उद्देश्यतक पहुंचनेके लिये बीचके मार्गको तय करना ज़रूरी है। जो व्यक्ति बीचके मार्गको छोड़कर एक छलांगमें ऊपर पहुंचना चाहता है वह औंधे मुंह जा गिरता है। वैदिक-संस्कृतिका ध्येय विश्व-बन्धुत्व है, परन्तु अपनी जातिका, अपने देशका, अपने राष्ट्रका संगठन ध्येय-प्राप्तिके मार्गमें एक मंज़िल है, एक पड़ाव है। यह सब-कुछ होते हुए भी इस बातको समझ लेना कि छोटा संगठन बड़े संगठनकी तरफ़ ले जानेवाला है, स्वयं लक्ष्य नहीं, लक्ष्यतक पहुंचनेका साधन है, हमारा असली लक्ष्य एक महान् संगठन है, वह संगठन जिसमें प्रत्येक प्राणीको हम 'मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे'—बन्धु और मित्रकी आंखोंसे देख सकें, जिसमें 'अहं-भाव'को कोई स्थान नहीं, जिसमें 'आत्म-तत्त्व'

अपने प्रखर वेगसे प्रस्फुटित हो रहा है—यही वैदिक-संस्कृतिके विकासकी वास्तविक दिशा है।

आज संसारको आगे बढ़नेकी आवश्यकता है। हरेक जाति, देश और राष्ट्र अपने अहंकारके मदमें यह समझे बैठा है कि दुनियाँ में उसीको रहनेका हक है, दूसरोंको नहीं, वह विश्वकी नियामक-शक्ति द्वारा चुना हुआ राष्ट्र है। यहूदी अपनेको चुनी हुई जाति समझते थे, आज उन्हें कोई पूछनेवाला नहीं। मुसलमान समझते थे कि उन्हें खुदाने गुमराहोंको रास्ता दिखानेके लिये चुना है परन्तु इतिहास साक्षी है कि वे खुद गुमराह हो गये। जातियोंके अहंकारने उनमें अपने चुने हुए होनेका ख्याल पैदा किया, इसका परिणाम है कि आज हरेक जाति दूसरीकी शत्रु वनी हुई है। वैदिक-संस्कृतिका संदेश जातियोंके अहंकारको मिटाकर, उनके भेद-भावको दूरकर संसारमें एकता, प्रेम और विश्व-बन्धुत्वकी भावनाको जागृत करना है, क्योंकि 'अहंकार'-की जड़ बढ़ती-बढ़ती एकको दूसरेसे अलग करती और 'आत्म-तत्त्व'की जड़ बढ़ती-बढ़ती एकको दूसरे से मिलाती है। वैदिक-संस्कृति उस युगको लाना चाहती है जिसमें काले-गोरेका भेद न हो, पूर्व-पश्चिमका भेद न हो, धनी-निर्धनका भेद न हो, जिसमें भिन्न-भिन्न देशों, जातियों और राष्ट्रोंका भेद न हो। हम सबके लिये सारा भूमण्डल अपना देश हो, हरेक इन्सान अपना भाई हो, हम प्राणी-प्राणी में आत्माका दर्शन करें, भिन्नताको नहीं, एकताको, आत्म-तत्त्वको पहचानें।

इस युगको लानेके लिये संसारमें सदासे प्रयत्न होते रहे हैं। सिकन्दर को यह पसन्द नहीं था कि संसार भिन्न-भिन्न टुकड़ोंमें बंटा रहे। वह दुनियाँ को एक बनाना चाहता था।

उसने तलवार उठाई और एक सिरेसे दूसरे सिरेतक तलवारके ज़ोरपर दुनियाँको एक बनानेके लिये निकल पड़ा। कभी अरब के मुसलमानोंने भी डंडेके ज़ोरपर दुनियाँको एक बनाना चाहा था। हमारे देखते-देखते जर्मनीने दो बार कोशिश की, और संसारको पशु-बलके द्वारा एकताके सूत्रमें पिरोना चाहा। परन्तु संसारके अबतकके किये गये परीक्षण यही बतलाते हैं कि 'अहंकार'का आश्रय लेकर, डंडेके बल पर, संसार एक नहीं हो सकता। आज जो थोड़ी-बहुत एकता एटम-बम्ब के ज़ोरपर दिख रही है वह देरतक नहीं टिक सकती। १९१४ की लड़ाई के बाद 'लीग आफ़ नेशन्स'की स्थापना की गई, परन्तु आज वह ख़तम हो चुकी है। चोरों और लुटेरोंमें देरतक सुलह नहीं रह सकती। १९३९ की लड़ाईके बाद 'युनाइटेड नेशन्स आरगनाइज़ेशन'की स्थापना हुई, परन्तु इसमें भी जातियोंका अहंकार एकताको नहीं उत्पन्न होने दे रहा। अहंकार प्रकृतिका गुण है, आत्माका नहीं—यह वैदिक-संस्कृतिकी बार-बार की घोषणा है। जबतक अहंकार प्रबल रहेगा तबतक प्रकृति आत्म-तत्त्व को उभरने नहीं देगी। एकता, प्रेम, विश्व-बंन्धुत्व आत्माके गुण हैं। इन गुणोंको लानेके लिये हमें अहंकारको छोड़कर आत्म-तत्त्वकी दिशामें जाना होगा। अहंकारकी प्रबलताके कारण ही अमरीका और रूस देखनेको एक टेबलपर बैठते हैं, परन्तु हृदयसे वे एक-दूसरेसे दूर हैं, जितनी दूर वे नक्शेमें दिखाई देते हैं। अबतकके परीक्षण पुलिस, फ़ौज, तोप, बन्दूक और एटम-बम्बसे संसारको एक बनाना चाहते हैं, परन्तु संसारका आज-तकका इतिहास बतलाता है कि पुलिसके डंडेसे, फ़ौजके डरसे और एटम-बम्ब-की धमकीसे संसार एक नहीं हो सकता।

आजसे दो हज़ार साल पहले संसारको एक बनानेका परीक्षण भारतमें भी हुआ था। सम्राट् अशोकने संसारके कोने-कोनेमें अपने विश्व-शांतिके दूत भेजे थे। उन दूतोंके ज़रिये अशोकने देश-विदेशके मानव-समाजको संदेश भेजा था, और कहा था कि आजतक मनुष्य-मनुष्यका वैरी रहा, वह भिन्न-भिन्न जातियों, भिन्न-भिन्न देशों और भिन्न-भिन्न राष्ट्रोंमें वंटा रहा, परन्तु इस भिन्नतामें उसे ईर्ष्या, द्वेष, वैमनस्यके सिवा कुछ नहीं मिला। अब समय आ गया है कि हम भूल जायं कि हमारी जाति क्या है, देश क्या है, राष्ट्र क्या है। हमारा देश 'संसार' है, हमारी जाति 'मनुष्य' है। अशोकने तलवारका नहीं, मानवताका, अहंकारका नहीं, आत्म-तत्त्वका संदेश भेजा था। अशोकसे भी हज़ारों साल पहले वैदिक-संस्कृतिने मानव-समाजको यही एकताका संदेश दिया था। वैदिक-आर्योंने घोषणा की थी—'समंजन्तु सर्वे अमृतस्य पुत्राः'—सम्पूर्ण मानव-समाज अमृतका पुत्र है, मनुष्य-मनुष्यका भाई है। आज जब कि हज़ारों सालोंकी दासताके बाद भारत फिरसे मानव-समाजके विकासमें हिस्सा लेनेके लिये स्वतंत्र हुआ है, वह वैदिक-संस्कृतिके इस पुराने एकताके सन्देशका फिरसे वाहक बन सकता है।

हम देख रहे हैं कि संसार पहलेसे बहुत छोटा हो गया है। जहां पहले कभी इंगलैंडसे भारत आनेमें तीन महीने लग जाते थे वहां धीरे-धीरे पन्द्रह दिनमें हम एक देशसे दूसरे देशमें जाने लगे, और अब हवाई कोमेटके ज़रिये तो हम एक दिनमें बड़ी-से-बड़ी दूरी तय करने लगे हैं। रेल, तार, रेडियो, टेलीवीज़न, हवाई जहाज़ने इस विशाल विश्वको एक छोटा-सा घर बना दिया है, नदियों, पहाड़ों, घाटियों और समुद्रोंकी दूरीको दूर

कर दिया है। परन्तु क्या इस भौतिक दूरीके हट जानेसे मनुष्य-मनुष्यके ज़्यादा निकट आ गया है ? आज तो मनुष्यके लिये पहलेसे भी भयंकर स्थिति पैदा हो गई है। पहले जब हम एक दूसरे देश तक पहुंच नहीं पाते थे, उस समय हमें एक-दूसरेसे कोई खतरा नहीं था। आज दूरी मिट गई है। हम एक-दूसरेके इतने निकट हो गये हैं जैसे बग़लमें ही बैठे हों। परन्तु हमारी बग़लमें बैठे हरेकके हाथमें छुरा है, हरेकके हाथमें तलवार है, हरेककी पाकेटमें रिवालवर है, हरेकके पास एटम-बम्ब है। किसी भी क्षण, कोई भी सारे विश्वको तहस-नहस कर सकता है। अब अगर विनाश होगा तो एक या दो देशोंका नहीं, सारी पृथिवी राख हो जायगी। इससे तो हम दूर-दूर ही अच्छे थे। आज भौतिक-दृष्टिसे इन्सानकी इन्सान से दूरी हट गई है, परन्तु अन्दरसे इन्सान-इन्सानसे पहलेसे भी ज़्यादा दूर चला गया है। हम अहंकार-तत्त्वके होते हुए भी भौतिक-दृष्टिसे एक-दूसरेके नज़दीक आते चले जा रहे हैं क्योंकि अहंकार कितना ही प्रबल क्यों न हो, अन्तमें आत्म-तत्त्व ही प्रबल होनेवाला है, सृष्टिका विकास, इसका खिचाव आत्माकी तरफ़ ही होकर रहेगा, परन्तु अगर हम जागरूक होकर इस विकासमें अपना हाथ बंटायें, तो यह भौतिक-एकता आत्मिक-एकतामें परिणत हो सकती है। अगर हाथ न बंटायें, तो भौतिक-एकता एक बाहर का ढांचामात्र होगी, वास्तविक एकता दूरकी और देरकी चीज़ हो जायगी। आज जो नवीन-युग हमारे सामने आनेवाला है उसकी एक प्रबल मांग है। उस मांगको वैदिक-संस्कृति पूरा कर सकती है। हम सदियोंसे भिन्न-भिन्न वर्गोंमें बंटे रहे हैं। हमने अपने-अपने देशकी परिधियां बनाईं, और दूसरे देशोंको अपना शत्रु

समझा। अपनी-अपनी जातियां बनाईं, और दूसरी जातियोंको अपना शत्रु समझा; काले-गोरेका भेद खड़ा किया, अमीर-ग़रीबके वर्ग बनाये, और इन सबको एक-दूसरेका शत्रु समझा। यह सब हमने 'अहंकार'को प्रबल करके, 'आत्मा'को दबाकर किया। वैदिक-संस्कृति देशकी परिधियोंको, जातियोंकी भिन्नताको, काले-गोरे, अमीर-ग़रीबके अन्तरको—एक शब्दमें, 'अहंकार'को मिटाकर 'आत्म-तत्त्व'को जागृत करना चाहती है। विज्ञानने संसारके मानवको एक-दूसरे के निकट लाकर खड़ा कर दिया है, परन्तु वह मनुष्यके मनमें खड़ी हुई हिमालयके समान ऊंची दीवारोंको ढाह नहीं सका, वैदिक-संस्कृति आत्मवाद के सहारे इन भीतरी दीवारोंको तोड़ गिराना चाहती है। ईर्ष्या, द्वेष, वैमनस्य, युद्ध और अशांति में डूबे हुए मानव-समाजको विश्व-प्रेम, विश्व-बन्धुत्व और विश्व-शांतिपर लानेका यही सही रास्ता है, वह रास्ता जो प्राचीन-भारतके अनुभवरूपी दुर्गम वनोंमेंसे होकर निकला है, बाकी सब रास्ते, चाहे वे अमरीकासे निकलें, चाहे रूससे, क्योंकि उनका आदि-स्रोत 'अहंकार' है, 'आत्म-तत्त्व' नहीं, वे एकताको लक्ष्य बनाकर तो चलेंगे परन्तु मानव-समाज-को अनेकता और विषमतापर ले जाकर छोड़ देंगे। एकताको लक्ष्य बनाकर इसलिये चलेंगे क्योंकि विश्वकी आधार-भूत 'आत्म-सत्ता' रह-रहकर उन्हें ठीक मार्गपर लानेका प्रयत्न करती है, परन्तु अनेकता और विषमतापर इसलिये पहुंच जायेंगे क्योंकि उनके जीवनकी बागडोर 'आत्म-तत्त्व'के हाथमें नहीं, 'अहंकार-तत्त्व' के हाथमें है।

[८]

जीवन-यात्रा के चार पड़ाव

जीवन-विषयक दो दृष्टियाँ—भोग तथा त्याग—

वम्वईका शहर है, सामने लम्वी सड़क है, लोगोंकी भारी भीड़ उमड़ी चली जा रही है, कन्धेसे कन्धा टकराता है, कुछ आ रहे हैं, कुछ जा रहे हैं, स्त्री-पुरुष, वाल-वृद्ध-युवा सभी हैं। किसीको खड़ा करके पूछिये, क्यों भाई, क्या हुआ, इस तरह बेतहाशा किधर भागे जा रहे हो, तो वह विना रुके, चलता-चलता जो कह जाता है उसका मतलब होता है, रोटीका फ़िक्र, आगे-पीछेका फ़िक्र नहीं, आजका और अवका फ़िक्र—इसी फ़िक्रमें, वह क्या और दूसरे क्या, सभी भागे जा रहे हैं। अब हरद्वारका नज़ारा देखिये। गंगाका तट है, हरकी पैड़ी, सैकड़ों साधु भगवा रमाये इधर-उधर टहल रहे हैं, कुछ लोग मण्डली लगाये धर्मकी चर्चा कर रहे हैं। किसी मण्डलीमें जाकर पूछिये, महात्मा लोगो! आपको मालूम है, आज संसारकी क्या दशा है, रोटीका प्रश्न सवको व्याकुल कर रहा है, इसी समस्याको हल करनेमें प्रत्येक व्यक्ति जुटा हुआ है, तो वे क्या उत्तर देते हैं? महात्माओंकी मण्डली कहती है, हाँ, हमें मालूम है, परन्तु हमें इससे क्या, हम तो आत्माके चिन्तनमें लगे हुए हैं, आजकी और अबकी नहीं, हम आगे और पीछेकी समस्याको हल करने में लगे हैं। संसार अनित्य है, घर-बार, वन्धु-वान्धव, स्त्री-पुत्र

सब अनित्य हैं, इन्हें छोड़ हम नित्य आत्मा-परमात्माकी खोज में लगे हुए हैं।

जीवनके विषयमें यही मोटी-मोटी दो दृष्टियाँ हैं। एक वर्तमानमें जीना चाहता है, उसे भविष्यत्‌का विचार नहीं; दूसरा भविष्यत्‌के लिये जीना चाहता है, उसे वर्तमानका ख्याल नहीं। जीवनके विषयमें ये दो दृष्टियाँ जहाँ भी जीवनपर विचार हुआ, उत्पन्न हुई हैं। प्राचीन ग्रीसके विचारकोंमें वर्तमानमें जीनेवाले 'एपीक्यूरिअन्स' (Epicureans) कहलाते थे, भविष्यत्‌के लिये जीनेवाले 'स्टोइक्स' (Stoics) कहाते थे। एपीक्यूरिअन लोगोंके विषयमें कहा जाता है कि वे जीवनका सम्पूर्ण आनन्द, जल्दी-से-जल्दी, जितना हो सके उतना, आज और अभी लूट लेना चाहते थे, आगे क्या होता है, क्या नहीं होता—इसका उन्हें कोई भरोसा नहीं था। स्टोइक लोग तपस्वियोंका जीवन व्यतीत करते थे, आजका ख्याल न करके, आगे जो होगा उस दृष्टिसे जीवनका कार्यक्रम बनाते थे। इनमें से एक भोग-मार्ग था, दूसरा त्याग-मार्ग था। संसारके इतिहास में इन्हीं दो मार्गोंमेंसे किसी एक मार्गपर मानव-समाज चलता आया है। कुछ लोग भोग-मार्गके उपासक रहे हैं, वर्तमानमें डूबे रहे हैं, कुछ लोग त्याग-मार्गके उपासक रहे हैं, भविष्यत्‌की चिन्तामें वर्तमानका तिरस्कार करते रहे हैं। इन दोनों मार्गों को मिलानेका यत्न बहुत थोड़े लोगोंने किया है। महात्मा बुद्धने आध्यात्मिकताके शिखरपर खड़े होकर आवाज़ दी, और सैकड़ों-हज़ारों घरानोंमें भिक्षु और भिक्षुणियोंको उत्पन्न कर दिया, शंकराचार्यके 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या'के जयघोषको सुनकर घरों-के-घर भगवा डालकर ख़ाली हो गये, मसीहके पीछे

चलकर कितने ही लखपतियोंके बालक साधु बन गये। इसके विपरीत संसारके जंजालमें फँसानेके लिये तो किसी बड़े उद्योग की आवश्यकता ही नहीं, इधर तो मनुष्यकी प्रवृत्ति ही उसे घसीटे लिये जाती है, इसलिये जहाँ बुद्ध, शंकराचार्य और मसीहके पीछे इने-गिनोंने कदम बढ़ाया, वहाँ मनुष्यकी स्वाभाविक प्रवृत्तिने अधिकांश व्यक्तियोंको सदासे संसारमें बांधे रखा।

वैदिक-संस्कृतिका दृष्टिकोण—भोग और त्यागका समन्वय है—

जीवनके इन दो मार्गोंपर वैदिक-संस्कृतिके विचारकोंने खूब सोचा-समझा था। मनुष्य भोगका जीवन व्यतीत करे या त्यागका, दुनियाँमें रहे और इसका पूरा-पूरा आनन्द उठाये या इससे भागनेकी चिन्ता करे, वर्तमानमें जीवन-रसके घूँट पीनेमें मस्त रहे या भविष्यत्‌की सोचे, प्रवृत्ति-मार्गपर चले या निवृत्ति-मार्गपर—इस प्रश्नको भारतके प्राचीन ऋषियोंने एक अनोखे तौरपर हल किया था। उन ऋषियोंने गाया था—'ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्, तेन त्यक्तेन भुंजीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्'—हे मानव ! संसारका सम्पूर्ण भोग्य-पदार्थ तेरे पिता परमात्माका है। यह वैभव उसका है, उसका समझकर इसका उपभोग कर, जैसे तुझे मिला है वैसे किसी दिन तुझसे छूट भी जाना है—यह समझकर, इसे अपना न समझकर उपभोग कर, त्यागपूर्वक उपभोग कर, निवृत्तिपूर्वक प्रवृत्ति कर, जब छोड़नेकी घंटी बजे, तब छोड़नेके लिये तय्यार रहकर उपभोग कर।

भोग-त्याग, प्रवृत्ति-निवृत्ति, वर्तमान-भविष्यत्—ये दोनों विकट समस्याएँ हैं, वैदिक-संस्कृतिने इन दोनोंका समन्वय कर दिया था। भोग ठीक है, परन्तु भोगका अन्त त्यागमें है, प्रवृत्ति ठीक है, परन्तु प्रवृत्तिका अन्त निवृत्ति में है, वर्तमान ठीक है, परन्तु वर्तमानका प्रारंभ भूत और अन्त भविष्यत् में है, भोग और प्रवृत्ति इसलिये करे ताकि त्याग और निवृत्तिकी भावना पक्की हो जाय। संसारका अन्त त्याग और निवृत्ति है, यह न हो कि जब मनुष्य त्यागकी अवस्थामें पहुँचे, तब भोगकी वासना बनी रहे, और उसे त्यागमेंसे फिर-फिर खींचकर भोग और प्रवृत्तिकी तरफ़ धकेलती रहे। त्यागकी अविचल चट्टानपर खड़ा होकर मनुष्य भोगके लुभावने रूपकी तरफ़ आँख उठाकर भी न देखे—यह तभी हो सकता है जब वह भोगमेंसे गुज़र आये—उसकी नश्वरताको व्याख्यानोंद्वारा नहीं, अनुभवद्वारा परख ले। भोग टिकनेवाला नहीं—इस बातकी अमिट छाप मस्तिष्कमें बिठानेके लिये ही भोगको रचा गया है, प्रवृत्तिकी तरफ़ हम फिर-फिर न लौटें—यही प्रवृत्तिका अन्तर्निहित उद्देश्य है। जितने भोग हैं वे त्यागकी तरफ़ ले जाते हैं, जितनी प्रवृत्तियाँ हैं वे निवृत्तिकी तरफ़ ले जाती हैं, जितना वर्तमान है वह भविष्यत्की तरफ़ ले जाता है। भोग और त्याग, प्रवृत्ति और निवृत्ति, वर्तमान और भविष्यत्के इस समन्वयको लेकर भारतके ऋषियोंने एक वैज्ञानिक ढंगपर जीवनका कार्य-क्रम बनाया था। वह कार्य-क्रम क्या था ?

ब्रह्मचर्याश्रम—

संसारका प्रारम्भ भोग है, अन्त त्याग है—इस व्यावहारिक सत्यको लेकर हमारे पूर्वज चले थे। प्रारंभ भोग है, तो क्या जीवनको भोगसे ही प्रारंभ करना होगा? नहीं,—भोग भी तो विना त्यागके नहीं भोगा जाता। जो संसारके ऐश्वर्योंमें ही पला है, उसके लिये इन ऐश्वर्योंका मूल्य क्या रह जाता है? जिसने चने चबाकर जीवनका निर्वाह किया हो, उसे मोहन-भोगका जो आनन्द मिलता है, वह दिन-रात मोहनभोगमें रहनेवालेको कहाँ मिल सकता है? लकड़ीके तख़्ते और कड़ी ज़मीनपर सोनेवालेके लिये पलंग और गदेलोंपर सोनेका जो मज़ा है, वह बचपनसे ही गदेलोंपर सोनेवालेको कहाँ नसीब होता है? नंगे पाँव और नंगे सिर कड़ी धूपमें मेहनत करने-वालेको जब जूता पहनने और छतरी ओढ़नेको मिलती है, तो वह उड़ा-उड़ा फिरता है। जिसने बचपन ही जूतों और छतरियोंमें काटा हो उसे ख़सकी टट्टियोंके लगे रहनेपर भी गर्मी सताती है। इसीलिये भारतके प्राचीन ऋषियोंने मनुष्य-जीवनका प्रारंभ इस व्यावहारिक सत्यको समझकर ही किया था कि यद्यपि संसारका प्रारंभ भोग है, परन्तु भोग भी बिना त्यागकी साधनाके नहीं भोगा जा सकता। जीवनकी इस प्रथम साधना का नाम उन्होंने 'ब्रह्मचर्य-आश्रम' रखा था।

ब्रह्मचर्याश्रम गृहस्थाश्रमके लिये तय्यारीका आश्रम था। संसार के ऐश्वर्योंका जीवनमें पूरी तरहसे उपभोग किया जा सके इसीलिये ब्रह्मचर्यावस्थामें बालकको संसारके ऐश्वर्योंसे दूर रखा जाता था। संसारको भोगनेके लिये संसारके लिये भूख

पैदा होनेकी ज़रूरत है। भूख पैदा हो जाय, तो भूखमें ज़्यादा न खाया जाय, इस समझके पैदा होने की और भी ज़्यादा ज़रूरत है। आज उस भूखके पैदा होनेसे पहले ही हमारे बालक विषयरूपी भोगोंको भोगने लगते हैं, इसीका परिणाम है कि जब वे जवानीमें पहुँचते हैं, उस आयुमें पहुँचते हैं जब प्रकृति उन्हें संसारका उपभोग करनेकी इजाज़त देती है, तब उनमें उत्साह नहीं रहता, उन्हें अपना जीवन खोखला नज़र आने लगता है। हमारे युवकोंमें कितने युवक हैं जो जवानीमें आकर जवान रहते हों? भोग-विलास ही जवानी नहीं है। मनुष्यका जीवनके लिये उत्साह होना जवानीका चिह्न है, हमारे युवक बचपनमें ही इस प्रकारका विलासी जीवन व्यतीत करने लगते हैं कि उनमें पच्चीस वर्षकी अवस्थामें आकर जीवनके प्रति कोई उत्साह नहीं रहता। प्रकृतिने जीवनमें जो उत्साहका समय बनाया है, मनुष्यने उसे निराशाका समय बना दिया है। इस उत्साहद्वारा मनुष्य क्या-क्या नहीं कर सकता? हिमालयके उच्चतम शिखरको मापनेका उत्साह रखनेवाले देशमें कितने शेरपा तेनसिंग दिखाई देते हैं? जबतक आत्मा हिमालयकी चोटीके समान न हो, तबतक उस चोटी पर चढ़नेका उत्साह कैसे पैदा हो सकता है? हमारा विद्यार्थी-समाज एक ऐसे दूषित वातावरणमें पल रहा है कि उसमें संसारके शुद्ध ऐश्वर्यको भोगने का साहस तथा उत्साह नहीं रहता। इन सब बातोंकी हम आये-दिन चर्चा सुनते हैं, परन्तु चर्चा-मात्र कर देनेसे तो समस्या हल नहीं हो जाती। वैदिक-संस्कृतिने जीवनकी इस समस्याको समस्याके तौरपर समझा था, और समझकर इसका हल निकाला था। ब्रह्मचर्याश्रम इस समस्याका ही हल था। जब

संसारके लिये भूख नहीं, तो विना भूखके खाना कैसा ? बिना भूखके खानेसे ही तो अपच हो जाता है, ऐसा अपच जिसमें भूख भी नहीं लगती और मनुष्य हर समय कुछ कुतर-कुतर कर खाया भी करता है। बिना ब्रह्मचर्यके संसारमें पड़ जाना ऐसा ही है। ब्रह्मचारीको संसारकी भूख लग गई, तो भूखमें वह ज़्यादा खा जाय—इससे भी तो बचानेकी आवश्यकता है। तभी ब्रह्मचर्याश्रम एक लम्बा, साधनाका आश्रम था, ऐसी साधना जिसमें जीवनके लिये आँख खोल दी जाती थी, ऐसी साधना जिसमें जीवनके प्रति एक ख़ास दृष्टिकोण बना दिया जाता था। जिस व्यक्तिने जीवनके मर्मको समझ लिया, यह समझ लिया कि मनुष्य-देह यूंही गँवा देनेके लिए नहीं, किसी प्रयोजनसे मिला है, फिर वह संसारके भोगोंमें तो पड़ेगा, परन्तु इसलिये पड़ेगा कि संसारके भोगोंको भोग डाले, इनको भोगकर इनकी वासना तकको मिटा डाले। ब्रह्मचर्यकी तपोमय साधना-के बिना हमारा आजका जीवन एक लालसाका जीवन है, एक प्यासका जीवन है, एक भूखका जीवन है, परन्तु ऐसी लालसा, ऐसी प्यास, और ऐसी भूख जो कभी तृप्त न होगी, कभी शांत न होगी। हम आज या तो भूख-प्याससे पहले खाना-पीना शुरू कर देते हैं, भूख-प्यास लगने ही नहीं पाती, या भूख-प्याससे ज़्यादा खा-पी जाते हैं। भूख मिट जाय, इसलिये हमें खाना है, प्यास बुझ जाय, इसलिये हमें पीना है, भूखे बने रहनेके लिये खाना नहीं, प्यासे बने रहनेके लिये पीना नहीं, इस व्याव-हारिक सत्यको क्रियात्मक रूप देनेके लिए वैदिक-संस्कृतिने ब्रह्मचर्याश्रम की कल्पना की थी, जिसमें बालकका जीवनके प्रति 'त्यागके बिना भोग नहीं'—यह दृष्टिकोण बन जाता था।

ब्रह्मचारीका जीवन तपस्याका जीवन था। अथर्ववेदके 'ब्रह्मचर्यसूक्त'में ब्रह्मचारीका वर्णन आता है। इस सूक्तके २६ मन्त्रोंमें १५ बार 'तप' शब्दको दोहराया गया है—'स आचार्यं तपसा पिपर्ति'—'रक्षति तपसा ब्रह्मचारी'—'ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत'—ब्रह्मचारी तपसे अपने जीवनकी साधना करता है। प्राचीन प्रथा तो यह थी कि विद्यार्थियोंका निवास शहरसे दूर जंगलमें ऋषि-मुनियोंके आश्रमोंमें होता था जहां शहरोंका कोई प्रलोभन नहीं था। यह ठीक है कि प्रलोभनोंसे परे रहकर उनसे बचे रहना कोई गुण नहीं है। जो सच इसलिये बोलता है क्योंकि उसे झूठ बोलनेका मौका नहीं, सदाचारी इसलिये है क्योंकि उसके सामने गिरनेका कोई अवसर नहीं, वह क्या सच्चा, और क्या सदाचारी? परन्तु यह भी ठीक है कि प्रलोभनोंसे बचनेकी शक्ति उत्पन्न करनेके लिये बालकको बचपनसे ही प्रलोभनोंमें डाल देना उसके नैतिक-बलको बढ़ाने का तरीका नहीं है। नैतिक-बल उत्पन्न करनेके लिये बालकको नैतिक वातावरणमें रखना ज़रूरी है। वैदिक-संस्कृतिका बालक चारों तरफ़से प्रलोभनोंसे घिरकर जीवनको नहीं प्रारंभ करता था जैसा आजके बालकको करना पड़ रहा है। माता-पिताका जीवन संसारको भोगनेका जीवन है। उसे माता-पितासे अलग कर दिया जाता था। शहरोंमें प्रलोभन पग-पगपर फैल रहे होते हैं। उसे शहरोंसे भी अलग कर दिया जाता था। जंगलमें उसका मन विचलित करनेवाली कोई वस्तु नहीं। उसे जंगलमें रख दिया जाता था। ऋषि-मुनियोंके आश्रमोंमें उच्चतम नैतिक वातावरण संभव था। उसे इन्हीं आश्रमोंमेंसे किसी एक आश्रम में भर्ती कर दिया जाता था। इन आश्रमोंका पारिभाषिक नाम

'गुरुकुल' था। इन आश्रमोंमें ब्रह्मचारी विद्या पढ़ता था, साथ ही २५ वर्षकी उम्रतक तपस्याका जीवन बिताता था, भोग-ऐश्वर्यसे दूर रहता था। वेदमें ब्रह्मचारीका वर्णन करते हुए लिखा है, देखो, वह ब्रह्मचारी आ रहा है, उसके सिर और दाढ़ीके बाल लम्बे लटक रहे हैं, वह तपसे कृश हो रहा है, उसने सिरपर तेलतक नहीं मला। तपस्यापूर्वक विद्याकी साधना के बाद जब वह संसारमें पड़कर संसारमें डूबा न रहे, प्रलोभनों के आनेपर उनसे डिग न सके, भोगोंको भोगता हुआ उनमें लिप्त न रहे—इस बातके लिये तय्यार हो जाता था, तब उसका समावर्तन-संस्कार होता था। वह जंगल छोड़कर शहर चला आता था, ऋषि-मुनियोंका आश्रम छोड़कर माता-पिताके पास पहुंच जाता था, उस समय उसका गुरु ही उसे शीशा, कंघा, छत्री, जूता देता था, उस्तरेसे उसके बाल काटकर कंघी से संवारे जाते थे, और संसारमें पड़कर आत्म-तत्त्वको विकसित करनेके मार्गपर वह चल देता था। वह संसारमें आता था, परन्तु तय्यारीके साथ, प्रलोभनोंका मुकाबिला करता था, परन्तु उनके साथ टक्कर लेनेकी पहले साधना कर चुका होता था। इस तय्यारीका नाम ही तो 'ब्रह्मचर्याश्रम' था।

गृहस्थाश्रम—

जैसा पहले हमने कहा, भोग भी त्यागके बिना नहीं भोगा जाता, इसलिये संसारको भोगना सीखनेसे पहले संसारमें त्याग और तपस्यासे रहना सीखनेकी ज़रूरत है। इसीलिये वैदिक-संस्कृतिमें गृहस्थाश्रमसे पहले ब्रह्मचर्याश्रमको स्थान दिया गया है। गृहस्थाश्रम संसारको भोगनेका आश्रम है। जो लोग

यह समझते हैं कि प्राचीन भारतमें त्याग-ही-त्यागकी रट लगाई जाती थी, वे उस समयकी संस्कृतिको नहीं समझते। मनुष्यके विकासमें गृहस्थाश्रम एक आवश्यक आश्रम था। मनुष्यमें संसारका उपभोग करनेकी, विषयोंकी तहतक पहुंचनेकी, वासना का ओर-छोर देखनेकी जो गहरी भावना है उसे वैदिक-संस्कृति की जीवन-व्यवस्थामें पूरा स्थान था। आत्म-तत्त्वके उच्चतम विकासके लिये प्रवृत्ति, भोग और विषयोंसे पूरी तरह निपट लेना, इस तरह निपट लेना कि फिर बार-बार उधर खिचकर न आना पड़े, आवश्यक समझा जाता था। वैदिक-संस्कृतिके अनुयायी संसारसे भागनेकी ही बात नहीं करते थे, संसार को भोगने की बात भी करते थे, उनकी निर्धारित की हुई, जीवनकी रूप-रेखामें मन्दिरोंको स्थान था, तो महलोंको भी स्थान था, अरण्योंको स्थान था, तो बड़े-बड़े जनपदोंको भी स्थान था, त्याग और निवृत्तिको स्थान था, तो भोग और प्रवृत्ति को भी पूरा-पूरा स्थान था।

जो लोग भारतके प्राचीन-कालको इसलिये कोसते हैं क्योंकि यहांके ऋषि-मुनि परलोककी बातें करते थे, इस लोककी चिन्ता नहीं करते थे, वे उनकी विचार-धाराको नहीं समझते। वैदिक-संस्कृतिके विचारक संसारकी यथार्थताको पूर्णतः स्वीकार करते थे। प्राचीन-भारतकी समृद्धि, यहांका वैभव, यहां का ऐश्वर्य, यहां की भोग-सामग्री आजकलके किसी देशसे कम न थी। वैदिक-संस्कृतिके विचारोंमें पले गृहस्थी इस लोकके जीवनका पूरा रस लेते थे क्योंकि उनमें लालसाके साथ संसारके भोगोंको भोगनेकी शक्ति भी होती थी। हां, संसारका रस लेते हुए उनके सम्मुख एक बात अवश्य रहती थी। प्राचीन रोममें जब कभी

कोई बड़ी दावत होती थी, नाच-रंग होता था, तो एक अल-मारीमें मुर्देकी खोपड़ी भी रख दी जाती थी, जिससे अगर उधर नज़र पड़ जाय, तो यह स्मरण हो आये कि इन रंग-रलियोंका अन्त यही-कुछ होनेवाला है। भारतके गृहस्थी जब जीवनका रस लेते थे, तब इस रसकी लालसा अन्ततक न बनी रहे, इस दृष्टिसे लेते थे, लालसाको नष्ट करनेके लिये लालसा में हाथ डालते थे। संसारके विषयोंको भोगनेकी शक्तिका ह्रास तो सबका होना ही है, ज्यों-ज्यों आयु बढ़ती जाती है, शक्ति क्षीण होती जाती है, फिर शक्ति-क्षीणताके साथ लालसाको क्षीण क्यों न किया जाय। शक्ति न रहे, लालसा बनी रहे—इससे बढ़कर मनुष्यकी दुर्गति क्या हो सकती है? गृहस्थ जीवनका आदर्श यही है कि मनुष्य विषयोंको भोगकर विषयों से ऊपर उठ जाये, फिर उसे विषयोंका मुंह न ताकना पड़े। वैदिक-संस्कृतिके आदर्शके अनुसार मनुष्यको संसारके विषयोंके बीचमेंसे होकर गुज़रना है, उनमें अपनेको खो नहीं देना। आजकल हम किस प्रकारका जीवन बिता रहे हैं? हम संसार के विषयोंमें भटकते हैं। भटकते-भटकते हमारे मनोंमें वासना रह जाती है, शरीरमें शक्ति नहीं रहती। वैदिक-संस्कृतिका गृहस्थ-सम्बन्धी जो आदर्श है उसका यह स्वाभाविक परिणाम था कि विषयोंमें भटकते-भटकते मनुष्यमें विषयोंका रस लेनेकी शक्ति भले ही रह जाय, वासना न अटकी रहे।

आज हमारा जीवन वासनामय हो रहा है। विषयोंका रस लेनेकी शक्ति हो, न हो, चारों तरफ़ विषयोंकी बाढ़ देख-कर मन नहीं मानता। गृहस्थाश्रम वासनाका आश्रम बन गया है। पुरुष बूढ़े हो जाते हैं, तो कुश्ते खाने लगते हैं,

बाल सफ़ेद पड़ जाते हैं, तो खिज़ाब मलने लगते हैं, स्त्रियोंके झुर्रियां पड़ जाती हैं, तो भी पाउडर मला करती हैं, चालीस की हों तो भी तीसकी बताती हैं—शक्ति नहीं रहती, वासना रह जाती है।

वानप्रस्थाश्रम—

आज हम गृहस्थ-जीवनमें इस प्रकार फंसे हैं कि इसमेंसे निकलते हुए दुःख होता है। अधिकांश लोग इसीमें पड़े-पड़े अपना जीवन समाप्त कर देते हैं। जिस किसीने 'आश्रम' शब्द-का प्रयोग किया था उसने बड़े मतलबके शब्दका प्रयोग किया था। गृहस्थ एक 'आश्रम' है, एक मंज़िल है, एक पड़ाव है। वैदिक-कालके ऋषियोंने जीवनको एक यात्रा समझा था, और उस यात्राके चार पड़ाव माने थे। यात्रामें ब्रह्मचर्याश्रम पहला पड़ाव समझा गया था, उसके बाद गृहस्थकी यात्रा थी, परन्तु इसके बाद एक और पड़ाव आता था, गृहस्थी गृहस्थको छोड़-कर आगे चल देता था। आज हम 'आश्रम'-प्रणाली के इस रहस्यको भूल गये हैं। गृहस्थ आश्रममें प्रवेश करनेके बाद इसमें-से निकलनेका नाम नहीं लेते। हम इस प्रकार गृहस्थाश्रममें डटते हैं मानो अनन्त काल तक हमें जीना हो। ज़िन्दगीका बीमा ३०-३५ सालका होता है, परन्तु हम अपने दिलमें ऐसा बीमा किये बैठे हैं मानो हमें कभी मरना ही नहीं। गृहस्थमें पड़कर हम भूल जाते हैं कि हमें इसमेंसे निकलना भी है। वैसे तो यहां जो आया है उसे जाना भी है, परन्तु गृहस्थ एक ऐसा व्यूह है जिसमें अभिमन्युकी तरह मनुष्य प्रवेश तो कर लेता है, इसमेंसे निकलना भूल जाता है। हम अन्त समयतक संसारकी

ही चिन्ताएं करते रहते हैं। वैदिक-संस्कृतिको माननेवाले ५० सालकी आयुमें घर-गृहस्थीका भार बाल-बच्चोंपर छोड़कर जीवन-यात्रामें अगली राहपर चल देते थे, आज ऐसा नहीं करते। सरायका नियम होता है कि उसमें ५ या ७ दिन ठहरने-की इजाज़त होती है। जो सरायमें उससे अधिक दिन ठहरता है उसे सरायका मुंशी पहले तो इशारेसे समझाता है, कोई ढीठ इशारेको नहीं समझता तो उसे स्पष्ट कह देता है, और इतने पर भी कोई न माने तो उसका सामान उठवाकर बाहर फेंक देता है। जीवन एक यात्रा है, इसमें हमें आगे-आगे जाना है, भले ही हम चाहें या न चाहें। जो भलेमानस गृहस्थके बाद स्वयं आगे चल देते हैं उनकी मान-मर्यादा, प्रतिष्ठा बनी रहती है, जो ऐसा नहीं करते उन्हें सरायका मालिक धक्के मारकर निकाल देता है। आज जो लोग गृहस्थमेंसे निकलकर अगले रास्तेपर चलनेकी उम्रके हो गये हैं, वे अपने भीतर मुंह डालकर देखें, उनके साथ ऐसा ही बर्ताव हो रहा है या नहीं। उन्हींके अपने लड़के-बाले, उन्हींकी बहुएं उन्हें कोसती हैं, कहती हैं, बुड्ढा न जीता है न मरता है। बहुओंकी अपनी सासोंसे क्यों नहीं बनती? इसलिये क्योंकि सास घरमें इस प्रकार रहना चाहती है मानो वही बहू हो। बुढ़ापेमें अपने पिताके साथ लड़केकी क्यों नहीं बनती? क्योंकि पिता आख़ीरी दमतक पड़ा-पड़ा लड़कोंको बोझ मालूम पड़ने लगता है। जिन माता-पिताने हमें पाला, वे अगर बोझ भी हो जायं, तो सन्तानका कर्तव्य है कि उनकी सेवा करें, आखिर माता-पिताके ऋणको कौन चुका सकता है, परन्तु यह तो संतानका कर्तव्य हुआ, किसीको कहना कि तुम्हारा कर्तव्य हमारी सेवा करना है, किसे अच्छा

लगता है ? इसीलिये प्राचीन ऋषियोंने सन्तानके माता-पिताके प्रति ऋणको, जिसे वे पितृ-ऋण कहते थे, चुकानेके लिये एक दूसरा मार्ग बतलाया था। उन्होंने यह मार्ग नहीं बतलाया कि माता-पिता बूढ़े होकर घरमें चौकीपर बैठ जायं, और पुत्र उनकी पूजा करें। माता-पिताके लिये उन्होंने यही कर्तव्य बतलाया कि वे गृहस्थके बाद वानप्रस्थ हो जायं, उनकी सन्तान पितृ-ऋणको चुकानेके लिये गृहस्थाश्रममें प्रवेश करे, और अपनेसे उत्तम सन्तान संसारमें छोड़नेका प्रयत्न करे। मनुष्यका स्वभाव है कि वह स्वतंत्रता चाहता है। अगर माता-पिता घरमें बने रहें, तो उनकी सन्तानको घरमें स्वतंत्रतासे, अपनी इच्छानुसार काम करनेका मौका नहीं मिलता, और इसीलिये दुनियाँमें जिनकी सबसे अधिक बन सकती थी उन्हींकी इतनी बिगड़ जाती है कि आसपासके लोग तमाशा देखनेके लिये इकट्ठे हो जाते हैं। माता-पिता अपने समयमें घरके मालिक रहे, अब उन्हें अपनी सन्तानको मौका देना होगा। लेकिन हुकूमत ऐसी चीज़ है जिसे अपने हाथसे कोई किसी दूसरेको देनेको तय्यार नहीं होता। कोई छीन भले ही ले, परन्तु अपने हाथसे कौन दे ? इसीलिये आज चारों तरफ़ बाप-बेटेकी, सास-बहूकी लड़ाई दिखाई देती है। प्राचीन ऋषियोंने 'वानप्रस्थ'-आश्रमद्वारा इस समस्यका हल कर दिया था। उन्होंने कहा था कि जब अन्तमें दुनियाँको छोड़ना ही है, तो धक्के खाकर और बेइज्ज़ती से छोड़नेके बजाय खुद क्यों न छोड़ा जाय ? वैसे तो संसारको भोगनेकी इच्छा हरेकमें है, इसीलिये गृहस्थ-आश्रममें उसे भोगने का मौका दिया गया है, परन्तु क्योंकि गृहस्थी अपने अनुभवसे देख लेता है कि इन भोगोंमें कुछ नहीं पड़ा, इसलिये वह स्वयं

इनसे मुड़ता है, उपराम होता है। भोग भोगनेके बाद भोगका छूटना अवश्यंभावी है। मनुष्यके मनकी इसी स्वाभाविक अवस्थाको प्राचीन ऋषियोंने वैज्ञानिक रूप दिया था, और इस प्रवृत्तिका नाम वानप्रस्थाश्रम रखा था। 'वानप्रस्थ' एक भावना-विशेष है। संसारके विषयोंसे गोंदकी तरह चिपक बैठनेकी जगह उनका रस भी लो, और उसके बाद उन्हें छोड़ भी दो। संसारमें प्रवृत्ति तथा निवृत्ति दोनों हैं, अपने-अपने स्थानपर दोनों ठीक हैं। प्रवृत्तिको शास्त्रोंमें 'प्रेय' कहा है, निवृत्तिको 'श्रेय' कहा है। 'प्रेय' के बाद 'श्रेय' आना चाहिये; 'प्रवृत्ति'के बाद 'निवृत्ति' आनी चाहिये; संसारको भोगनेके बाद संसारको छोड़ना आना चाहिये। भोगनेके बाद छोड़ना, प्रवृत्तिके बाद निवृत्ति ही 'वान-प्रस्थ की भावना' है। आज हमारे समाजको वानप्रस्थकी भावनाकी ज़रूरत है, निवृत्तिकी भावनाकी ज़रूरत है, चिपकनेके बजाय छोड़ना सीखने की ज़रूरत है। हम ज़रा-ज़रा-सी बातमें चिपक जाते हैं। यह जानते हुए भी कि हम ग़लत रास्तेपर हैं, हम क्योंकि हम हैं, इसलिए अपनी बातपर डट जाते हैं, और कुछ देरके बाद वह ज़रा-सी बात आन और शानका सवाल बन जाती है। हम किसी कुर्सीपर बैठते हैं, तो उससे चिपक जाते हैं। प्रधानकी कुर्सीपर बैठनेवाला प्रधानीके साथ चिपक जाता है; मन्त्री की कुर्सीपर बैठनेवाला मन्त्रीपनके साथ चिपक जाता है। कई लोगोंको इन कुर्सियोंसे उठना ऐसा जान पड़ता है मानो कुर्सी उनके अंगका हिस्सा बन गई हो। लोग कहते हैं कि बीसवीं सदीमें कई नयी बीमारियाँ निकली हैं। और बीमारियाँ नयी हों या न हों, यह चिपकनेकी बीमारी ज़रूर नयी है। अबतक यह बीमारी राजनीतिक क्षेत्रतक सीमित थी,

अब यह धर्मके क्षेत्रमें भी प्रविष्ट हो गई है। बड़े-बड़े पंडित और धर्म-धुरंधर, जो गुण-कर्मानुसार अपनेको ब्राह्मण कहते हैं, किसी सभा-सोसायटीके प्रधान या मंत्री न चुने जायं, तो ग़श खा जाते हैं। इस बीमारीने जिस दिन धर्मके क्षेत्रमें पदार्पण किया था, उसी दिन धर्मकी नौका डगमगा गई थी। इस बीमारीसे समाजको बचानेका केवल एक ही उपाय है, और वह है समाजमें वानप्रस्थकी भावनाको जागृत करना। वानप्रस्थ केवल जंगलमें भाग जानेका नाम नहीं है, वानप्रस्थ 'निवृत्ति'-'त्याग'-'अपरिग्रह' का नाम है। 'परिग्रह' शब्द 'परि' तथा 'ग्रह' से बना है। 'परि' का अर्थ है, चारों तरफ़से, 'ग्रह' का अर्थ है, ग्रहण कर लेना, चिपट जाना। संसारको चारों तरफ़से चिपट जाना, छुड़ाये भी न छोड़ना 'परिग्रह' है, और उसे समय आनेपर ख़ुद छोड़ देना 'अपरिग्रह' है। क्या फल पक जानेपर स्वयं वृक्षसे टपक नहीं पड़ता ? फलके पक जानेपर उसका डालीसे अलग हो जाना ही 'वानप्रस्थ'की भावना है। समाजके प्रश्नोंपर जितना भी विचार किया जाय, एक ही परिणाम निकलता है। आज संसार को किसी सन्देशकी आवश्यकता है तो वानप्रस्थके सन्देशकी, त्याग और निवृत्तिके सन्देशकी। वैसे तो त्याग और निवृत्ति अवश्यंभावी हैं, हम नहीं छोड़ेंगे तो कुदरत हमसे छुड़ा देगी, हम नहीं हटेंगे तो कुदरत हमें धक्का मारकर परे कर देगी— संसारमें ऐसा होता आया है, ऐसा होता रहेगा। किसी सराय को ख़ुद छोड़ देने और कान पकड़कर निकाले जानेमें क्या कोई फ़र्क नहीं है ? बात एक ही है, नतीजा सराय छोड़ना है, लेकिन इस नतीजेको वैदिक-संस्कृतिने वानप्रस्थ-आश्रम द्वारा कितना सहल बना दिया था।

'वानप्रस्थ' आश्रमका क्या मतलब है? यह जानते हुए कि जीवनमें कूचका डंका बजना ही है हमारे सामने दो रास्ते रह जाते हैं। या तो हम इस सत्तर-अस्सी सालके जीवनमें किसी समय खुद बोरी-बिस्तर बांधकर चलनेकी तय्यारी करें, या तबतक बैठे रहें जबतक कोई हमें घसीटकर फेंक न दे। जो आदमी इस इन्तिज़ारमें बैठा रहता है कि कोई आकर उसे बाहर निकाले वह ढीठ होगा, दुराग्रही होगा, परन्तु बुद्धिमान् नहीं होगा। 'वानप्रस्थ'-आश्रमकी स्थापना करनेवालोंने इस बात को स्वीकार कर लिया था कि यहांसे चलना तो है, आज नहीं तो कल, और कल नहीं तो परसों। जब चलना ही है तब यह कहांकी अक्लमन्दी है कि कोड़ा ही लगे तब चलें, खुद-ब-खुद चलनेका नाम न लें। 'वानप्रस्थ'-आश्रम मजबूर होकर दुनियाँ-का छोड़ना नहीं, अपनी मर्ज़ीसे दुनियाँका छोड़ना है; किसी से डरकर दुनियाँसे भागना नहीं, अपनी इच्छासे जीवन-यात्रामें आगे चल देना है; पड़ावको घर बनाकर बैठे रहना नहीं, एक पड़ावसे दूसरे पड़ावको चलनेके लिये तय्यारी करना है। जो चीज़ होनी ही है, वह अगर हमारी मर्ज़ीसे हो, तो इसमें कितना आनन्द है। जब दुनियाँ छूटनी ही है, तो वह हमारी मर्ज़ीसे क्यों न छूटे? अगर कोशिश करनेपर कोई इस संसारमें सदा बना रह सकता, तब तो दुनियाँमें चिपके रहना ही ठीक था, परन्तु जब यह नामुमकिन है, तब क्यों न वह काम खुद किया जाय, जो हर हालतमें होनेवाला है? 'वानप्रस्थ'-आश्रम का यही लक्ष्य है।

वैदिक-कालके वानप्रस्थाश्रम—

वैदिक-कालमें ५० सालकी आयुके बाद गृहस्थी लोग वानप्रस्थाश्रममें प्रवेश करते थे। उस समयके शहर आजकलके शहरोंके समान इतने बड़े-बड़े नहीं होते थे। ठीक समय आने पर गृहस्थी अपने गांव या शहरके बाहर जंगलमें अपनी कुटिया बना लेते थे, और घर-गृहस्थीकी चिन्ताका भार सन्तानपर छोड़कर अपनी जंगलकी कुटियामें जा बसते थे। प्रत्येक गांव और शहरके इर्द-गिर्द इन वानप्रस्थियोंकी कुटियाओंका तांता बंधा रहता था, शहरोंमें बालक और युवा, और वनोंमें वृद्ध लोग रहा करते थे। शहर वानप्रस्थियोंकी कुटियाओंसे इस प्रकार घिरे रहते थे जैसे कोई दोनों हाथ डालकर किसीको समेट ले, घेर ले। वानप्रस्थी दुनियाँ के अनुभवमें से गुज़रे हुए, सब तरहसे सधे हुए होते थे; युवक लोग जीवन-संग्राममें नया अनुभव प्राप्त कर रहे होते थे। समय-समयपर गृहस्थी-युवक वानप्रस्थियों के आश्रमोंमें जाते थे, और उनसे उपदेश सुनकर फिर अपने कामोंमें आ जुटते थे। जब कोई विकट समस्या आ उपस्थित होती थी, तो गृहस्थी लोग उसे अपने बुज़ुर्गोंके सामने रखते थे, और उनके परामर्शसे लाभ उठाकर अपनी समस्याओंको हल किया करते थे। जब कभी गृहस्थी लोग संसारकी चिन्ताओं से उद्विग्न और खिन्न हो जाते थे, तो इन आश्रमोंमें जाकर आत्मिक शांति प्राप्त करते थे। आज हमारे युवक थके-मांदे सायंकाल सिनेमा और थियेटर देखने जाते हैं, और इसी प्रकार अपनी थकावट दूर करते हैं क्योंकि उनके पास दूसरा कोई साधन नहीं। वैदिक-कालमें दिनभरकी थकावटके बाद उसे

दूर करनेके लिये युवकोंकी टोलियों-की-टोलियां वानप्रस्थियोंके आश्रमोंकी तरफ़ सैर करने जाती हुई नज़र आती थीं। आश्रम शहरसे दूर जंगलमें होते थे, वहांतक जानेमें काफ़ी श्रमण भी हो जाता था, और वहां जाकर जो आध्यात्मिक-प्रसाद मिलता था उससे शारीरिक-थकावटके साथ-साथ मानसिक-थकावट भी दूर हो जाती थी। आज कोई युवक जब आत्मिक-अशांतिके समुद्रमें गोते खाने लगता है, तो उसे बचानेवाला कौन है ? वह कहां जाय, और किसके पास जाय ? जिधर उसकी नज़र दौड़ती है उसे अपने ही जैसे भटकनेवाले नज़र आते हैं। अन्धा अन्धेको क्या रास्ता दिखा सकता है ? वैदिक-कालका इस प्रकारका युवक, इकला, शहरसे दूर किसी वान-प्रस्थीके आश्रमको लक्ष्यमें रखकर चल देता था। वहां ५०-६० वर्षका वृद्ध स्वयं उस प्रकारके अनुभवोंमेंसे कई बार गुज़र चुका होता था। उसे पता होता था कि मनुष्य-जीवनमें किस प्रकार की आंधियां आती हैं, किस प्रकारके तूफ़ान उठते हैं। वह उस युवकको अपने पास बैठाकर उसे अपने जीवनकी कथा सुनाता था, और वह युवक अपने दिलका रोना सुनाकर अपने बोझको हल्का अनुभव करता था। आजका युवक किसके पास जाय, किसके पास अपना रोना रोये ? आज हमारे युवकोंके प्रश्नोंको कौन हल करे ? उस समयके वानप्रस्थियोंके आश्रम आध्यात्मिकता का संचार करनेके केन्द्र बने हुए थे, जैसे दीपसे ज्योति चारों ओर बिखरती है वैसे उन आश्रमोंसे श्रेय और शान्तिकी ज्योति चारों तरफ़ फैलती थी। आज सारा संसार विषयोंकी तरफ़ भागा चला जा रहा है, भोगवाद बढ़ रहा है, जीवन उथला होता जा रहा है, आध्यात्मिकताका लोप हो रहा है, इस

सबको कौन रोके, कौन थामे ? जो खुद भोगवादमें फंसे हुए हैं वे दूसरोंको इसमेंसे कैसे निकालेंगे, जो खुद प्रवृत्ति-मार्गके शिकार हैं वे दूसरोंको निवृत्तिका क्या उपदेश देंगे, जो खुद दलदलमें धंसे हुए हैं वे दूसरोंका हाथ क्या खींचेंगे ? वानप्रस्थी भोगमेंसे निकलकर त्यागके मार्गपर चलने लगा था, प्रवृत्तिमेंसे निकलकर निवृत्तिके मार्गका राही था, दलदलमेंसे निकलकर बाहर आ खड़ा हुआ था, इसलिये वह दूसरोंको त्यागका उपदेश दे सकता था, निवृत्तिका पाठ पढ़ा सकता था, दलदलमेंसे घसीटनेके लिये अपना हाथ आगे कर सकता था। इसीलिये वानप्रस्थियोंका युग भोग और त्यागसे निखरी हुई सच्ची आध्यात्मिकताका युग था। वानप्रस्थियोंके आश्रमोंका तांता वैदिक-कालमें सम्पूर्ण भारतवर्षमें बिछा हुआ था। इसीका परिणाम था कि हमारा देश आध्यात्मिकता के क्षेत्रमें संसारके सब देशोंका मूर्धन्य था।

वानप्रस्थाश्रम तथा आर्थिक-समस्या—

इस प्रकार वानप्रस्थ-आश्रमकी स्थापनाद्वारा वैदिक-संस्कृतिने कोरे भोगवादकी जड़ हिला दी थी। वानप्रस्थ-आश्रम एक और भी समस्याका हल था। अगर किसी समाज में काम करनेवालोंकी संख्या बढ़ती जाय, और इतनी बढ़ जाय कि पुराने काम करनेवाले कम न हों, और नयोंकी बाढ़ आती जाय, तो उसका नतीजा इसके सिवा क्या होगा कि किसी समय सभी भूखे मरने लगें ? आज बेकारी इतनी क्यों बढ़ रही है ? बेकारी इसलिये बढ़ रही है क्योंकि जिन लोगोंकी आयु पेंशन पानेलायक हो गई है वे पेंशन

पानेके बाद फिर नये सिरेसे नौकरी शुरू कर देते हैं, या कोई-न-कोई धंधा किये चलते हैं। वैदिक-संस्कृतिमें ऐसा नहीं था। उसमें सामाजिक-व्यवस्था ही ऐसी थी कि ५० की आयुके सब लोग अलग छंट जाते, थे, नवयुवकोंके लिये जगह अपने-आप खाली हो जाती थी। आज जिन लोगोंको कमाना चाहिये वे बेकार बैठे हैं, जिन्हें कमाई छोड़कर आश्रममें जा बैठना चाहिये, वे कमा रहे हैं। नवयुवक भी बेकार इसलिये नहीं बैठे क्योंकि वे कमा नहीं सकते। वे कमा सकते हैं, परन्तु अगर उन्हें कमाने का मौका मिले। उनके लिये कठिनाई यह है कि वे जो पेशा सीखते हैं वही भरा हुआ है। पुराने वकीलोंकी मौजूदगीमें नये वकील कैसे काम करें, पुराने डाक्टरोंकी मौजूदगीमें नये डाक्टर क्या करें, पुराने दुकानदारोंके होते हुए नये दुकानदार कैसे फूले-फलें ? आश्रम-व्यवस्था द्वारा वैदिक-कालके ऋषियोंने बेकारीके प्रश्नको हल कर लिया था। उन्होंने मनुष्य-जीवनको चार हिस्सोंमें बांट दिया था, और उनमेंसे केवल एक आश्रममें अर्थोपार्जन होता था। ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी और संन्यासी धनोपार्जन नहीं करते थे। इसका यह मतलब नहीं कि धनोपार्जनसे बचनेके लिये वे लोग वानप्रस्थी या संन्यासी हो जाते थे। गृहस्थमें धनोपार्जन किये बग़ैर किसीको वानप्रस्थमें आनेका अधिकार नहीं था, और अधिकतर, वानप्रस्थी ही संन्यासी होता था। हरेक आदमी कमाता था, परन्तु एक ख़ास आयुमें आकर कमाना छोड़ देता था, दूसरोंके लिये रास्ता खोल देता था। गृहस्थियोंमें भी सब नहीं कमाते थे। गृहस्थियोंमें भी ब्राह्मण और क्षत्रियका समय कमानेमें नहीं, अपनी-अपनी योग्यताके अनुसार समाजकी सेवा करनेमें बीतता था। केवल वैश्य व्यापार

द्वारा कमाते थे, और जब इतने थोड़े लोग कमाते थे, तो वे इतना अधिक कमा लेते थे कि सारे समाजको खाने-पीनेके लिये काफ़ी दे देते थे। समाजके लिये धन कमाना ही उनकी समाजके प्रति सेवा थी। आज सब कमा रहे हैं, व्यापारी बने हुए हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र तो कमा ही रहे हैं, इधर विद्यार्थी, गृहस्थी, वानप्रस्थी और संन्यासी भी कमा रहे हैं। धन कमानेके लिये जो यह संग्राम मचा हुआ है उसका परिणाम है कि कुछ लोगोंको ज़रूरतसे ज़्यादा मिल जाता है, कुछ लोग भूखे मरते हैं। वैदिक-कालमें 'वानप्रस्थ' आश्रमके कारण यह अव्यवस्था नहीं थी। बड़े-बड़े वैद्य, व्यवसायी, शिल्पी, अध्यापक और दुकानदार ५० सालकी आयुके बाद अपने-आप सब-कुछ छोड़ देते थे, उनकी जगह नये-नये युवक लेते रहते थे। ये नये लोग पुरानोंके साथ अपना सम्पर्क बनाये रखते थे। अगर किसी नवयुवक वैद्यको कोई बात समझ नहीं पड़ती थी, तो वह किसी पुराने धुरंधर वैद्यकी सेवामें आश्रममें जाकर उपस्थित होता था, उसके परामर्शसे पूरा लाभ उठाता था। इस प्रकार पुरानों के आशीर्वादसे नये लोग तय्यार होते थे और समाज दिनोंदिन उन्नति करता जाता था। कई लोग कह बैठते हैं कि अगर पुराने इस प्रकार क्षेत्रको छोड़कर अलग जा बैठेंगे, तो समाज को नुकसान होगा, पुरानोंका अनुभव समाजके लिये निकम्मा हो जायगा। यह बात ग़लत है। इस समय भी अगर कोई पुराना अनुभवी शहरमें बैठा रहे, तो कोई गारण्टी नहीं कर सकता कि वह संसारके अन्ततक बना रहेगा। आज नहीं तो कल, कल नहीं तो परसों वह भी चल देगा। उसका अनुभव दूसरोंके लिये इसी प्रकार उपयोगी हो सकता है कि नये काम

करनेवाले आवश्यकता पड़नेपर उसकी सहायता लेते रहें। वैदिक-कालमें वानप्रस्थी इस प्रकारकी हर समय सहायता दिया करते थे। वे अपने पेशोंको नये कार्यकर्ताओंके लिये खाली करते रहते थे, अपना बोझ स्वयं उनके कन्धोंपर डालते थे, क्योंकि उन्हें जीवनकी यात्रामें अगले पड़ावके लिये चलना होता था, किसी मजबूरीसे नहीं, जीवन-यात्राकी यथार्थताको सिद्ध करनेके लिये आगे कदम रखे बिना उन्हें आत्म-तत्त्वका विकास नहीं दीखता था।

वानप्रस्थाश्रम तथा अनिवार्य-शिक्षा

भोगवाद तथा बेकारीके प्रश्नको हल करनेके साथ-साथ वानप्रस्थाश्रम एक और समस्याको भी हल करता था। जो लोग घर-बार छोड़कर जंगलमें जा बसे होते थे, वे वानप्रस्थ लेनेसे पूर्व दुनियाके सब प्रकारके धन्धे कर चुके होते थे। उनमेंसे कुछ-एकके छः-छः सन्तानें भी हो चुकी होती थीं। उन्हें मालूम था कि छोटे बच्चोंका मानसिक-विकास किस प्रकार होता है। वे अपनी उम्रमें बच्चोंके साथ हंस चुके होते थे, रो चुके होते थे, खेल चुके होते थे। अब इनके वानप्रस्थमें आनेके बाद गांवके छोटे-छोटे बालक इनके पास आकर पढ़ने लगते थे। कभी-कभी किसी वानप्रस्थीके पास बीस बालक एकत्रित हो जाते थे, किसी-के पास पचास, किसीके पास इससे अधिक। ये बालक अमीर भी होते थे, और गरीब भी; राजाओंके भी होते थे, रंकोंके भी; परन्तु वानप्रस्थियोंके आश्रममें आकर इनका ऊंच-नीचका कोई भेद-भाव नहीं रहता था। उन आश्रमोंमें ये सब भाई-भाई थे। ऐसे ही किसी आश्रममें, सदियां गुजर गईं, कृष्ण

ग्रौर सुदामा पढ़े थे। बालक गांव से भिक्षा ले ग्राते थे, ग्रौर ग्राश्रममें ग्राकर सब मिल कर बांट लेते थे, गुरु भी खाते थे, शिष्य भी खाते थे। कभी कोई ग्रमीर घरका बालक किसी ग़रीब झोंपड़ीके सामने जा खड़ा होता था, कभी कोई ग़रीब घरका बालक किसी ग्रमीरके महलके सामने पहुँच जाता था, परन्तु ग्रमीर घरका बालक ग्रपनेको ग्रमीर नहीं समझता था, ग़रीब घरका बालक ग्रपनेको ग़रीब नहीं समझता था। इधर घरकी देवियां इन बालकों के मधुकरी लेनेके लिये ग्रानेकी बाट जोहा करती थीं, कभी देर हो जाती, तो घरसे निकल-निकल-कर व्यग्रतासे देखतीं कि ग्राज बालकोंकी मण्डली क्यों नहीं ग्राई ? वानप्रस्थियोंके इन ग्राश्रमोंको ही 'गुरुकुल' कहा जाता था। इन ग्राश्रमोंमें न खाने-पीनेके लिये कुछ लिया जाता था, न पढ़ाने-लिखानेके लिये। इन ग्राश्रमोंमें पढ़ानेवालोंको कोई वेतन नहीं मिलता था। फिर भी बिना वेतन लिये, बिना पढ़ाने-की फ़ीस लिये, बिना बालकोंसे खाने-पीनेका ख़र्च लिये, बालकों-की शिक्षाकी पूरी-पूरी व्यवस्था ग्रपने देशमें चल रही थी। इस व्यवस्थाका ग्राधार वानप्रस्थ-ग्राश्रम था। ग्राजकलकी ग्रवस्थाग्रों में निःशुल्क तथा ग्रनिवार्य-शिक्षाके इस कार्यको पूरा करनेके लिये लाखों नहीं, करोड़ों रुपयेकी ज़रूरत है। वैदिक-संस्कृतिने इस समस्याको वानप्रस्थाश्रमद्वारा हल किया था। ग्राज भी बर्मामें जगह-जगहपर वानप्रस्थियोंके ग्राश्रम हैं। ये ग्राश्रम प्रत्येक शहर या गांवके पास हैं। गांवका प्रत्येक बालक इन ग्राश्रमोंमें शिक्षा ग्रहण करनेके लिये भेजा जाता है, रहता भी वहीं है। वह भिक्षा मांगता है, खुद खाता है, ग्रौर गुरुको खिलाता है। बर्माके इन ग्राश्रमोंका ही प्रताप है कि ग्राज जहां भारतमें कुछ ही

फ़ी-सदी पढ़े-लिखे हैं वहां बर्मामें ९९ फ़ी-सदी पढ़े-लिखे हैं। इसका यह कारण नहीं कि सरकार बर्मामें शिक्षापर अधिक खर्च कर रही है, इसका यह कारण है कि वहांपर वानप्रस्थ-आश्रम अपने टूटे-फूटे रूपमें आज भी विद्यमान है, और वान-प्रस्थ-आश्रमोंसे घिरे हुए प्राचीन शहरोंका जो नक्शा हमने अभी खींचा, वह बर्मामें आज भी खिचा हुआ है।

संन्यासाश्रम—

वैदिक-संस्कृतिको जन्म देनेवाले ऋषियोंने जीवनको यात्रा कहा था, और इसे चार पड़ावोंमें बांटा था। चौथा पड़ाव संन्यास-आश्रम था। वे खुली हवामें रहनेको इतना पसन्द करते थे कि उनकी रूप-रेखाके अनुसार जीवनका तीन-चौथाई हिस्सा खुली हवामें बीत जाता था। ब्रह्मचारी जंगल में रहते थे, गृहस्थी शहरोंमें रहते थे, परन्तु वानप्रस्थ और संन्यास फिर खुली हवाके आश्रम थे। इस प्रकार जीवनके सबसे अधिक भाग-को खुले मैदानों और जंगलोंमें बितानेके कारण उस समय आयु-की लम्बाई आजकलसे बहुत अधिक थी। सौ बरस जीना—'जीवेम शरदः शतम्'—यह प्रत्येक नर-नारीकी एक स्वाभाविक आकांक्षा थी।

आज संन्यास-आश्रमका अभिप्राय यह समझा जाता है कि मनुष्य सब काम छोड़कर बैठ जाय। हमारा देश ऐसे संन्या-सियोंसे भरा पड़ा है जो कुछ नहीं करते। वे समझते हैं, अगर वे कुछ करेंगे तो संन्यासी ही नहीं रहेंगे। आज हम कुछ न करनेका नाम संन्यास समझते हैं। परन्तु आश्रम-व्यवस्थामें जिस संन्यासकी कल्पना की गई है वह ऐसा नहीं है। संन्यास

चारों आश्रमोंकी शृंखलामें एक कड़ी है, जीवन-यात्रामें आख़िरी मंज़िल है, अन्तिम पड़ाव है। जिस भावका विकास पहले आश्रमोंमें किया जाता है, उसीकी चरम सीमा संन्यासमें होती है, जिस उद्देश्यको लेकर पहले आश्रम चलते हैं, वह उद्देश्य धीरे-धीरे पूरा होता हुआ संन्यासमें पूर्णरूपसे सिद्ध हो जाता है। संन्यास स्वतन्त्र आश्रम नहीं है, पहले तीनके साथ जुड़ा हुआ है, और जो भावना पहले तीन आश्रमोंमें काम करती है वही संन्यासमें अपनी पूर्णतापर पहुंच जाती है। हम यह देख चुके हैं कि पहले तीन आश्रमोंमें क्या विचार काम कर रहे हैं।

पहले हमने देखा था कि ब्रह्मचर्य-आश्रममें त्याग तथा तपस्याका पाठ सिखाया जाता है ताकि जब भोगकी आयु आये तब मनुष्य उसके लिये पूरा तय्यार हो। संसारके विषयोंको भोगे बिना, वे क्या हैं, कैसे हैं, यह जाने बिना मनुष्य अपनेको भटकनेसे नहीं रोक सकता, इसीलिये गृहस्थ-आश्रमकी कल्पना की गई है। परन्तु अगर गृहस्थमें पड़कर मनुष्य गृहस्थका ही हो गया, तब उसने गृहस्थ-आश्रमका उद्देश्य नहीं समझा। गृहस्थमें जाना गृहस्थमेंसे निकलनेके लिये है, विषयोंको भोगना विषयोंसे छुटकारा पानेके लिये है, संसारमें लीन होना संसारकी असारताको समझनेके लिये है, भोगवादका मार्ग त्यागवादकी तरफ़ ले जानेके लिये है, प्रवृत्ति निवृत्तिके लिये है। संसारमें ऐसा ही होता है, और सदासे ऐसा ही होता आया है। मनुष्यके मनकी रचना भी ऐसी ही है। ऋषियोंने तो केवल इस स्वाभाविक मनोवैज्ञानिक सचाईको आश्रमोंके रूपमें एक व्यवस्थामें बांध दिया था। गृहस्थके बाद वैराग्य आता ही है, आज हम उस वैराग्यका समाजको लाभ नहीं पहुंचाते, ऋषियोंने ऐसी

व्यवस्था कर दी थी जिससे इस वैराग्यका समाजको भी लाभ पहुंचता था। आज भी बाबाजी घर बैठकर अपने पोतोंको कन्धेपर चढ़ाकर घूमा करते हैं, कभी उनके लिये घोड़ा बनते हैं, कभी गधा बनते हैं। ऋषियोंकी व्यवस्थाके अनुसार अपने बाल-बच्चोंके लिये ही बाबा बननेके स्थानपर अपने सारे गांव और सारे शहरके बच्चोंके लिये बाबा बनने का विधान था। अब भी तो बाबाजीको सारे गांवके बच्चे बाबा कहने लगते हैं। भेद इतना है कि अब सबका बाबा होते हुए भी वह अपने पोतोंका ख़ास बाबा है, और वानप्रस्थी अपने बच्चोंका मोह त्याग देता है, गांवभरके बालक उसके बालक हो जाते हैं, वह सबका समान रूपसे बाबा हो जाता है। यह त्यागकी भावना, जिसका उदय गृहस्थाश्रमसे होता है, वानप्रस्थ-आश्रममें आकर पक जाती है। गृहस्थी संसारको भोगनेके बाद उसे एकदम छोड़ देता है। बनी-बनाई गृहस्थीको छोड़ना आसान नहीं है। परन्तु जब एक दिन बरबस यह सब-कुछ छोड़ना पड़ेगा, रोते-धोते छोड़ना पड़ेगा, हाय-हाय की पुकारमें छोड़ना पड़ेगा, हम नहीं चाहेंगे, अपनोंको देखकर आंसू बहावेंगे, उन्हें चिपटेंगे, फिर भी छोड़ना पड़ेगा, तो क्यों न एक बार हंसकर, मुस्कराकर, उछलते हुए, कूदते हुए, झूमते हुए दुनियाको छोड़नेकी मस्ती का मज़ा लूटें। वानप्रस्थी यह मज़ा लूटता था, परन्तु फिर भी उसमें अभी कुछ कसर बाक़ी थी। वह अपने शहरसे उठकर उसके पासके जंगलमें जा बैठता था। कभी-कभी उसके बाल-बच्चे उसे मिलने आते थे और उसके भी उनके पास आने-जाने-की सम्भावना बनी रहती थी। वानप्रस्थीके पास जो बालक पढ़ने आते थे, और कुछ नहीं तो उनमें ही उसका मोह हो

सकता था, उन्हें ही वह अपने बच्चोंकी तरह ऐसा प्यार कर सकता था जो उसे बांध ले। परन्तु वह तो गांठ बांधनेकी जगह गांठ खोलनेके रास्तेपर कदम रख चुका था। इसलिये वानप्रस्थके बाद एक ऐसा आश्रम आता था जिसमें अगर कोई गांठ रह भी गई हो तो वह खोल दी जाती थी, और वानप्रस्थी सच्चे अर्थोंमें संन्यासी हो जाता था। संन्यासी मोहकी, ममताकी, तेरे-मेरेकी सब गांठोंको काट डालता था, और निर्द्वन्द्व होकर, किसी ख़ासको अपना न बनाकर और किसी ख़ासका न बनकर, सब-को अपना बनाकर और स्वयं सबका होकर घूमता था। आज संन्यासियों के बड़े-बड़े मठ हैं, जिनके नहीं हैं, वे मठ बनानेकी धुनमें हैं। बदनपर कपड़ा न रखने और भीख मांगकर रोटी खा लेनेका नाम ही संन्यास नहीं है। संन्यास बाहरका नहीं, भीतरका चिह्न है। संन्यास घर-बार छोड़नेका नाम नहीं, राग-द्वेष, मोह-ममता छोड़नेका नाम है। संन्यास लेनेके बाद घर-वालोंके लिये मनुष्य मर जाता था। कभी-कभी तो घरवालोंको पता भी नहीं होता था कि उनके सूत्रका कर्णधार कहां गया। मरना सबको है। संन्यासी मृत्युके बहुत निकट पहुंच चुका होता था। मरकर तो संसारको छोड़ना ही पड़ता है, संन्यासी जीते-जी मरनेका मज़ा लूट लेता था और पल्ला झाड़कर दुनियासे चलनेके लिये हर वक्त तैयार रहता था। उसके तनपर पड़ा भगवा कपड़ा हर समय उसे आगकी उन लपटोंकी याद दिलाता था जिनमें पड़कर अन्त समयमें सबको पांच तत्त्वोंमें मिल जाना है।

संन्यासीका लक्ष्य प्राणिमात्रकी सेवा था—

परन्तु त्यागकी इस उच्च भावनाका यह अभिप्राय कभी नहीं था कि संन्यासी समाजके लिये निकम्मा हो जाता था। वैदिक-संस्कृतिके आदर्शके अनुसार 'त्याग'का ही दूसरा नाम 'सेवा' था। आखिर, मनुष्य किसी-न-किसी क्षेत्रमें सेवा तो करता ही है। पहले वह संकुचित क्षेत्रमें सेवा करता है। बाल्य-कालमें तो अपनी ही सेवा करता है। छोटा बच्चा क्या करता है ? उसे यह खयाल नहीं होता कि माता-पिताके पास भी खानेको है या नहीं। घरमें खानेकी जो बढ़िया-से-बढ़िया चीज़ आये, बच्चा चाहता है, और किसीको मिले या मिले, उसे अवश्य मिले। बड़े होनेके बाद गृहस्थाश्रममें यह भाव नहीं रहता। माता-पिता स्वयं भूखे रह जाते हैं परन्तु सन्तानको पहले देते हैं। गृहस्थ-जीवनका यह पाठ क्या सिखाता है ? रातको बालक जब बिस्तरपर पेशाब कर देता है तो माता क्या करती है ? क्या वह अपने नीचे सूखा कपड़ा, और बच्चे के नीचे गीला कपड़ा कर देती है ? नहीं, वह खुद गीलेमें पड़ी रहती है, बालकके नीचे फ़ौरन सूखा कपड़ा डाल देती है। बालकको जब नींद नहीं आती, तो मां क्या खुद सोती रहती है और बालकको रोने देती है ? नहीं, वह ख़ुद जाग जाती है, आवश्यकता होती है तो रात भर उसे गोदमें लिये थपकी देती रहती है, खुद नहीं सोती, उसे सुला देती है। गृहस्थ-जीवन त्यागका पाठ सिखाता है, परन्तु किस चीज़का त्याग ? अपने सुखका त्याग, अपने आरामका त्याग, अपने ऐश्वर्य तथा उपभोग का त्याग ताकि सन्तानको सुख मिल सके, आराम मिल सके।

त्यागके भावके साथ-साथ सेवाका भाव बढ़ता जाता है, यहां तक कि सन्तानकी सेवाके लिये माता-पिता अपना सब-कुछ त्याग करनेके लिये तय्यार हो जाते हैं। गृहस्थमें सेवाका पाठ पढ़कर जब स्त्री-पुरुष वानप्रस्थ-आश्रममें प्रवेश करते हैं तब समाज-सेवाका भाव और अधिक उग्र हो जाता है। गृहस्थ-आश्रममें वे लोग अपने बाल-बच्चोंकी सेवा करते थे, परन्तु वानप्रस्थमें आकर वे अपने बाल-बच्चोंको छोड़ देते हैं और समाजके बाल-बच्चोंकी सेवा करने लगते हैं। यहांपर भी त्यागकी भावना मनुष्यको सेवाके मार्गपर ही आगे-आगे बढ़ाती जाती है। वानप्रस्थी त्याग करता है, परन्तु त्याग इसलिये करता है ताकि वह अपने सेवाके क्षेत्रको विस्तृत कर सके, वह त्याग इसलिये नहीं करता कि जंगलमें निकम्मा बैठ सके। वैदिक-कालके वानप्रस्थियोंके सहारे सम्पूर्ण भारतवर्षमें बिना कौड़ी खर्च किये निःशुल्क तथा अनिवार्य शिक्षाका देशके एक कोनेसे दूसरे कोनेतक प्रचार था—क्या इससे भी बढ़कर सेवा-भावका कोई दूसरा दृष्टान्त मिल सकता है? वानप्रस्थी भी अपने गांव या अपने शहरकी ही सेवा करता था। कुछ देर बाद उसे इस परिमित क्षेत्रका त्याग कर और अधिक विस्तृत क्षेत्र में आना होता था, और अपने ही देशकी नहीं, अपनी ही जाति की नहीं, अपने ही लोगोंकी नहीं, संसारकी सेवा करना उसका कर्तव्य हो जाता था। फिर वह किसी एक देशका नागरिक न होकर विश्वका नागरिक हो जाता था, उसका काम किसी एक देश या एक जाति की भलाई सोचना न होकर संपूर्ण संसारकी भलाई सोचना होता था। जो लोग संन्यास-आश्रमको खाली बैठे रहनेका आश्रम समझते हैं वे ऋषियोंके विचारकी थाहको नहीं

पहुंच पाते। वैदिक-संस्कृतिकी मर्यादाके अनुसार संन्यासी और सबकुछ कर सकता है, परन्तु खाली, निकम्मा नहीं बैठ सकता। वह तो विश्वका नागरिक है। जिन लोगोंपर ज़िला-बोर्डोंकी चिन्ता होती है उनकी अपेक्षा विधान-परिषद्के सदस्योंका दृष्टि-कोण विशाल होता है, उनकी अपेक्षा पार्लियामेंटके सदस्योंका दृटिष्कोण और अधिक विशाल होता है, परन्तु संयुक्त-राष्ट्र-संघ के सदस्योंका दृटिष्कोण तो सबसे अधिक विशाल होना चाहिये। चाहिये इसलिये क्योंकि होता नहीं है। संन्यासीकी दृष्टि संयुक्त-राष्ट्र-संघकी दृष्टि है। आज संसारको सच्चे संन्यासियों की आवश्यकता है, ऐसे संन्यासियोंकी जिन्हें विश्वका नागरिक कहा जा सके। आज युरोपने संयुक्त-राष्ट्र-संघकी इमारतें खड़ी कर ली हैं, उन इमारतोंमें बढ़िया-से-बढ़िया फ़र्नीचर भी जुटा लिया हैं, परन्तु युरोप इन भवनोंमें बैठने योग्य मानव तय्यार नहीं कर सका, ऐसे 'विश्वके नागरिक' नहीं पैदा कर सका जो अपने देशकी ही नहीं, संसारके प्राणिमात्रकी सेवाका व्रत ले बैठें। आज यह दरिद्र भारत युरोपको क्या दे सकता है? परन्तु भारत तो सदियोंसे देता रहा है, और इस दरिद्रावस्थामें भी दे सकता है। आज भारत युरोपको 'विश्वके नागरिकों'का सन्देश दे सकता है, संयुक्त-राष्ट्र-संघमें बैठने योग्य इन्सान पैदा करनेका सन्देश दे सकता है, और दे सकता है विश्वको एक सूत्रमें बांधनेवाले, संसारके हितके लिये सब-कुछ कुर्बान कर देनेवाले, प्राणिमात्रकी सेवामें अपनेको भूल जानेवाले त्यागी-तपस्वी, संन्यासियोंको ढूंढ़-ढूंढ़कर विश्वका मूर्धन्य बनानेका सन्देश।

अक्सर लोग कह बैठते हैं कि भारतीय दृष्टिकोण स्वार्थका, खुदग़र्ज़ीका दृष्टिकोण है। इस देशमें लोग अपनी उन्नतिके

लिये जंगलमें निकल जाते थे। यह विचार ग़लत है। आश्रम-प्रणाली इस बातका प्रमाण है कि इस देशमें स्वार्थको कम करते-करते धीरे-धीरे इतना कम कर दिया जाता था कि स्वार्थ सिफ़रमें तब्दील हो जाता था, और उसकी जगह परार्थ आ जाता था। ब्रह्मचर्य-आश्रममें बालककी दृष्टि अपनेपर होती है, वह अपने सिवा किसीको कुछ नहीं समझता। वह पढ़ता है, लिखता है, खाता है, पीता है, सोता है, वर्ज़िश करता है, और अपने आत्मा, मन, शरीरको बनाता है। उसे किसीकी कोई चिन्ता नहीं, संसारके धन्धोंसे उसे कोई सरोकार नहीं। वह एक दृष्टिसे 'स्वार्थ'का नमूना है। परन्तु उसे इसी जगह तो टिकना नहीं होता। ब्रह्मचर्यके बाद गृहस्थ-आश्रम आता है। अब वही व्यक्ति जिसे किसीका फ़िक्र नहीं था, चिन्ता नहीं थी, ख़ुद पीछे खाता है, अपने बच्चोंको पहले खिलाता है। वह अगर बाज़ारसे अंगूर लाता है तो ताज़े अंगूर बच्चोंको देता है, दाग़ी दाने ख़ुद खा लेता है। गृहस्थाश्रममें आकर वह स्वार्थका पाठ भूल रहा है, परार्थका पाठ सीख रहा है; स्वार्थसे दूर होता जा रहा है, परार्थके निकट पहुँच रहा है। तीन-चार बच्चोंका बाप हो जानेके बाद वह बिल्कुल स्वार्थ-हीन हो जाता है। उसकी कोई अपनी इच्छा नहीं रहती, अपना स्वार्थ नहीं रहता, अपने बच्चोंकी इच्छाएँ, उनकी ज़रूरतें ही उसकी इच्छाएँ और उसकी ज़रूरतें बन जाती हैं। गृहस्थाश्रम में वह दूसरोंके स्वार्थको अपना स्वार्थ बनानेका सबक़ सीख जाता है, परन्तु अब भी वह इसमें दक्ष नहीं हो पाता। इसमें दक्षता प्राप्त करनेके लिये उसे वानप्रस्थी होना पड़ता है। अब उसे यह भूल जाना होता है कि उसके अपने बच्चे ही उसके

बच्चे हैं, उसके अपने सगे-संबंधी ही उसके निकटके हैं। अब उसे गांव और शहरके सब बच्चोंको अपना बच्चा समझनेका सबक़ सीखना है, स्वार्थ या खुदग़र्ज़ी को और कम करना है। वानप्रस्थ-आश्रममें वह दूसरोंको अपना समझनेका पाठ पढ़ता है, और यह पाठ संन्यास-आश्रममें पूर्ण हो जाता है। संन्यासी के लिये खास तौरपर अपना कोई नहीं रहता, क्योंकि सब एक-समान उसके अपने हो जाते हैं।

ऋषियोंने आश्रम-व्यवस्थाको ऐसा बनाया था कि एक आश्रमके बाद दूसरे आश्रममें प्रवेश करता हुआ व्यक्ति स्वार्थकी एक-एक तहको उतारता जाता था, यहांतक कि अन्तिम आश्रममें पहुंचते-पहुंचते उस पर स्वार्थकी एक तह भी बाकी नहीं रह जाती थी, भीतरसे शुद्ध नि:स्वार्थ-भाव सूर्यके प्रचण्ड प्रकाशकी तरह चमक उठता था। संन्यासी कौन होता था ? संन्यासी वह होता था जो कोढ़ियों और अपाहिजों को देखकर अपने वदनके कपड़ेसे उनकी मरहम-पट्टी करता था, संन्यासी वह होता था जो रोती-कलपती विधवाओंके साथ बैठकर उनके आंसुओंमें अपने आंसू बहाता था, संन्यासी वह था जो लूलों और लंगड़ोंको देखकर उन्हें अपने हाथका सहारा देता था। संसारके बोझको अपना बोझ, संसारके दु:खको अपना दु:ख समझकर चिन्ता करनेवाले संन्यासी आज नहीं रहे, तो भी संन्यास-आश्रमका आदर्श यही था, इस आश्रम की मर्यादा यही थी।

संस्कारों द्वारा नव-मानवका निर्माण

वैदिक-संस्कृतिकी योजनाओंका केन्द्र मानवका निर्माण था—

जो देश उन्नति करने लगता है वह योजनाओंका एक तांता-सा बांध देता है। कोई पांच वर्षकी योजनाएँ बनाता है, कोई दस वर्षकी। इन योजनाओंमें क्या होता है? हम बांध बनायेंगे, नहरें खोदेंगे, पुल बांधेंगे, रेलें बिछायेंगे। ये सब योजनायें क्यों बनायेंगे? क्योंकि मानवका सबसे बड़ा प्रश्न रोटीका प्रश्न है। हम हज़ारों और लाखोंको इन निर्माण-कार्यों में लगाकर बेकारीकी समस्याको हल कर देंगे, और इन योजनाओंके पूरा होनेपर लोगोंको सब-कुछ मिलने लगेगा, बेकारीकी समस्या खुद ही न रहेगी। मानवकी भूख मिटानेका यह सारा उद्योग प्रशंसनीय है, परन्तु इन सब योजनाओंमें हम मानवको कितना तुच्छ, कितना क्षुद्र समझे हुए हैं! हम समझे हुए हैं कि मानव भूख और प्यासका पुतला है—इसके सिवा कुछ नहीं। वैदिक-संस्कृति मानवको शरीर-मात्र नहीं समझती, भूख और प्यासका ही पुतला नहीं समझती। वैदिक-संस्कृति बांध और पुल बांधने, नहरें, रेलें और सड़कें बनानेसे मना नहीं करती, शरीरकी भूख और प्यासकी समस्याको हल करनेसे भी मना नहीं करती, परन्तु वैदिक-संस्कृतिके कार्य-क्रममें ये

योजनाएँ अत्यंत प्रारंभिक योजनाएँ हैं, उसके कार्य-क्रमका क-ख-ग भी नहीं हैं। वैदिक-संस्कृतिकी असली योजना, वह योजना जिसके लिये इस संस्कृतिने जन्म लिया, 'मानवका निर्माण' है। हम बांध बांधते हैं, नहरें खोदते हैं, रेलें बिछाते हैं, सड़कें बनाते हैं, परन्तु वह मानव जिसके लिये सब-कुछ करते हैं, वह कहां है, उसके लिये, उसके 'आत्म-तत्त्व'के विकासके लिये, हमने पांच वर्षकी, दस वर्षकी, बीस वर्षकी कौन-सी योजना बनाई है? रेलोंका तांता बिछ जाय, मोटरें घर-घर चलने लगें, ज़मीनके चप्पे-चप्पेपर नहरोंका पानी पहुँच जाय, भूमिका कोई हिस्सा बंजर न रहे, परन्तु इन सबका उपभोग करनेवाला मानव अगर सच्चा न हो, ईमानदार न हो, दूसरेके दुःखमें दुःखी और सुखमें सुखी होनेवाला न हो, अगर वह सब तरहसे दुराचारी और भ्रष्टाचारी हो, तो ये रेल-मोटर, ये नहरें और बांध किस काम आयेंगे ? और, क्या ऐसा हो नहीं रहा ? क्या चारों तरफ़ चकाचौंध कर देनेवाले वैभवकी बढ़तीके साथ-साथ मानवका—उस मानवका जिसके लिये यह सम्पूर्ण वैभव और ऐश्वर्य खड़ा किया जा रहा है—दिनोंदिन पतन नहीं हो रहा ? मानव कहां है ? कहां है वह मानव जिसमें मानवीयता के गुण हों ? वह मानव जो प्रलोभनोंके प्रचण्ड बवण्डरके उठ खड़े होनेपर उसे तिनकोंकी तरह परे फेंक दे ? वैदिक-संस्कृति की सबसे बड़ी योजना, उसकी सब योजनाओंका केन्द्र 'मानव का निर्माण' था। आज हम यह तो सोचते हैं, दिनोंदिन बढ़ती जन-संख्याको किस तरह कम किया जाय। माता-पिता क्या करें जिससे कम-से-कम बच्चे पैदा हों क्योंकि हमारे सामने रोटी-कपड़ेके सिवा मानवकी कोई दूसरी समस्या है ही नहीं।

यह कोई नहीं सोचता कि जो बच्चे पैदा हो रहे हैं उनको मनुष्य बनानेके लिये क्या किया जाय। असली समस्या उनकी है जो पैदा हो चुके हैं। जो पैदा हो चुके हैं उनकी समस्या सिर्फ़ रोटी-कपड़े-मकान ही नहीं है। इसमें सन्देह नहीं कि रोटी-कपड़ा न मिलनेपर मनुष्य झूठा-बेईमान-दुराचारी-भ्रष्टाचारी हो सकता है, परन्तु इनके भरपूर मिलनेपर भी वह वैसा ही रहता है—इस समस्याका क्या हल है ? आज संसारमें भ्रष्टाचार उन लोगोंसे नहीं फैल रहा जो भूखे-नंगे हैं, उन लोगोंसे फैल रहा है जिनके पास खानेको ज़्यादा, पहननेको ज़्यादा, रहनेको ज़्यादा, सब-चीज़ सब तरहसे सबसे ज़्यादा है। वैदिक-संस्कृति ने अपने विचारका केन्द्र इस समस्याको बनाया था।

हमें मानव का निर्माण करना है। वह कैसा मूर्ख होगा जो ऐसा महल खड़ा कर रहा हो जिसमें रहनेवाला उसे उड़ा देनेके मनसूबे बांध रहा हो। आज हम एक महान् सभ्यताको जन्म दे रहे हैं, विज्ञानके बड़े-बड़े आविष्कार हो रहे हैं, मनुष्य पांवोंसे चलनेके स्थानपर उड़ने लगा है, परन्तु जिस विशाल वैभवको वह उत्पन्न कर रहा है उसके सर्वनाश के बीज वह साथ ही बखेरता चला जा रहा है। शान्तिका हम नाम लेते हैं, अशान्ति बढ़ती जाती है, प्रेमकी माला जपते हैं, द्वेष और घृणा फूलते-फलते हैं। क्या यह सब इसलिये नहीं है क्योंकि शान्तिके स्रोत, प्रेमके उद्गम-स्थान 'आत्म-तत्त्व'को हम भुलाये बैठे हैं। हम सब-कुछ बना रहे हैं, चारों तरफ़ हमारी योजनाएँ चल रही हैं, हम सिर्फ़ उस योजनाकी तरफ़से अन्धे हैं जिसपर हमारी सब योजनाओंका आधार है, जो योजनाओं की योजना है, जिसके लिये सब योजनाएँ हैं, और जिसके बिना सब योजनाएँ बेकार हैं।

'मानव-निर्माण' का आधार संस्कार प्रणाली—

वैदिक-संस्कृतिने मानवके निर्माणकी योजनाको तैयार किया था। इसी योजनाको सफल बनाने के लिये संस्कारों की पद्धति को प्रचलित किया था। संस्कारोंसे ही तो मनुष्य बनता है। आत्म-तत्त्व जन्म-जन्मान्तरोंमें किस प्रक्रियामेंसे गुज़रा है? हर जन्ममें इसपर संस्कार पड़ते हैं, अच्छे या बुरे—यही तो इस जन्मकी, पिछले जन्मोंकी, और अगले जन्मोंकी कहानी है। इस संस्कृतिमें मनुष्य-जन्मका उद्देश्य शुभ-संस्कारों द्वारा 'आत्म-तत्व' के मैलको धोना है, उसे निखारते जाना है। पिछला मैल कैसे धोया जाय, और नया रंग कैसे चढ़ाया जाय? यह सब-कुछ इस जन्मके संस्कारोंद्वारा ही तो हो सकता है। इस जन्ममें बंधकर ही तो आत्म-तत्व पकड़में आता है। बर्तन हाथसे पकड़कर मंजता है, आत्माकी शरीरमें बंध-कर मैल धुलती है, शरीरमें बंधकर ही उसपर शुभ-संस्कारोंका नया रंग चढ़ता है। जिस समय, जिस क्षण आत्मा शरीरके बन्धनमें पड़ा, उसी समयसे, उसी क्षणसे वैदिक-संस्कृति उसपर उत्तम संस्कार डालना शुरू कर देती है, और उस क्षणतक डालती चली जाती है जबतक 'आत्म-तत्त्व' शरीरको छोड़कर फिर तिरोहित नहीं हो जाता। आत्मा जब-जब शरीरमें आता है तब-तब वैदिक-संस्कृतिकी व्यवस्थामें संस्कारोंकी श्रृंखला से उसे ऐसा घेर दिया जाता है जिससे उसपर कोई अशुभ संस्कार पड़ने ही नहीं पाता। संस्कार तो पड़ने ही हैं, कोई व्यवस्था नहीं होगी, तो अच्छोंके स्थानमें बुरे संस्कार ज़्यादा पड़ते जायेंगे, मानवका निर्माण होनेके स्थानमें, मानवका बिगाड़

होता चला जायगा; व्यवस्था होगी, संस्कारोंका नियमन होगा, अच्छे संस्कार पड़ें, बुरे न पड़ें, इस बातका नियन्त्रण होगा, तो मनुष्य लगातार मनुष्य बनता जायगा, स्वयं उठता जायगा, समाज को उठाता जायगा। वैदिक-संस्कृतिकी जो विचार-धारा है उसके अनुसार, यह जन्म, पिछले जन्म, अगले जन्म—यह सब संस्कारोंद्वारा आत्म-शोधका एक सिलसिला है, संस्कारों-की लगातार चोटसे 'आत्म-तत्त्व'पर पड़े मैलको धो डालनेका प्रयत्न है।

अगर अगला-पिछला जन्म न मानें, इसी जन्मका मान, तब तो संस्कारों को नियंत्रित करके मानवका निर्माण अत्यन्त आसान हो जाता है। मनुष्य जो-कुछ है, 'वंशानुसंक्रमण' (Heredity) तथा 'पर्यावरण' (Environment) का ही परिणाम है। 'वंश-परंपरा'से माता-पिता जो शारीरिक या मानसिक संस्कार देकर हमें पैदा कर देते हैं और 'पर्यावरण'से जो संस्कार हमपर पड़ते जाते हैं, इन दोनोंके मिश्रणसे मनुष्य बनता है। जो पूर्व-जन्मोंको मानते हैं, उनके लिये, इस जन्ममें आत्मा के अपने 'निजी संस्कार', माता-पिताद्वारा 'वंश-परंपरा'से प्राप्त संस्कार, और 'पर्यावरण'से पड़नेवाले संस्कार—इन तीनोंका मुकाबिला करना एक कठिन समस्या बन जाती है; जो पूर्वजन्मको नहीं मानते उनकी समस्या 'वंश-परंपरा' तथा 'पर्यावरण'—इन दो प्रकारके संस्कारोंतक सीमित रह जाती है। अगला-पिछला जन्म न मानने, अर्थात् केवल इस जन्मको माननेवालोंके लिये तो मानवका निर्माण अत्यन्त सुगम है। इसमें तो आत्माके अपने पूर्व-जन्मोंके संचित संस्कारोंका प्रश्न ही नहीं उठता। हम जो संस्कार बालकपर डाल देंगे बड़ा होकर

वह वही बनेगा—यह सत्य भौतिकवादी संस्कृति की दृष्टिमें जितना सरल और सहज है उतना अध्यात्मवादी वैदिक-संस्कृति की दृष्टिमें नहीं, परन्तु फिर भी भौतिकवादी संस्कृतिका ध्यान मानवके निर्माणकी तरफ़ नहीं जा रहा। हम चूहों और खर-गोशों पर परीक्षण करते हैं, घोड़ों, बैलों और गायोंकी नसलों-को सुधारनेका प्रयत्न कर रहे हैं, परन्तु मानवके निर्माणके लिये हम कुछ नहीं कर रहे। वैदिक-संस्कृतिने संस्कारोंद्वारा मानवके निर्माणको अपने सम्पूर्ण कार्य-क्रम में एक विशेष महत्व-पूर्ण स्थान दिया था, शायद इसका कारण यह था कि वह आत्माकी सत्ताको मानती थी, आत्माके पूर्व-जन्मोंको मानती थी, शरीरके मुकाबिलेमें आत्माको ही यथार्थ-सत्ता मानती थी, शरीरको आत्माका साधन मानती थी, इस जन्मको, शरीर-का नहीं किन्तु आत्माका प्रश्न मानती थी, और आत्माके उन्नतिके मार्गपर चलनेको इतनी महान् समस्या मानती थी कि इस जन्ममें इसके हल करनेमें जान न लड़ा दी तो सब-कुछ खो गया, जीना-न जीना एक-सा हो गया—ऐसा मानती थी। उपनिषद्के ऋषिने कहा था—'इह चेदवेदीत् अथ सत्यमस्ति, न चेदवेदीत् महती विनष्टिः'—यहां, इस जन्ममें अगर आत्म-तत्त्वको पा लिया, तो ठीक, जन्म सार्थक हो गया, न पाया तो नाश, महानाश हो गया। आत्मापर जन्म-जन्मान्तरके संस्कारोंका इतना भारी बोझ था कि उसे उतारनेका मौका इस जन्ममें चूक जाना एक अनर्थके सिवा क्या हो सकता था? आत्मापर पड़े संस्कारोंके बोझको कैसे हल्का किया जाय, उसके संस्कार कैसे बदले जायं? वैदिक-संस्कृतिका कहना था कि माता-पिताद्वारा, उन माता-पिताद्वारा जिन्हें माध्यम बनाकर

आत्मा इस जन्मको धारण करता है, संस्कारोंकी चोट देकर, और 'परिस्थिति' द्वारा पड़नेवाले संस्कारोंको नियन्त्रित करके आत्माके पुराने संस्कार हटाये जा सकते हैं, उसपर नये संस्कार डाले जा सकते हैं। अगर आत्मा पुराने संस्कारोंको लेकर आता है, तो वे भी तो किसी जन्ममें माता-पिता तथा अन्य परिस्थिति-द्वारा नये सिरे से पड़ रहे थे। जैसे उस समय नये सिरेसे पड़ रहे थे, वैसे इस जन्ममें भीन ये संस्कार नये सिरेसे पड़ सकते हैं। वैदिक-संस्कृति निरी भाग्यवादी संस्कृति नहीं है। जो-कुछ है वह पीछेसे ही आता है, नया कुछ नहीं होता—यह वैदिक-संस्कृति का विचार नहीं है। न ही वैदिक-संस्कृति यह मानती है कि जो-कुछ है, नया ही है, पीछेसे कुछ नहीं आता। पीछेसे बहुत-कुछ आता है, आगे भी बहुत-कुछ नया बनता है, भाग्य भी है, पुरुषार्थ भी है, जो पीछेसे बना-वनाया आता है वह किसी समय बन रहा था, जो भाग्य है वह किसी समय पुरुषार्थ था। पुरुषार्थ तो पुरुषार्थ है ही, भाग्य भी इस दृष्टिसे पिछले जन्मका पुरुषार्थ है। आत्मा जिन संस्कारोंको लेकर आता है वे किसी समय पड़ रहे थे। जैसे किसी जन्ममें वे संस्कार पड़ रहे थे, आत्मापर पड़ रहे थे, उसके जीवनकी दिशाको बना रहे थे, वैसे इस जन्ममें इच्छित संस्कारोंको आत्मापर डालकर हम उसके जीवनकी नवीन दिशाका निर्धारण कर सकते हैं। पीछे जो-कुछ हो गया, हो गया, वह हमारे बसकी बात नहीं रही, इस जन्ममें सब-कुछ अपने हाथमें है, अपने बसमें है, इसलिये इस मौकेको चूक जाना 'महती विनष्टि'—महा अनर्थ—नहीं तो क्या है ? यह दृष्टि थी जिससे बैदिक-संस्कृतिने संस्कारोंकी विचार-धारा को जन्म दिया था।

पिछले जन्मोंके 'कर्म' तथा इस जन्मके 'संस्कार'—

परन्तु इस एक छोटे-से जन्मके संस्कार जन्म-जन्मान्तरोंके कर्मोंका मुकाबिला कैसे करेंगे? हमने न-जाने कितने कर्म किये, अच्छे किये, बुरे किये, उन सबको एक-एक करके भोगे बिना केवल इस जन्मके संस्कार क्या कर सकेंगे? क्या ये एक जन्मके संस्कार पिछले इकट्ठे हुए अनन्त जन्मोंके कर्मोंके बोझको, उन कर्मोंके पड़े हुए संस्कारोंको हल्का कर सकेंगे?

कर्मके विषयमें मानव-समाजने भिन्न-भिन्न विचारोंको जन्म दिया है। कोई कहता है, मनुष्यकी पीठपर दो फ़रिश्ते हर समय हर कामको दो बहियोंमें लिखते रहते हैं। कोई कहता है, चित्रगुप्तकी बहीमें एक-एक काम, अच्छा हो, बुरा हो दर्ज किया जाता है। हर कामकी पड़ताल होती है, हर कर्मका फल मिलता है, जबतक एक-एक कर्मका फल नहीं मिल जाता, कर्म बैठा रहता है। इन सब विचारोंका आधार-भूत विचार एक ही है। संसारमें कार्य-कारणका नियम चल रहा है। कोई कार्य बिना कारणके नहीं होता, और हर कारणका कार्य अवश्य होता है। जिसे हम कारण कहते हैं वह पिछले कारणका 'कार्य' हो सकता है, जिसे हम कार्य कहते हैं वह किसी अगले कार्यका 'कारण' हो सकता है। इस प्रकार कारण-कार्यकी व्यवस्थासे कर्मोंकी शृंखला चलती चली जाती है। कर्मोंकी इस कारण-कार्य-शृंखलाका रूप क्या है? कर्म किसी रजिस्टरमें नहीं लिखे जाते, चित्रगुप्त की बहीमें भी नहीं दर्ज होते। कर्म तो अपनी निशानी लगाते जाते हैं, लकीर छोड़ते जाते हैं, रेखा खींचते जाते हैं। यह निशानी, यह लकीर, यह रेखा तो मस्तिष्कपर पड़ती है।

मस्तिष्क, अर्थात् स्नायु-मंडल तो भौतिक-वस्तु है, अतः उस पर रेखा पड़ सकती है। आत्म-तत्त्वपर कर्मकी कौन-सी निशानी पड़ती है, कौन-सी रेखा खिंचती है ? कर्मकी आत्म-तत्त्वपर पड़ी निशानी, उसकी लकीर, उसकी रेखका नाम ही 'संस्कार' है। आत्म-तत्त्वपर एक-एक कर्म नहीं लिखा जाता, उन कर्मोंके कारण आत्माके जो संस्कार बनते जाते हैं, आत्मा-की रुचि, उसकी प्रवृत्ति, उसकी गतिकी दिशा, एक रास्ता सहल, दूसरा आसान—इसी प्रकारके संस्कारोंका बनते जाना कर्मोंकी शृंखलाका लिखा जाना है। जैसे हम भोजन खाते हैं, यह भोजन शरीरमें बैठा नहीं रहता, यह पचकर शरीर बन जाता है, अच्छे भोजनसे स्वस्थ शरीर बुरे भोजनसे अस्वस्थ शरीर, वैसे जब हम कर्म करते हैं, तो वे कर्म उनका फल भोगेजानेके समयतक बैठे नहीं रहते, उन कर्मोंसे तत्काल, उसी समय, उनका फल—'संस्कार'—बनते जाते हैं। जैसे भोजनके फलस्वरूप शरीर बन जाता है वैसे कर्म, जो मानसिक भोजन हैं, उनके फल-स्वरूप संस्कार बन जाते हैं। शरीर बन जानेके बाद उस भोजनसे हमें नहीं उलझना पड़ता जो हमने खाया था, शरीरसे उलझना पड़ता है, इसी प्रकार संस्कार बन जानेके बाद उन भिन्न-भिन्न कर्मोंसे हमें नहीं उलझना पड़ता, जो हमने किये थे, हमें संस्कारोंसे ही उलझना पड़ता है। ये संस्कार ही कर्मों का लेखा हैं। इन सब कर्मोंको एक-एक करके भोगना नहीं पड़ता। ये संस्कार ही कर्मोंके भोग हैं, एक-एक कर्मके भोग, क्योंकि कोई कर्म संस्कार छोड़े बग़ैर नहीं रहता। अच्छे कर्मों का या तो तुरंत अच्छा फल मिल जाता है, या अच्छे कर्मोंसे अच्छा संस्कार पड़ गया, अच्छी रुचि बन गई, अच्छी दिशाकी

तरफ़ आत्मा चल पड़ा। यह शुभ संस्कार, शुभ रुचि, शुभ प्रवृत्ति भी अच्छे कर्मोंका भोग है, फल है, परिणाम है—अब सब कर्मोंको अपनी-अपनी बारीतक बैठे रहनेकी ज़रूरत नहीं रहती। बुरे कर्मोंका भी या तो तुरंत बुरा फल मिल जाता है, या बुरा संस्कार पड़ गया, बुरी रुचि बन गई, बुरी दिशाकी तरफ़ आत्मा चल पड़ा। कर्मोंके लेखेके रूपमें बने ये संस्कार स्वयं कार्य हैं, फल हैं, परिणाम हैं। आत्मा इस जन्मसे चलता हुआ भिन्न-भिन्न कर्मोंकी गठड़ीको बांधकर नहीं ले जाता। जैसे वृक्ष बीजमें समा जाता है, वृक्ष बीजका ही फैलाव है, विस्तार है, वैसे कर्म—अनन्त-कर्म—बीज-रूपमें, संस्कारमें समा जाते हैं; कर्म, संस्कारका ही फैलाव है, विस्तार है, अनन्त-कर्म सिमिटकर संस्कारमें आ बैठते हैं। संस्कार आत्माके साथ रहते हैं, उसे छोड़ते नहीं। जब संस्कार आत्माके साथ आ गये, तब इस बातके जाननेकी आवश्यकता नहीं रहती कि अमुक जो कर्म हमने किया था, उसका क्या हुआ, क्या नहीं हुआ। जिन कर्मोंका तत्काल-फल मिल गया वह तो मिल गया, जिनका नहीं मिला वे कर्म अपना संस्कार छोड़ जाते हैं, वैसे-के-वैसे नहीं बने रहते। संस्कारोंका सिद्धान्त ही यह है कि एक-एक कर्मसे हमारा वास्ता नहीं रह जाता, हमारा वास्ता संस्कारोंसे, आत्मा की रुचिसे, प्रवृत्तिसे रह जाता है, कर्मोंका प्रश्न संस्कारोंके बन जानेपर समाप्त हो जाता है, और इसके बाद हमारी असली समस्या भिन्न-भिन्न कर्म नहीं रहते, संस्कार हो जाते हैं। संस्कारोंके इस पुंजको ही ऋषि-मुनियोंने आत्माके 'सूक्ष्म-शरीर', 'कारण-शरीर'का नाम दिया था। कर्मोंके निचोड़ को संस्कार कहते हैं, और संस्कारोंके निचोड़को 'कारण-शरीर' कहते हैं।

'कारण-शरीर' कहनेसे संस्कार और कर्म सब-कुछ आ जाता है। 'कारण-शरीर' इसलिये कहा क्योंकि आगे जो-कुछ बनना है उसका ये संस्कार ही कारण हैं। वैदिक-संस्कृतिका कहना था कि आत्माके इस 'कारण-शरीर'में, संस्कारों के शरीरमें, जन्म धारण कर लेनेके बाद तो संस्कार डाले ही जा सकते हैं, जन्म लेनेसे पहले भी नये संस्कार डाले जा सकते हैं। 'कारण-शरीर'में नवीन संस्कारोंका पड़ जाना—यही संस्कारोंकी पद्धति का रहस्य है। 'कारण-शरीर'में जो संस्कार पड़ जायेंगे, चाहे पुराने हों, चाहे नये हों, वे ही इस जन्ममें फूटेंगे। संस्कारोंद्वारा ही संस्कारोंको बदला जा सकता है। तब आत्माके एक-एक कर्मके पड़ताल करनेकी आवश्यकता नहीं रहती। जन्म-जन्मान्तरोंके कर्मोंका निचोड़ ही तो संस्कार हैं। वृक्षकी टहनियों तक रस पहुंचानेके लिये एक-एक टहनीमें रस डालनेकी आवश्यकता नहीं, उसकी जड़में रस डालनेसे एक-एक टहनीमें रस पहुँच जाता है। संस्कारोंको पकड़नेसे कर्म-रूपी वृक्षकी एक-एक टहनी हाथ आ जाती है। एक-एक कर्मसे उलझनेकी आवश्यकता नहीं रहती, एक-एक टहनीको पकड़नेकी आवश्यकता नहीं रहती। इस प्रकार कर्मोंकी जटिल समस्याको संस्कारोंद्वारा हल करनेका वैदिक-संस्कृतिने प्रयत्न किया था और मानवके नव-निर्माणके विचारको जन्म दिया था।

नये संस्कारोंद्वारा पुराने संस्कारोंको बदलना—

जो आत्मा नया शरीर धारण करनेवाला है वह कुछ संस्कारोंको लेकर आनेवाला है। ये संस्कार उसका 'कारण-शरीर' हैं, ऐसा शरीर हैं जो उसके इस जन्मके मन और स्थूल

शरीरको बनानेमें कारण बननेवाले हैं। अगर इसमें बुरे संस्कार हैं और हम उस आत्माके स्थूल शरीरका रूप धारण करनेसे पहले ही, उन सूक्ष्म संस्कारोंपर चोट नहीं करते, उन्हें बदलनेका यत्न नहीं करते, तो ये संस्कार जैसे हैं वैसा ही तो मानव उत्पन्न होगा। वैदिक-विचारधाराके अनुसार नव-मानवका निर्माण करने के लिये मानवके उत्पन्न होनेसे पूर्व, उसके संस्कारोंके शरीरमें, उस शरीरमें जो इस जन्मका कारण है, जिसे 'सूक्ष्म-शरीर', 'कारण-शरीर' आदि नामोंसे कहा गया है, नवीन आत्माको जन्म देनेवाले स्त्री-पुरुष अपने विचारोंके वेगसे, बलसे, उनकी उग्रतासे नवीन संस्कार डालनेका यत्न करते हैं। नव-मानव की उत्पत्ति माता-पिताके रज-वीर्यसे ही तो होती है। यह रज-वीर्य ही नव-मानवके 'सूक्ष्म-शरीर', 'कारण-शरीर'का भौतिक आधार बननेवाला है। माता-पिता जैसे होंगे वैसा उनका रज-वीर्य होगा। शुद्ध विचारोंसे शुद्ध रज-वीर्य, अशुद्ध विचारोंसे अशुद्ध रज-वीर्य बनेगा। शुद्ध विचारोंसे बने रज-वीर्यकी तरफ़ नया जन्म लेनेवाले आत्माका जो संस्कारोंका शरीर, सूक्ष्म-शरीर या कारण-शरीर खिंचेगा, उसमें जन्म लेनेसे पूर्व ही पुराने बुरे संस्कारों, रुचियों और प्रवृत्तियोंपर माता-पिताद्वारा अपने रज-वीर्यके माध्यमसे दिये हुए संस्कारोंकी एक ऐसी चोट लग जायगी जिससे जन्मलेनेके बाद मानवके जीवनकी दिशा बदल जायगी, और वह पुराने संस्कारोंके होते हुए भी नये संस्कारोंके कारण, नयी दिशाकी तरफ़ चल पड़ेगा। क्या विचारोंमें इतना सामर्थ्य है कि वह रज-वीर्यपर पड़ सके, रज-वीर्यपर पड़कर आत्माके पुराने संस्कारोंको, उसके 'कारण-शरीर'को भी बदल सके? वैदिक-संस्कृतिके लोग तो ऐसा ही

मानते थे। वे मानते थे कि जैसे बीजके भीतर, उसकी रचनामें ऐसा परिवर्तन किया जा सकता है जिससे उत्कृष्टतर पौधा उत्पन्न हो, वैसे आत्माके जन्म लेनेसे पूर्व, उसके 'सूक्ष्म-शरीर', 'कारण-शरीर', 'संस्कारोंके शरीर'में माता-पिताके सशक्त, वेगवान् विचारोंके द्वारा, रज-वीर्यके माध्यमसे, जिस माताके पेटमें उसे नौ मास रहना है, जिसके अंग-अंगसे उसे रस लेना है, जिसके हृदयसे इसका हृदय, जिसके मस्तिष्कसे इसका मस्तिष्क बनना है, उस माताके माध्यमसे ऐसा परिवर्तन किया जा सकता है जिससे पुराने संस्कारोंको बिल्कुल बदला जा सके, उन्हें सामर्थ्यहीन बनाया जा सके, और एक नव-मानवका निर्माण किया जा सके। तभी तो जो संस्कृति चारों तरफ़से कर्मों के जालसे जकड़ी हुई थी, उसी संस्कृतिका कथन था कि संस्कारोंद्वारा गर्भस्थ शिशुको बिल्कुल बदला जा सकता है, उसे नये संस्कारोंसे प्रभावित किया जा सकता है, संसारमें मनुष्योंकी एक नयी ही पीढ़ीको उत्पन्न किया जा सकता है। अगर कर्मोंकी दीवारको वैदिक-संस्कृति एक दुर्भेद्य दीवार समझती, यह समझती कि एक-एक कर्मको जबतक भोग नहीं लिया जाता तबतक आगे कदम नहीं रखा जा सकता, तो संस्कारोंकी प्रणालीको कभी जन्म न देती। कर्म भोगे जाते हैं, परन्तु संस्कारोंके रूपमें, और इसलिये संस्कारोंद्वारा इन्हें बदला भी जा सकता है। जिन संस्कारोंको हम बदलते हैं वे उस आत्माके होते हैं जिसे जन्म लेना है, जिन संस्कारों-द्वारा बदलते हैं वे माता-पिताके होते हैं, उन आत्माओंके होते हैं जिन्होंने जन्म देना है। माता-पिताके संस्कार भी कर्मोंके एक लम्बे-चौड़े चक्रमें पड़कर बने होते हैं। उन्होंने अनेक कर्म किये,

अच्छे किये, बुरे किये, उन सबसे उनके संस्कार बने, उनकी रुचि बनी, प्रवृत्ति बनी, जीवनकी दिशा बनी। वैदिक-संस्कृतिमें माता-पितासे यह आशा की जाती है कि वे अपने संस्कार ऐसे बनायें, प्रबल और सशक्त बनायें जिससे वे अपनी सन्ततिके संस्कारोंको प्रभावित कर सकें। एक व्यक्ति अपनी प्रवृत्ति से दूसरेकी प्रवृत्तिको, अपनी रुचिसे दूसरेकी रुचिको, अपनी दिशासे दूसरेकी दिशाको, अपने संस्कारोंसे दूसरेके संस्कारोंको बदल सकता है। इस बातको माननेमें संस्कारोंको न माननेवालोंको भी कोई कठिनाई नहीं हो सकती। इसीमें संस्कार-पद्धतिद्वारा नव-निर्माणका रहस्य छिपा हुआ है।

जो लोग आत्माके जन्म-जन्मान्तर नहीं मानते, कर्मोंका बखेड़ा नहीं मानते, सिर्फ़ इसी जन्मको मानते हैं, उनके लिये यह सारी समस्या बड़ी सरल है। उनके लिये समस्या 'वंश-परंपरा' और 'परिस्थिति' तक सीमित रह जाती है। जैसे माता-पिता होंगे, जैसी परिस्थितिमें बच्चे रखे जायेंगे, वैसे वे बनते जायेंगे। इन लोगोंके लिये यह समस्या इतनी सरल है कि इस सरलताके कारण ही इनका नव-मानवके निर्माणकी तरफ़ कोई ध्यान नहीं। कर्म तथा जन्म-जन्मान्तर माननेवाली वैदिक-संस्कृतिके लिये तो एक विकट समस्या थी। कर्म एक इतनी बड़ी रुकावट थी जिससे मानव-समाज एक क़दम भी आगे नहीं बढ़ सकता था। इस रुकावटको देखकर वैदिक-संस्कृतिकी चेतनाने मानवके निर्माणके एक बिलकुल नये विचार-को जन्म दिया, और संस्कारोंकी एक ऐसी प्रथाको प्रचलित किया जिसका उद्देश्य ही मनुष्य-समाजको लगातार बदलकर ऊंचे-ऊंचे ले जाना था। नये समाजके लिये नया मनुष्य बनाना

होगा, मनुष्य-समाज तब बदलेगा जब एक-एक मनुष्य बदलेगा, एक-एक मनुष्य तब बदलेगा जब उसके निर्माणके समय पहले नक्शा खींचकर, नक्शा सामने रखकर उसका निर्माण होगा। जैसे मकान बनाया जाता है, मकान बनानेसे पहले उसकी रूप-रेखा खींची जाती है, एक-एक ईंट, एक-एक पत्थर उस रूप-रेखाके अनुसार चिना जाता है, ऐसे ही जब मानवके निर्माणकी पहले रूप-रेखा बनेगी, उस रूप-रेखाके अनुसार ही जब उसकी रचना होगी, तब यह संसार एक नया संसार होगा, ये मनुष्य नये मनुष्य होंगे। वैदिक-संस्कृतिके संस्थापकोंका संस्कारोंकी प्रणालीको प्रचलित करनेमें मनुष्यको रूपान्तरित करनेका यह स्वप्न था।

सोलह संस्कार—जन्म लेनेसे पहलेके संस्कार—

मनुष्यको बिल्कुल बदल देने, आमूलचूल उसमें परिवर्तन कर देनेका जो प्रयास वैदिक-संस्कृतिमें किया गया था उसमें दो-चार नहीं, सोलह संस्कार थे। संस्कार आत्माके जन्म धारण करनेसे पहले शुरू हो जाते थे। कुछ जन्म ग्रहण करनेसे पूर्वके संस्कार थे, कुछ जन्म लेनेके बादके। सबसे पहला संस्कार 'गर्भाधान' संस्कार था, वह संस्कार जिसे आजका जड़वादी जगत् विषय-तृप्तिका साधनमात्र समझता है। इस संस्कारको वैदिक-संस्कृति नवीन आत्माके आवाहनका एक पवित्र यज्ञ मानती थी। जीवनकी साधना एक उद्देश्यसे थी। किस प्रकार अपनेसे ऊंचे, अपनेसे श्रेष्ठ आत्माको जीवनमें निमन्त्रित किया जाय, ऐसे आत्माको जो संसार को पहलेसे आगे ले चले। फिर जब दूसरे-तीसरे महीने यह पता चल जाता था कि गर्भ रह गया है, तब 'पुंसवन' संस्कार होता था। पुंसवन संस्कारके

समय माताको सम्बोधन करके कहा जाता था—'आ वीरो जायतां पुत्रस्ते दशमास्य:'—दस मास तेरी कोखमें रहकर तेरा पुत्र वीर उत्पन्न हो। जीवनके प्रारंभसे ही माता अपने प्रबल, सशक्त विचारोंसे, अपनी वेगवती संस्कारोंकी धारासे अपने पुत्र को जीवनकी दिशा देने लगती थी। पुंसवन-संस्कार तब होता था जब बालकके भौतिक शरीरका निर्माण होने लगता था। जब उसके मानसिक शरीरका निर्माण प्रारंभ होता था तब 'सीमन्तोन्नयन' संस्कार किया जाता था। माताके बाल संवारे जाते थे, उसे अपने सिरका, मस्तिष्कका विशेष ध्यान रखनेको कहा जाता था। माता के सम्मुख घी का कटोरा रखकर पिता पूछता था—'किं पश्यसि'—इस कटोरेमें क्या देखती हो ? माता कहती थी—'प्रजां पश्यामि'—मैं इसमें अपनी सन्तानको देखती हूँ। दिन-रात अपनी सन्तानके निर्माणमें माता लीन रहती थी। इन नौ-दस महीनोंको माता एक ही ध्यानमें बिताती थी। उसे एक ऐसी सन्तानको जन्म देना है जिसे वह जो चाहे बना सकती है। उसके गर्भमें वह जो-कुछ बन गया फिर उसे बदलना असंभव हो जायगा। इस समय वह एक ऐसी मशीन में पड़ गया है जिसमें उसके 'कारण-शरीर'को पकड़कर, अपने संस्कारोंके ढांचेमें उसके संस्कारोंको ढाला जा सकता है। आत्मा का 'कारण-शरीर'में बंध जाना, 'कारण-शरीर'का माता-पिता के रज-वीर्यमें बंध जाना, माता-पिताके अंग-अंगसे ही आत्माका इस जन्ममें आ सकना, इसके बिना न आ सकना—ये सब बातें माता-पिताके हाथमें एक ऐसा साधन दे देती हैं जिससे वे सन्तान को जो चाहें बना सकते हैं। अमेरिकाके प्रेसीडेन्ट गारफ़ील्डका घातक गीटू जब पेटमें था तब उसकी माता गर्भपातकी

ओषधियां खाकर उसे गिराना चाहती थी, वह न गिरा परन्तु माताके संस्कारोंने उसे हत्यारा बना दिया। नैपोलियनकी माता जब गर्भवती थी तब नित्य फ़ौजोंकी कवायद देखने जाती थी। सैनिकोंके जोशीले गीतोंको सुनकर उसके हृदयमें जो प्रबल लहरें उठी थीं उन्होंने नैपोलियनको नैपोलियन बना दिया। प्रिंस बिस्मार्क जिस माताके गर्भमें था वह अपने घरके द्वारपर लगे हुए नैपोलियनकी सेनाके तलवारोंके चिह्नोंको जब देखा करती थी, उस समय उसके हृदयमें फ्रांससे बदला लेनेकी इच्छा प्रबल हो उठती थी। इन संस्कारोंके वेगने फ्रांससे बदला लेनेवाला बिस्मार्क पैदा कर दिया। गर्भावस्थाकी दस महीनेकी मशीन इतनी ज़बरदस्त है, इस समय बालकपर डाले गये संस्कार इतना वेग रखते हैं कि जन्म-जन्मान्तरके संस्कार उसके सम्मुख ढीले पड़ जाते हैं। तभी कहा गया है कि मनुष्य-जन्म एक दुर्लभ जन्म है। जीवनका कांटा इस समय बदल गया तो बदल गया, नहीं तो कहनेवाले कहते थे कि फिर चौरासी लाख योनियोंका चक्कर काटना पड़ेगा। इसका यह मतलब नहीं कि कोई गिनी-गिनाई चौरासी लाख योनियां हैं। इसका अभिप्राय इतना ही है कि मनुष्य-जीवन यूं ही हाथसे खो देनेकी चीज नहीं। यह मिला है, तो किसी कामके लिये, जीवनका निर्माण करनेके लिये। नवजीवनके निर्माणका काम गर्भमें आते ही शुरू हो जाता है। उस समय माताका हाथ विश्वकर्माका हाथ है। वह जो चाहे कर सकती है। जन्म लेनेसे पूर्व, जबतक बालक माताके पेटमें रहता है, तबतक वह संस्कारोंकी पूरी चोट देती रहे, पुराने संस्कारोंको बदलकर, उनका वेग कम करके, नये सजीव संस्कारोंका वेग बढ़ा दे, बालकके "कारण-

शरीर'में, जो माता-पिताके भौतिक-शरीरमेंसे गुज़र रहा है, अपनी ऐसी पुट चढ़ा दे, ऐसी जाग लगा दे कि बालक कुछ-का-कुछ बन जाय—यह उद्देश्य है 'गर्भाधान', 'पुंसवन' तथा 'सीमन्तोन्नयन' संस्कारोंका—उन तीन संस्कारोंका जो तब किये जाते हैं जब सन्तानने जन्म नहीं लिया होता, अभी वह माता-पिताके शरीरका ही अंग होती है, उन्हींका हिस्सा होती है, एक अर्थमें वही होती है। नव-मानवके निर्माणका वही समय है। संसारकी माताएँ इस रहस्यको समझ जायं तो एक नया मानव नहीं, एक नया समाज उत्पन्न हो जाय।

जन्म लेनेके बादके संस्कार—

इसके बाद वे संस्कार आते हैं जो जन्म लेनेके बादके हैं। बच्चेके जन्म लेते ही सोनेकी शलाकासे उसकी जीभपर 'ओ३म्' लिखा जाता है, कानमें 'वेदोसि' कहा जाता है, 'अश्मा भव—परशुर्भव' आदि मन्त्र उच्चारण किये जाते हैं। यह 'जात-कर्म' संस्कार है। उत्पन्न होते ही उसे ऐसे संस्कारोंसे घेर दिया जाता है जो उसके 'व्यक्तित्व'के निर्माणके लिये आवश्यक हैं। इन सब क्रियाओंका मुख्य अभिप्राय यही है कि जिन माता-पिताके हाथमें अब बालकके व्यक्तित्वके निर्माणका कार्य है उन्हें हर समय अपने कर्तव्यका ध्यान रखना है। जन्मके ११वें या १०१वें दिन 'नाम-करण' संस्कारका समय है। यह नाम यूं ही पुकारनेमात्रके लिये नहीं रखा जाता। 'जात-कर्म'के समय माता-पिताने एक संकल्प किया था। यह सोचा था कि उनके ऊपर एक महान् उत्तर-दायित्व आ पड़ा है। जो आत्मा उनके घर आया है उसके व्यक्तित्व-निर्माणमें उन्होंने कोई कोर-कसर नहीं रख छोड़नी

है। अब नामकरण-संस्कारके समय वे उस संकल्पको स्थूलरूप देते हैं, बालकके सामने जीवनमें जैसा लक्ष्य रखना चाहते हैं वैसा नाम उसे देते हैं। नाम रख देनेका अभिप्राय है जीवनमें सदाके लिये, जाने-अनजाने, एक विशेष प्रकारका संस्कार डालते रहना। 'सत्य-स्वरूप' नामवाला अगर झूठ बोले तो अपने नामसे उसे स्वयं शर्म आये, 'प्रेम-सागर' कहानेवाला अगर लड़े-झगड़े तो उसका नाम ही उसे झिड़क दे। इन दो संस्कारोंके बाद चौथे मासमें 'निष्क्रमण', छठे मासमें 'अन्न-प्राशन', तीसरे वर्षमें 'चूड़ाकर्म', पांचवें वर्षमें 'कर्णवेध' संस्कार किये जाते हैं। ये सब स्वास्थ्यकी दृष्टिसे किये जाते हैं ताकि शुरू-शुरूमें माता-पिताका बालकके शरीरकी तरफ़ ध्यान रहे। जब बालककी पढ़ने-लिखनेकी उम्र हो जाये, तब 'उपनयन'-संस्कार किया जाता है। 'उप'का अर्थ है, समीप, 'नयन'का अर्थ है, ले जाना—तब बालकको गुरुके समीप ले जाते हैं। वैदिक-संस्कृतिमें प्रत्येक बालकका उपनयन-संस्कार आवश्यक है, इस संस्कृतिमें गुरु-शिष्यका प्रगाढ़ सम्बन्ध हो जाना जीवनके कार्य-क्रमका आवश्यक हिस्सा है। शिष्य गुरुको कहता है—'ब्रह्मचर्यमागाम् उपमान-यस्व'—मैं ब्रह्मचर्य धारण करनेके लिये आपके पास आया हूं, मुझे अपने निकट रखिये! वैदिक-संस्कृतिमें बालक गुरुके पास रहता था, दिन-रात उसीके आश्रममें जीवन बिताता था, और उसके इन दिनोंका मुख्य लक्ष्य ब्रह्मचर्यपूर्वक विद्याध्ययन था। 'उपनयन'—अर्थात् बालकको शिक्षकके बिल्कुल नजदीक ले आना, गुरु-शिष्यका निकटतम सम्बन्ध, पिता-पुत्रका-सा सम्बन्ध संस्कारोंकी पद्धतिका आवश्यक हिस्सा था। जैसे माता नौ मासतक बच्चेको गर्भमें धारण करती है, दिन-रात उसके

निर्माणमें लगी रहती है, वैसे आचार्य बालकको विद्या-माताके गर्भमें धारण कराता है, दिन-रात उसके निर्माणमें लगा रहता है। इसी आशय को अथर्व वेद में कहा है—'आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः। तं रात्रीस्तिस्र उदरे विभर्ति तं जातं द्रष्टुं अभि संयन्ति देवाः'। आज हम भिन्न-भिन्न शिक्षा-प्रणालियोंको जन्म दे रहे हैं, परन्तु सब प्रणालियोंकी आधार-भूत शिक्षा-प्रणाली सिर्फ़ एक है—और वह है गुरु तथा शिष्यका पिता-पुत्रका-सा संबंध। इस सम्बन्धका नाम ही वैदिक-संस्कृतिमें 'गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली' था। 'गुरुकुल'—शब्दका आधार-भूत तत्त्व है 'कुल'। गुरु तथा शिष्यमें 'कुल'की भावना, पिता-पुत्रके-से सम्बन्धको जगाना—यही सब शिक्षा-प्रणालियोंका आधार-भूत तत्त्व है। यह सम्बन्ध नहीं तो नवीन-से-नवीन शिक्षा-प्रणाली बेकार है, यह सम्बन्ध है तो पुरानी-से-पुरानी बेकार शिक्षा-प्रणाली भी बहुत भारी काम दे जाती है। 'उपनयन' और 'गुरुकुल' शब्द एक खास भावनाके प्रतीक हैं। गुरु कैसा हो? जैसे माता-पिता पुत्रको बनानेमें लगे रहते हैं, उनका पुत्रसे निकट-से-निकटका सम्बन्ध होता है, वैसे गुरु शिष्यको अपना पुत्र समझकर उससे निकट-से-निकटका सम्बन्ध स्थापित करे—यही 'उपनयन' और 'गुरुकुल' इन शब्दोंके एक-एक अक्षर का अर्थ है। वैदिक-संस्कृतिकी शिक्षाके इस आधार-भूत तत्त्वको आजकलकी किस शिक्षा-पद्धतिमें स्थान दिया गया है? उपनयन-संस्कारके साथ-साथ एक दूसरा संस्कार होता था जिसका नाम 'वेदारंभ' था। वेदारंभका अर्थ है, वेदाध्ययनके प्रारंभ करनेका संस्कार। इस संस्कारके समय बालकको कहा जाता था—"आजसे तू ब्रह्मचारी है। शुद्ध रहनेके लिये जलका भरपूर सेवन करते

रहना। कभी ठाली मत बैठना, काम में लगे रहना। आलसी मत होना, दिन को मत सोना। आचार्यके अधीन रहकर विद्याभ्यास करना, आज्ञाका उल्लंघन न करना। एक-एक वेद का बारह वर्ष पर्यन्त अभ्यास करते हुए ४८ वर्षतक विद्याभ्यास करनेको अपना लक्ष्य बनाना। आचार्य भी अगर बुरी बात कहे तो मत मानना। क्रोध और अनृतको त्याग देना। अष्ट-प्रकारके मैथुनकी तरफ़ ध्यान न जाने देना। कठोर भूमिपर शयन करना। गाना-बजाना, तेल लगाना—ये सब तेरे लिये वर्जित हैं। किसी बातमें अति न करना—अति स्नान, अति भोजन, अधिक निद्रा, अधिक जागरण, निन्दा, लोभ, मोह, भय, शोकको छोड़ देना। रातके चौथे पहरमें जागकर, शौच से निवृत्त होकर दातुन करना, फिरस् नान, सन्ध्या, ईश्वर-स्तुति, प्रार्थना और योगाभ्यास करना। हजामत मत करना। मांस, रूखा भोजन और मद्य-पान न करना। बैल, घोड़ा, हाथी, ऊंटकी सवारी न करना। शहरमें मत रहना, जूता और छत्री मत धारण करना। बिना इच्छासे या इच्छा-पूर्वक कभी वीर्य-स्खलन न होने देना, वीर्यकी रक्षा करके ऊर्ध्वरेता बनना। तेल मलना, उबटन लगाना, अति खट्टा, अति तीखा, कसैला, क्षार, लवण और रेचक पदार्थोंका सेवन न करना। आहार-विहारकी सीमामें रहते हुए नित्य विद्या-ग्रहणमें यत्नवान् रहना। सुशील बनना, थोड़ा बोलना, सभ्यता सीखना। मेखला और दण्डका धारण, भिक्षाचरण, अग्निहोत्र, स्नान, सन्ध्योपासन, आचार्यका प्रियाचरण, सायं-प्रातः आचार्यको नमस्कार, विद्या-संचय, इन्द्रियोंका संयम—ये तेरे नित्यके काम हैं।" यह उपदेश क्या है, वैदिक-संस्कृतिका निचोड़ है। जिस प्रकार आज हमारे विद्यार्थियों के जीवनमें

विलासिता बढ़ रही है, और उस विलासिताका जो दण्ड हमारा समाज भोग रहा है, उसे देखते हुए उन ऋषियोंके चरणोंमें बरबस सिर झुक जाता है जिन्होंने विद्यार्थीके सामने विद्याध्ययन करनेके दिन ही ये उच्च आदर्श रखे थे। आजका बालक गली-मोहल्लेवाले दूसरे साथियों से आचारकी शिक्षा-दीक्षा लेता है, वैदिक-संस्कृतिमें गुरुका काम सिर्फ़ विद्या पढ़ा देना ही नहीं था, एक सदाचारी व्यक्ति तय्यार कर देना था। गुरु के आश्रममें तपस्याका जीवन व्यतीत करनेके बाद 'समावर्तन'-संस्कार होता था। इस समय स्नातकको पगड़ी-दुपट्टा पहनाया जाता था, उसकी हजामत होती थी, शीशा-कंघी, तेल दिया जाता था। तपश्चर्याके बाद सांसारिक जीवन व्यतीत करनेकी आज्ञा दी जाती थी, और गृहस्थाश्रम में प्रवेशकेस मय 'विवाह'-संस्कार होता था। विवाहके समय मधुपर्क, गोदान, शिलारोहण, सप्तपदी, ध्रुव-दर्शन—ऐसी-ऐसी क्रियाएं होती थीं जो गृहस्थीको आत्म-विकासके लक्ष्यके साथ बांधे रखती थीं। गृहस्थाश्रममें भी टिकनेकी आज्ञा नहीं थी। 'गृहस्थस्तु यदा पश्येत् बलीपलितमात्मनः। अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्यं समाचरेत्'—जब गृहस्थ देख लेता था कि उसकी चलाई हुई गाड़ी चल पड़ी है तब वह आगे चल देता था, उसका 'वानप्रस्थ'-संस्कार होता था। जीवनके इस विकासोन्मुखी कार्य-क्रम में यात्राका अन्तिम पड़ाव 'संन्यासाश्रम' था, यह जीवनका अन्तिम संस्कार था। 'वनेषु विहृत्यैवं तृतीयं भागमायुषः, चतुर्थमायुषो भागं त्यक्त्वा संगान् परिव्रजेत्'—जीवनका तीसरा हिस्सा वानप्रस्थमें बिताकर, चौथे हिस्सेको, सब संग छोड़कर, संन्यासी होकर बिताये। उस समय संन्यासी कहता था—'पुत्रैषणा-वित्तैषणा-लोकैषणा मया परि-

त्यक्ता । मत्तः सर्वभूतेभ्यः अभयमस्तु'—मैंने सब एषणायें छोड़ दीं, न मुझे पुत्रकी कामना है, न वित्तकी, न मान-प्रतिष्ठा की। इन एषणाओंमें पड़कर ही तो मनुष्य मनुष्यका शत्रु बनता है। अब मुझसे किसीको भय खानेकी ज़रूरत नहीं। मैं सबका, सब मेरे—यही भावना मेरे जीवनका आधार बन गई है। इस प्रकार दिन-रात विश्व के कल्याणमें आयुके बचे हुए एक-चौथाई हिस्से-को बिताकर जब जीवन समाप्त हो जाता था तब अन्तिम संस्कार—'अन्त्येष्टि'-क्रिया होती थी, और तब जाकर यह आत्मा संस्कारोंकी उस जकड़नमेंसे छूटता था जिसमें वैदिक-संस्कृतिने इसे इस जन्ममें बांध रखा था।

उन लोगोंका जीवनके प्रति कितना व्यापक, गहरा और गंभीर दृष्टिकोण था जिन्होंने मनुष्य-जीवनको सोलह संस्कारोंमें बांधा हुआ था। इन सोलह संस्कारोंमें तेरह संस्कार उस आयुमें होते थे जिस समय संस्कारों द्वारा मनुष्य ढल सकता है। आज हम दो संस्कार करते हैं—विवाह-संस्कार जीते समय, अन्त्येष्टि-संस्कार मरते समय। वैदिक-संस्कृति मनुष्य-जीवनको एक महान् अवसर समझकर चली थी, और इस अवसरका लाभ उठाकर संस्कारोंकी प्रक्रियाद्वारा नव-मानवके निर्माणका स्वप्न लेती थी। आजके युगमें भी यह स्वप्न मानव-समाजको उतनी ही प्रेरणा और स्फूर्ति दे सकता है जितनी यह किसी समय प्राचीन भारतके भाग्य का निर्माण करनेवालोंको देता था, सिर्फ़ उस दृष्टिके खुल जानेकी आवश्यकता है जिस दृष्टिसे ऋषि-मुनियों-ने जीवनकी समस्यामें दिनोंदिन विकासके मार्गपर आगे-आगे बढ़ते हुए 'आत्म-तत्त्व'को देखकर नव-मानवके निर्माणकी महान् योजनाको जन्म दिया था।

[१०]

वर्ण-व्यवस्थाका आध्यात्मिक आधार

वर्ण-व्यवस्था और जाति-व्यवस्था एक वस्तु नहीं हैं—

वैदिक-संस्कृतिके मूल-तत्त्वोंमें जो स्थान चार आश्रमोंको है, वही स्थान चार वर्णोंको है। वर्ण-व्यवस्था इस संस्कृतिका प्राण थी। परन्तु कौन-सी वर्ण-व्यवस्था? क्या वह वर्ण-व्यवस्था जो ब्राह्मणको क्षत्रियसे, क्षत्रियको वैश्यसे, वैश्यको शूद्रसे पृथक् करती है, जो मनुष्य-समाजमें छूत और अछूतका भेद उत्पन्न करती है, जिसके परिणाम-स्वरूप ब्राह्मण तथा ब्राह्मणेतरका संग्राम छिड़ा हुआ है, जो जन्मको कर्मसे प्रधानता देती है? इसे भ्रमसे वर्ण-व्यवस्था कहा जाता है, वास्तवमें यह वर्ण-व्यवस्था न होकर जाति-व्यवस्था है। वर्ण-व्यवस्था वैदिक-कालकी सामाजिक-व्यवस्था थी, जाति-व्यवस्था भारतके मध्य-युगमें प्रकट हुई। वैदिक-कालकी वर्ण-व्यवस्था गुण-कर्म पर आधारित थी, मध्य-युगकी जाति-व्यवस्था जन्म पर आधारित थी। जो लोग जन्मकी जात-पांतको कोसना चाहते हैं वे वर्ण-व्यवस्थाके तात्विक रूपको न जानते हुए जात-पातकी जगह ग़लतीसे 'वर्ण-व्यवस्था'-शब्दका प्रयोग कर देते हैं। इस समय देशकी जागृतिका रुख मुख्यत: जन्मकी, जात-पांतकी स्वार्थपूर्ण दुर्भेद्य चट्टानके टुकड़े-टुकड़े करनेकी तरफ़ बढ़ रहा है। आज इस जाति-पांतिको तोड़नेके लिये जागृतिका प्रत्येक प्रेमी व्याकुल

हो रहा है। लोग समझ रहे हैं कि जाति-पांतिकी रचना ब्राह्मणोंके दिमाग़की उपज है, उन्होंने स्वार्थ-वश अधिकारोंपर अनुचित तौरपर एकाधिपत्य जमानेके लिये इसे रचा था, इससे उन्हें अखंड अधिकार प्राप्त हो जाते हैं। जन्मकी जात-पांतकी जगह 'वर्ण-व्यवस्था'के शब्दका ग़लत प्रयोग करके उसके नाम से हमारे देशमें जो सामाजिक अत्याचार होते रहे, मनुष्य मनुष्यका शत्रु रहा, उसे देखते हुए तो यही समझमें आता है कि देशको उन्नतिके मार्गपर ले जाना हो, तो इसे एकदम भुला देना होगा, जातिके बालकोंके मस्तिष्क से मिटा देना होगा, लुप्त कर देना होगा, इतिहासकी वस्तु बना देना होगा, तभी हम आगे बढ़ सकेंगे। परन्तु क्या सही अर्थों में जात-पांतही वर्ण-व्यवस्था है?

वैदिक-संस्कृतिने जिस वर्ण-व्यवस्थाको जन्म दिया था वह, वह वर्ण-व्यवस्था नहीं थी जो आज हमारे समाजमें जन्मकी जात-पांतके रूपमें चली हुई है—आज जिस चीज़को जन्मकी जात-पांत कहनेके स्थानमें ग़लतीसे वर्ण-व्यवस्था कहा जा रहा है उसे जितनी जल्दी मिटा दिया जायगा उतनी जल्दी समाज उन्नतिके मार्गपर चलेगा। दूसरोंको उनके जन्मसिद्ध अधिकारों से वंचित करनेकी इस अव्यवस्थाको वर्ण-व्यवस्था कहना भूल है। आज तो वर्गहीन-समाज (Classless Society) का निर्माण ही हमारा लक्ष्य है, परन्तु 'वर्ण' 'वर्ग' नहीं है। वर्ण-व्यवस्थाका प्रारंभ बड़े गहन सिद्धान्तोंपर हुआ था। आज सदियां बीत जानेपर वर्ण-व्यवस्थाका नाम रह गया है, असली चीज़ कभीकी समाप्त हो चुकी है। वर्ण-व्यवस्था किन्हीं स्वार्थी ब्राह्मणों के दिमाग़की उपज नहीं थी, यह मानव-समाजके उन

महान् आध्यात्मिक सिद्धान्तोंका वर्गीकरण तथा नियमन था जिनके विना कोई समाज एक क़दम भी आगे नहीं बढ़ सकता। वे सिद्धान्त क्या थे ?

यह सब-कोई जानता है कि मनुष्य इकला नहीं रह सकता, वह दूसरोंके साथ रहना चाहता है, वह सामाजिक प्राणी है। हमारी वैयक्तिक आवश्यकताएं अकेले रहते हुए पूर्ण नहीं हो सकतीं, इसीलिये पारस्परिक सहायताके लिये मनुष्य समूह-रूपसे मिलकर समुदाय—संस्थान—उत्पन्न कर लेता है। उन संस्थानोंके नागरिक अनेक होनेके कारण अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार कामको वांट लेते हैं। इस प्रकार 'श्रम-विभाग' तथा 'परस्पर-सहयोग' (Division of Labour and Mutual Co-operation) से काम चल निकलता है। ज्यों-ज्यों एक आदमी एक ही काम के लिये अपना समय देता है, त्यों-त्यों वह उसे दूसरोंकी अपेक्षा अधिक कुशलता तथा आसानीसे कर लेता है। उसकी सन्तान उस कामको जन्मते ही सीखने लगती है, अतः उसकी सन्तानके लिये वह काम और भी आसान हो जाता है।

वर्ण-व्यवस्था और श्रम-विभाग एक वस्तु नहीं हैं—

मनुष्यकी प्राथमिक आवश्यकताएं, खाना-पीना, कपड़ा और मकान होती हैं, इसलिये प्रारंभमें श्रम-विभागका अभिप्राय भौतिक-आवश्यकताओंको पूर्ण करनेके लिये ज़रूरी श्रमके विभागसे ही होता है। भौतिक-आवश्यक सामग्रीको 'पूंजी' कहा जा सकता है, उसके बंटवारेके साधनको 'श्रम' कहा जा सकता है, अतः समाजकी प्रारंभिक अवस्थामें एक प्रकारसे

श्रम-विभाग द्वारा ही पूंजीका विभाग होता है। यदि समाजको ऐसे ही विकसित होने दिया जाय, 'श्रम-विभाग' का सिद्धान्त ही समाजका विकास करता चला जाय, समाज भी भौतिक-आवश्यकताओंतक अपने को सीमित रखे, भौतिक आवश्यकताओंसे ऊपर उठकर समाजके विकासकी कोई दूसरी दिशा भी हो सकती है—खाने-पीने, कपड़ेके सिवा समाजके विकासमें कोई और तत्त्व भी हो सकते हैं—इसे न माना जाय, तो समाजका संगठन 'श्रम-विभाग' और 'पूंजी-विभाग'को ही सामने रखकर होगा, अर्थशास्त्र ही हमारे अध्ययनका मुख्य विषय होगा, पूंजीवाद, समाजवाद, कम्युनिज़्म, लेबर, स्ट्राइक, मालिक, मज़दूर—ये समस्याएं ही हमारी सबसे बड़ी समस्याएं होंगी।

भौतिक-आवश्यकताओं को पूर्ण करना मनुष्य-जीवनके लिये आवश्यक है, परन्तु मनुष्य-जीवन इन्हींमें समाप्त नहीं हो जाता। भौतिक-विकास एकांगी विकास है, और सिर्फ़ इसीपर शक्ति केन्द्रित करनेका परिणाम समाजके लिये भयंकर होता है। भौतिक-विकाससे पूंजीका अपने-आप असमान-विभाग हो जाता है। श्रम-विभागको अनियमित चलने देनेका आवश्यक परिणाम पूंजीका असमान-विभाग है। जिस समाजमें पूंजीका असमान-विभाग होगा, उसमें पूंजीका समान-विभाग करनेके लिये समय-समयपर उत्पात मचते रहेंगे तथा पूंजीपतियों और श्रमिकोंके झगड़े भी उठते रहेंगे। जिन देशोंमें समाजका संगठन केवल भौतिक आवश्यकताओंको आधार बनाकर किया गया है, वे समाज-विद्रोहकी अच्छी उपजाऊ भूमि हैं, क्योंकि श्रमसे पूंजीका जो असमान-विभाग हो जाता है उसका निपटारा

करनेके लिये ग़रीबोंका ख़ून खौल उठता है। जो समाज श्रम द्वारा पूंजी अथवा भौतिक-आवश्यकताओंके सम या विषम विभागके सिद्धान्तपर आश्रित होगा उसमें श्रम या पूंजीके विभागकी स्वाभाविक बीमारियोंका इलाज करनेके लिये प्रकृति अपने उपायोंका अवलम्बन अवश्य करेगी, चाहे उसे ख़ूनकी नदियां ही क्यों न बहानी पड़ें !

वैदिक-संस्कृतिके समाज-शास्त्रियोंने अपने समाजका विकास अन्धी प्रकृतिपर नहीं छोड़ा था। उनके समाजकी रचना केवल भौतिक आवश्यकताओंको दृष्टिमें रखकर श्रम-विभागके सिद्धान्तके अनुसार नहीं हुई थी। समाज-विषयक उनकी दृष्टि एकांगी या अधूरी नहीं थी। उन्होंने समाजका विकास अन्धी प्रकृतिके हाथमें छोड़नेके स्थानपर अपने हाथोंमें ले लिया था। इसमें सन्देह नहीं कि भौतिक आवश्यकताओंको पूर्ण करना, श्रमद्वारा पूंजीका विभाग करना भी उनके समाज-निर्माणका एक आवश्यक अंग था, परन्तु उनके लिये जीवनका अभिप्राय भौतिक आवश्यकताओंको पूर्ण करने-मात्रसे बहुत-कुछ अधिक था। वे समझते थे कि समाजको केवल पूंजीपति या श्रमी—इन दो भागोंमें विभक्त कर देना समाजके आप-से-आप हो रहे, अन्ध-विकास (Unconscious development of society) का परिणाम है, इसका अन्त श्रेणी-युद्ध तथा समाज-विप्लव (Class-war and revolution) में होता है। वे यह भी समझते थे कि समाजके विकास को अपने हाथमें लेकर इस प्रकार चलाया जा सकता है, जिससे समाजको श्रेणी-युद्ध या विप्लवसे बचाया जा सके। समाजके इसी विकासको वैदिक-संस्कृतिमें वर्ण-व्यवस्थाका नाम दिया गया था।

श्रम-विभागका आधार आर्थिक (वृत्ति—Profession) तथा वर्ण-व्यवस्थाका आधार मनोवैज्ञानिक (प्रवृत्ति—Propensity) है—

जो लोग वर्ण-व्यवस्थाकी श्रम-विभागके सिद्धान्तसे तुलना करते हैं वे वैदिक-संस्कृतिके मूल-तत्त्वोंको नहीं समझते। वैदिक-संस्कृतिमें 'श्रम'का विचार आश्रम-व्यवस्थामें निहित था, वर्ण-व्यवस्थामें नहीं। 'श्रम'का अर्थ है, परिश्रम, मेहनत। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास—ये चार श्रम थे, चार प्रकारकी मेहनत थे जो आत्माको जीवन-पथपर आगे-आगे ले जाते थे। इनमें कर्मको नहीं छोड़ा जाता था, कर्मके लिये तो श्रम किया ही जाता था, तभी इन्हें, 'आ-श्रम' अर्थात् चारों तरफ़से श्रम-ही-श्रम कहा जाता था। वर्ण-शब्द तो वृञ्-वरणे—वरण करना, चुनना—इस धातुसे बना है। प्रत्येक मनुष्यमें स्वाभाविक तौरपर जो चार प्रकारकी प्रवृत्तियां हैं उनमेंसे अपने स्वभावको देखकर वह किसी एकको चुन लेता है। वर्ण-विभाग चार पेशे या चार व्यवसाय नहीं हैं, ये चार प्रकारकी मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियां हैं। वर्ण-व्यवस्थाके अनुसार, मनुष्यकी भौतिक आवश्यकताओंके पहलूको, आर्थिक पहलूको ही नहीं, सम्पूर्ण मनुष्यको देखा गया है। वर्ण-व्यवस्थाका सिद्धान्त, समाजके ध्येयको सम्मुख रखते हुए, उसके अभीष्ट विकासका सिद्धान्त है। खाना-पीना-कपड़ा ही सब-कुछ नहीं, मनुष्य इससे बहुत-कुछ ऊंचा है, शरीर ही सब-कुछ नहीं, वह शरीरका अधिष्ठाता, उसका स्वामी है। श्रम तथा पूंजी शरीर की रक्षाके लिये हैं, परन्तु फिर, शरीर तो अपने लिये नहीं,

शरीर आत्माके लिये है। व्यक्तिरूपसे प्रत्येक मनुष्यको आत्मा की तरफ़ जाना है। वर्ण-व्यवस्था मनुष्यको सामूहिक रूपसे शरीरसे आत्माकी तरफ़ ले जानेका सिद्धान्त है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र—चार 'वृत्तियां' (Professions) नहीं, मानवकी चार 'प्रवृत्तियां' (Propensities) हैं, आत्माके जीवन-यात्रामें जाने की चार दिशाएं हैं। इनमें एक प्रवृत्ति, एक दिशा, खाना-पीना-कपड़ा भी है, परन्तु यही तो सब-कुछ नहीं। हमारा सब-कुछ तो आत्माका विकास है। खाना-पीना-कपड़ा वैश्य-प्रवृत्ति है, आत्माका विकास इससे बहुत-कुछ बढ़कर है। वैदिक-संस्कृतिके दृष्टिकोणमें प्रत्येक मानवको जीवन-यात्रामें आत्म-तत्त्वका विकास करना है। जो काम प्रत्येकको करना है वही तो अन्तमें जाकर मानव-समाजको करना है, क्योंकि मानवके सामूहिक-विकासका नाम ही सामाजिक-विकास है। व्यक्ति-रूपमें मानवके विकासका लक्ष्य आत्म-तत्त्वका विकास है, तो सामूहिकरूपमें मानव-समाजके विकासका लक्ष्य इसके सिवा और क्या हो सकता है? इस विकासकी तरफ़ जाना ही समाजमें ब्राह्मण-प्रवृत्तिको जगाना है।

चार मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियां—

इस बातको ज़रा और अधिक स्पष्ट समझनेकी ज़रूरत है। मनुष्य में चार प्रवृत्तियां हैं, इन्हीं चारके आधारपर मनुष्य-समाजमें वैदिक-संस्कृति ने चार प्रवृत्तियां मानी हैं। प्रवृत्तियां चार क्यों हैं, और कैसे? प्रवृत्तियों का चारमें विभाग संसारके मौलिक-तत्त्वोंपर किया गया है। सांख्य-शास्त्रके अनुसार सत्ता-मात्रके आधारमें सत्त्व, रज, तम—ये तीन मौलिक-तत्त्व हैं।

इसीको 'सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः'—सत्त्व, रज, तमकी समावस्था का नाम प्रकृति, इनकी विषमावस्थाका नाम विकृति, अर्थात् 'यह संसार'—ऐसा कहा है। सृष्टिकी रचनाके यही सूक्ष्म तत्त्व मनकी रचना करते हैं जिनसे मन सात्त्विक, राजसिक तथा तामसिक कहाता है। मनोविज्ञानके ये तीन तत्त्व समाज-शास्त्रमें जाकर चार बन जाते हैं। वैदिक-संस्कृतिके समाज-शास्त्रियोंने सांख्यके मनोविज्ञानके तीन तत्त्वोंके सिद्धान्त-को लेकर समाज का विभाग सात्त्विक, सात्त्विक-राजसिक, राजसिक-तामसिक तथा तामसिक—इस प्रकार चार प्रवृत्तियों-को ग्राधार बनाते हुए—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र—इन चार वर्णोंके रूपमें कर दिया है। ये चारों पेशे नहीं, व्यवसाय नहीं, ग्रपितु मनुष्यकी मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियोंके चार मुख्य विभाग हैं। संसारभरके पेशे, व्यवसाय, इन विभागोंमेंसे वैश्य-विभागके ग्रन्तर्गत समा जाते हैं। भारतीय ग्रध्यात्म-तत्त्व (Metaphysics) से ही भारतीय मनोविज्ञान (Psychology) ने ग्रपने सिद्धान्तोंको स्थिर किया, इसी मनोविज्ञानको ग्राधार बनाकर वैदिक-संस्कृतिके समाज-शास्त्र (Sociology) ने मनुष्यकी स्वाभाविक प्रवृत्तियों को सामने रखकर समाजके ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र—ये चार विभाग किये। मानव-समाजकी प्रवृत्तियोंका, उसकी स्वाभाविक दिशाग्रोंका यह वर्गी-करण है। सात्त्विक-प्रवृत्तिवाला व्यक्ति, जिसकी जीवनके प्रति ग्राध्यात्मिक-दृष्टि है, ब्राह्मण है। सतोगुण तथा रजोगुणका सम्मिश्रण क्षात्र-प्रवृत्ति है, इसमें सतोगुणके साथ रजोगुणकी प्रधानता है। ब्राह्मण तथा क्षत्रिय-प्रवृत्तिके लोग समाज-सेवा-का जो कार्य करते हैं वह इसलिये नहीं करते क्योंकि यह उनका

पेशा है, आजीविकाका साधन है। वे इन कार्योंको इसलिये करते हैं क्योंकि उनके जीवनका आधार-भूत तत्त्व आत्म-तत्त्व है और वही उन्हें अपने 'मस्तिष्क' तथा 'पौरुष' से समाजसेवा-के कार्यमें प्रेरित करता है। उनका 'आत्म-तत्त्व' स्वार्थसे परार्थ-के मार्गपर जा रहा है, विषमतासे समताके मार्गपर जा रहा है, अनेकतासे एकताके मार्गपर जा रहा है, प्रकृतिमें भटकनेके स्थानपर अपने स्वरूपमें जा रहा है, अपने विकासके मार्गपर आगे बढ़ रहा है। उनकी सेवा निष्काम होती है, समाज उनकी भौतिक आवश्यकताओंको पूर्ण करता है। ब्राह्मण-प्रवृत्ति वालेके लिये तो यहांतक कहा गया है कि वह समाज-सेवा करता हुआ भूखा मरने लगे, तो 'शिल' तथा 'उञ्छ'से निर्वाह कर ले, परन्तु मांगे नहीं—'शिलोञ्छमप्याददीत विप्रोऽजीवन्यतस्ततः।' बहुत दिनोंके लिये भोजन-सामग्री इकट्ठी करके भी न रखे। स्वाधीन रहता हुआ निष्काम-वृत्तिसे समाजकी सेवा करे। ग़रीबीमें ही अमीरी समझे। क्षत्रिय-प्रवृत्तिवालेके लिये भी धनकी लालसा उसका क्षेत्र नहीं है। उसकी राजसिक-प्रवृत्तियां सतोगुणकी तरफ़ ही जा रही हैं। रजोगुणके कारण उसमें क्रियाशीलताकी प्रधानता है, परन्तु उसकी सम्पूर्ण क्रियाशीलताका रुख सतो-गुणी है। रजोगुण तथा तमोगुण मिलकर वैश्य-प्रवृत्तिको बनाते हैं, इसमें रजोगुण की अपेक्षा तमोगुण प्रधान है। जैसे ब्राह्मण तथा क्षत्रिय-प्रवृत्तिमें निष्कामता है, वैसे वैश्य-प्रवृत्तिमें सका-मता है। तामसिक प्रवृत्तिको शूद्र-प्रवृत्ति कहा गया है।

वैदिक-संस्कृतिके जिस विचारको हमने अभी सांख्यके शब्दों-में कहा उसे वर्तमान मनोविज्ञानकी परिभाषामें भी कहा जा सकता है। जीव दो प्रकारके होते हैं—उद्बुद्ध तथा अनुद्बुद्ध।

उद्बुद्ध-जीव तीन प्रकारके होते हैं—ज्ञान-प्रधान, क्रिया-प्रधान, इच्छा-प्रधान। जो मस्तिष्कसे समाजकी सेवा करते हैं वे निष्काम-प्रवृत्तिवाले सात्त्विक जीव ज्ञान-प्रधान होनेके कारण ब्राह्मण कहाते हैं; जो हाथसे समाजकी सेवा करते हैं वे निष्काम राजसजीव क्रिया-प्रधान होनेके कारण क्षत्रिय कहाते हैं; जो उदरसे, खाने-पीनेके दृष्टिकोणको मुख्यता देकर समाजकी सेवा करते हैं वे सकाम, तम:प्रधान, राजस-जीव इच्छाके प्रबल होनेके कारण वैश्य कहाते हैं। यह तो उद्बुद्ध जीवोंकी बात हुई, परन्तु जो अनुद्बुद्ध अवस्थाके जीव होते हैं वे सकामता, जड़ता तथा तमोगुणके प्रधान होनेके कारण शूद्र कहाते हैं। मनुष्यमें ज्ञान (Knowing), क्रिया (Willing) तथा इच्छा (Feeling) की प्रधानताके कारण उसका ज्ञान-प्रधान, क्रिया-प्रधान तथा इच्छा-प्रधान—यह सत्त्वरजस्तमसात्मक-विभाग करके वर्ण-व्यवस्थाकी आधार-शिला रखी गई है। इसकी रचनामें अध्यात्म-शास्त्र तथा मनोविज्ञान-शास्त्रके सिद्धान्त काम कर रहे हैं। समाजका यह विभाग, यह वर्गीकरण, जानते हुए, समझते हुए, समाजको मानो अपने हाथमें लेकर किया गया है, समाजको यूं ही विकसित होनेके लिये अपने भाग्यपर नहीं छोड़ा गया। मनुष्यकी व्यक्तिरूपसे जो स्वाभाविक, आधार-भूत चार प्रवृत्तियां हैं, उन्हें सामाजिक-रूपमें समझने, और समाजके विकासमें नियुक्त करनेके प्रयासका नाम वर्ण-व्यवस्था है।

श्रम-विभाग वैश्य-प्रवृत्तिका अंग है—

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रको चार पेशे समझना भूल है। क्या वैदिक-कालके आर्योंमें चार ही पेशे थे, उनके चार ही

व्यवसाय थे ? पेशे तो अनन्त हो सकते हैं। जैसा अभी कहा गया, ये चार विभाग पेशोंके, वृत्तियोंके नहीं, प्रवृत्तियोंके हैं। इन चार प्रवृत्तियोंमेंसे एक प्रवृत्ति वह है जिसे वैश्य-प्रवृत्ति कहा जाता है। मनुष्यकी वैश्य-प्रवृत्ति ही श्रम-विभाग (Division of labour) के रूपमें प्रकट होती है। इस प्रवृत्तिका व्यक्ति सब-कुछ व्यापारिक दृष्टिसे देखता है, और जीवनके आर्थिक प्रश्नोंको हल करनेमें ही लगा रहता है। वैश्यके जीवनको ही पेशे या व्यवसायका जीवन कहा जा सकता है, ब्राह्मण तथा क्षत्रियको नहीं, इसलिये वैश्य-प्रवृत्ति तथा श्रम-विभागका सिद्धान्त एक ही वस्तु है। परन्तु, क्योंकि वैश्यप्रवृत्ति वर्ण-व्यवस्थाका चौथाई हिस्सा है, वैश्य-प्रवृत्तिके अलावा वैदिक-संस्कृतिमें सामाजिक-विकासकी तीन और प्रवृत्तियां मानी गई हैं, इसलिये श्रम-विभागका सिद्धान्त वर्ण-व्यवस्थाके केवल चौथाई हिस्से को छूता है। वर्ण-व्यवस्था ही श्रम-विभाग नहीं है। वर्ण अर्थात् प्रवृत्तियां चार हैं, श्रम अर्थात् वृत्तियां अनन्त हैं। वैदिक-संस्कृतिमें अनन्त श्रमोंका नाम वैश्य-प्रवृत्ति है। ब्राह्मण-प्रवृत्ति और क्षत्रिय-प्रवृत्तिकी तरफ़ अभी तो मनुष्य-समाजने कदम भी नहीं रखा। वैदिक-संस्कृतिमें केवल चार पेशे नहीं थे, आजकलकी तरह हज़ारों पेशे थे, परन्तु उन सबको एक वैश्य-प्रवृत्तिके नामसे पुकारा जाता था। 'वर्ण'का अर्थ पेशा या व्यवसाय नहीं है,—इसका अर्थ है वृञ्-वरणे—वरण करना, चुनना। चुननेका अभिप्राय पेशेके चुननेसे नहीं, पेशा तो जीवनकी भौतिक-आवश्यकताओंको सामने रखकर चुना जाता है, चुननेका अभिप्राय प्रवृत्ति अथवा स्वभावके अनुकूल अपने जीवन-पथको चुननेसे है, वह पथ जो आत्म-तत्त्वके विकासके

लिये अधिक उपयुक्त है। वर्णका अर्थ 'वृत्ति' नहीं, प्रवृत्ति था। ये प्रवृत्तियां चार समझी जाती थीं, जिनमेंसे आर्थिक-प्रवृत्ति एक थी। वेद पढ़ने अथवा सेनामें भर्ती होनेका उद्देश्य भी यदि रुपया कमाना होगा, तो वह वैश्य-प्रवृत्तिमें ही गिना जायगा, ब्राह्मण तथा क्षत्रिय-प्रवृत्तिमें नहीं। जो लोग पैसा कमानेके लिये पढ़ाते-लिखाते हैं, पैसेके लिये सेनामें भर्ती होकर दूसरे मुल्कोंमें जाकर बेगुनाहों को गोलीका शिकार करते हैं, भले ही वे अपनी जान ख़तरेमें डालते हों, वे न ब्राह्मण हैं, न क्षत्रिय। वैदिक-संस्कृतिकी परिभाषामें पैसा कमानेके लिये कुछ भी करने-वाला वैश्य है। प्रवृत्ति ही मुख्य वस्तु है, क्योंकि यही आन्तरिक है, वास्तविक है, यही आत्मासे फूटती है, वृत्ति तो चार प्रवृत्तियों-मेंसे एक प्रवृत्ति का बाह्य रूप है। समाजका विकास जड़ सिद्धांतोंपर चलता हुआ श्रम-विभागके आर्थिक-नियम (Economic Principle) को पैदा कर देता है। श्रम-विभागसे पूंजी-का असमान-विभाग हो जाता है। पूंजीके असमान-विभागसे बना-बनाया समाज टूट जाता है, श्रेणी-युद्ध, क्रांति तथा विप्लव-की आंधीसे टुकड़े-टुकड़े हो जाता है। वही सामाजिक-विकास मनोवैज्ञानिक सिद्धांतोंपर चलता हुआ वर्ण-व्यवस्थाके गहरे तथा विस्तृत नियमोंपर समाजकी रचना करता है, इसका परिणाम शांति, सहयोग तथा पारस्परिक प्रेम होता है। क्यों होता है? क्योंकि वर्ण-व्यवस्थाके अनुसार जीवनका आर्थिक पहलू एक बहुत छोटा पहलू है। सारे लड़ाई-झगड़े, सब संग्राम, सब क्रांतियां, सब विप्लव आर्थिक-विषमताको दूर करनेके लिये ही तो होते हैं। वैदिक-संस्कृतिने वर्ण-व्यवस्थाकी रचना करते हुए मनुष्यके सामने एक ऊंचा लक्ष्य रख दिया था, वैश्य-प्रवृत्तिको

आर्थिक-समस्यामें उलझता छोड़कर यह घोषित किया था कि तमोगुणसे रजोगुण ऊंचा है, रजोगुण से सतोगुण ऊंचा है, सात्त्विक-भावको जागृत करना आत्म-तत्त्वको जानना है, पहचानना है, और यही मनुष्यकी जीवन-यात्राका अन्तिम लक्ष्य है। श्रम-विभाग आर्थिक समस्याको मनुष्यकी मुख्य समस्या मानता है, वैश्य-प्रवृत्तिको ही सब-कुछ मानता है, वर्ण-व्यवस्था ऐसा नहीं मानती, यह श्रम-विभाग तथा वर्ण-व्यवस्थाके सिद्धांतोंमें मूलगत भेद है। यदि समाजके विकासको अपने हाथमें न लेकर स्वयं होने दिया जाय, तो थोड़े ही कालके अनन्तर 'श्रम-विभाग'का सिद्धांत अपने-आप कार्य करता दिखाई देगा; 'वर्ण-व्यवस्था' तो उस सिद्धांतको अपने हाथमें लेकर, उसके उद्देश्योंको निर्धारित कर, उनकी तरफ़ समाजको ले जानेका नाम है। अपने-आप इसलिये क्योंकि अर्थ-पूंजी-खाना-पीना-कपड़ा—इनपर रुक जाना, इनसे आगे न बढ़ना, यह मनुष्यका कुछ स्वभाव-सा है। आगे तो तब बढ़े जब भौतिक-आवश्यकताओंकी पूर्तिको साधन समझे, साध्य नहीं। वर्ण-व्यवस्थामें तो 'आत्म-तत्त्व'-का विकास प्रधान है, भौतिक भोग-सामग्री उस विकासका एक साधक-अंग है, वही सब-कुछ नहीं। वर्ण-व्यवस्थामें श्रम-विभाग आ जाता है, श्रम-विभागमें वर्ण-व्यवस्था नहीं आती। वर्ण-व्यवस्था बड़ी वस्तु है, श्रम-विभाग छोटी। श्रम-विभागका आधार मनुष्यकी शारीरिक, अर्थात् आर्थिक आवश्यकताएं है; वर्ण-व्यवस्थाका आधार मनुष्यकी शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक आवश्यकताएं है। श्रम-विभागकी दृष्टि पेशों तथा व्यवसायोंपर पड़ती है; वर्ण-व्यवस्थाकी दृष्टि उन सिद्धांतों पर जिनसे पेशे तथा मानवके विकासकी दिशा निश्चित की जाती

है। श्रम-विभागकी दृष्टि भौतिक तथा वर्ण-व्यवस्थाकी दृष्टि आध्यात्मिक है।

हमने अबतक यह कहा कि वर्ण-विभाग पेशोंका नाम न होकर प्रवृत्तियोंका विभाग है। अच्छी आमदनी न होने या अन्य किसी कारणसे मनुष्य पेशा बदल सकता है, परन्तु प्रवृत्ति नहीं बदलती। पेशा तो बदलनेवाली वस्तु है, वर्ण, अर्थात् प्रवृत्ति सत्य-वस्तु है। तभी कहा है—'आचार्यस्त्वस्य यां जातिं यथावद् विधिपारगः उत्पादयति सावित्र्या सा सत्या साजरामरा'—आचार्य अपने शिष्यके मानसिक-विकासको वर्षोंतक देखकर, उसकी प्रवृत्तिको देखकर जो जाति, जो वर्ण निश्चित कर देता है, वह सत्य है, अजर है, अमर है, क्योंकि वर्ण-विभाग तो प्रवृत्तिका विभाग है, वर्गीकरण है, बचपनसे लगातार वर्षों-तक समीपसे देखकर यह बता देना है कि अमुक व्यक्तिके जीवन-की दिशा इस तरफ़ जा सकती है, दूसरी तरफ नहीं। जैसे आज-कलके मनोवैज्ञानिक 'बुद्धि-परीक्षा' (Intelligence test) करते हैं, वे कहते हैं, 'विद्या' बढ़ सकती है, 'बुद्धि' नहीं, बुद्धि अर्थात् विषयके ग्रहण करनेकी योग्यता मनुष्यमें वही रहती है, वैसे प्राचीन-कालके आचार्य प्रत्येक बालककी बुद्धि-परीक्षा करनेके बाद उसकी प्रवृत्तिका निर्धारण कर देते थे, उस प्रवृत्तिको वे वर्ण कहते थे, और अगर वे कहते थे कि वह वर्ण बदलता नहीं तो वे वही बात कहते थे जो आजकलके बड़े-बड़े शिक्षा-शास्त्री, बड़े-बड़े शिक्षा-मनोविज्ञानके पंडित कहते हैं। आजकल वर्ण-व्यवस्थाके इस अर्थको कोई नहीं लेता, ग़लतीसे 'वर्ण'का अर्थ पेशा लिया जाता है, या 'वर्ण' का अर्थ जन्म की 'जात' लिया जाता है।

श्रम-विभागके लिये 'वर्ण-व्यवस्था' शब्दका प्रयोग—

हां, तो क्या वर्ण-व्यवस्थाका पेशोंके साथ कोई भी सम्बन्ध नहीं ? क्या यह प्रवृत्तियों के विभागके सिवा कुछ नहीं ? ऐसी बात भी नहीं है। पेशोंका विभाग ही श्रम-विभागका दूसरा नाम है। वर्ण-व्यवस्थामें वैश्य-वर्ण श्रम-विभागका प्रतिनिधि था। जैसे श्रम-विभागमें मनुष्य अर्थके उपार्जनके लिये कई श्रम, कई व्यवसाय करता है, वैसे अर्थ-उपार्जनके लिये जो-जो भी व्यवसाय किये जाते थे वे वैश्य-वर्णमें गिने जाते थे। वर्ण-व्यवस्था शब्दका दोनों अर्थोंमें प्रयोग होता था। मुख्यतः प्रवृत्तियोंके विभागको वर्ण-व्यवस्था कहा जाता था, परन्तु वैश्य-वर्णमें जो व्यवसायोंका विभाग था उसे भी वर्ण कह दिया जाता था। जब वर्ण शब्दका प्रवृत्तियोंके विभागके अर्थ में प्रयोग होता था तब वर्ण सत्य था, अजर था, अमर था। जब वर्ण शब्दका पेशे और व्यवसाय-अर्थमें प्रयोग होता था, जैसा यह सदियोंसे होता रहा, तब वर्ण बदल सकता था, जो जब चाहे जिस वर्णमें जा सकता था। उसी अर्थमें कहा जाता था—'शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्। क्षत्रियाज्जातमेवं तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च'—शूद्र ब्राह्मण हो सकता है, ब्राह्मण शूद्र हो सकता है। क्योंकि वैदिक-साहित्यमें व्यवसाय और स्वभाव, वृत्ति और प्रवृत्ति—दोनोंके लिये 'वर्ण' शब्दका प्रयोग हुआ है, इसलिये वर्ण बदल सकता है, नहीं बदल सकता—ये दोनों भाव उसमें पाये जाते हैं, परन्तु जब कहा जाता है वर्ण नहीं बदल सकता तब प्रवृत्तिसे अभिप्राय होता है, पेशेसे नहीं, जब कहा जाता है, वर्ण बदल सकता है तब वृत्तिसे, पेशेसे अभिप्राय होता है,

प्रवृत्तिसे नहीं। असलमें वर्ण बदलता भी है, नहीं भी बदलता, क्योंकि एक पेशेको छोड़कर दूसरे पेशेको लेनेसे कोई किसीको रोक नहीं सकता, उम्र भरके लिये किसीके लिये एक ही पेशा लिखा नहीं जा सकता, परन्तु इसके साथ-साथ भिन्न-भिन्न वृत्तियोंके मनकोंके अलग-अलग होते हुए प्रवृत्ति-रूपी एक सूत्र उन्हें बांधे रखता है, इसमें भी सन्देह नहीं।

आज सब वैश्य बन रहे हैं—

आज दूसरी प्रवृत्तियों का तो कोई नाम ही नहीं लेता, एक ही प्रवृत्तिने मानवको घेर रखा है, सब वैश्य बने जा रहे हैं, पैसा-पूंजी कमानेके पीछे पड़े हुए हैं, ब्राह्मण-क्षत्रिय जो प्रवृत्तियां थीं वे भी वृत्तियां, पेशा, पैसा कमाने का साधन बन गई हैं, ब्राह्मणत्व-क्षत्रियत्व बिल्कुल उठ गया है, निष्कामता कहीं रही नहीं, समाजके ऊंचे अध्यात्मवादी आदर्शोंकी कोई चर्चा नहीं करता—इसका क्या कारण है? इसका कारण यह है कि हमने समाजका विकास अन्धी, जड़-शक्तियोंके हाथमें दे रखा है, उसे चेतन शक्तिके हाथ में नहीं दिया। जड़-विकासका परिणाम है कि आज हम भौतिक पदार्थोंको, संसारके भोग-ऐश्वर्यको सब-कुछ समझ बैठे हैं, इनके लिये जीते, इनके लिये मरते हैं। पैसेसे भौतिक-पदार्थ जुटते हैं इसलिये पैसा सब-कुछ बन गया है। परन्तु अगर हमें जड़की तरफ़ नहीं चेतनकी तरफ़ जाना है, तो यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि जो-कुछ हो रहा है, वह ठीक है या ग़लत? क्या इसे ऐसे ही चलने दिया जाय? वैदिक-संस्कृति इस बातको नहीं मानती कि खाना-पीना ही सब-कुछ है, रोटीकी समस्या ही मनुष्यकी आदि और अन्तकी समस्या

है। परन्तु न माननेमात्रसे तो काम नहीं चलता। पैसेसे मनुष्यका मोह कैसे छूटे, इससे उसका मुँह कैसे मुड़े? जबतक पैसेसे मनुष्य-का मोह न तोड़ा जायगा तबतक यह कम्बख़्त आगे नहीं चलेगा। वैदिक-संस्कृतिने इसका उपाय वर्ण-व्यवस्थाद्वारा किया था।

पैसेकी क्रय-शक्ति बढ़ गई है—

वह कैसे? लोग पैसेके पीछे क्यों भागते हैं? पैसेके पीछे वे इसलिये भागते हैं क्योंकि पैसेकी ख़रीदनेकी शक्ति बहुत बढ़ गई है। कोई समय था जब संसारमें पैसेको कोई जानता तक न था। किसान खेती करता था, जुलाहा कपड़ा बुनता था, तीसरा आदमी तीसरा काम करता था। जिसके पास जो-कुछ था दूसरोंको दे देता था, जो उसके पास नहीं था, वह बदलेमें दूसरेसे ले लेता था। इस प्रकार वस्तुओंसे वस्तुओंका आदान-प्रदान, विनिमय होता था। परन्तु मनुष्य विनिमय का कोई सुविधाजनक, छोटा, संक्षिप्त माध्यम चाहता था। सौ मन अनाज या रुईको संभाल रखना कोई आसान काम न था, उसे देरतक रखा भी नहीं जा सकता था, उसमें कीड़ा लग सकता था, आग-पानीसे वह नष्ट हो सकती थी, उसे एक जगहसे दूसरी जगहपर आसानीसे ले जाया नहीं जा सकता था। विनिमयके इस माध्यमकी तलाश करते-करते पैसेकी उत्पत्ति हुई। पैसेको जब चाहे जिस चीज़में बदला जा सकने लगा। मनुष्यको बहुत सुविधा हो गई। मनुष्य पैसेको संभालकर रख लेता। जब चाहता जिस चीज़को पैसेमें बदल लेता, और जब चाहता उसका अनाज, कपड़ा, लकड़ी, मकान—जो चाहता ख़रीद लेता। पैसे में इतनी ही शक्ति रहती तो संसारमें कोई अनर्थ न होता,

परन्तु धीरे-धीरे पैसेकी शक्ति बढ़ने लगी। यह शक्ति इतनी बढ़ गई कि पैसेसे मनुष्य खाने-पीने-पहननेके पदार्थ ही नहीं, सब-कुछ ख़रीद सकने लगा। पैसेसे मनुष्य मनुष्यको ख़रीदने लगा। जब ब्राह्मणने यह देखा कि पैसेमें इतनी शक्ति है, उसे किसी भी चीज़में बदला जा सकता है, उसमें संसारकी सब शक्तियां समेटकर रख दी गई हैं, जब चाहें उसमेंसे जिस किसी शक्ति को उद्बुद्ध किया जा सकता हैं, तो उसने पैसेके लिये अपने मस्तिष्कको बेचना शुरू कर दिया। ब्राह्मण व्यापारीके हाथ बिक गया, सबसे ऊंची बोली देनेवालेके हाथ उसने अपने दिमाग़ को नीलाम कर दिया। क्षात्र-शक्ति भी बनियोंके हाथोंमें खेलने लगी, क्योंकि हर बातमें पैसेको जो प्रधानता मिल गई। पैसे वाला आजके युगका राजा है—यह इसलिये क्योंकि पैसेकी क्रय-शक्ति—ख़रीदनेकी ताक़त बहुत बढ़ गई है। वैदिक-संस्कृति के समाज-शास्त्रियोंने इस ख़राबीको यहीं पकड़ लिया था। उन्होंने अपने समाजका विकास आर्थिक-आधारोंपर नहीं होने दिया, पैसेकी क्रय-शक्तिको नहीं बढ़ने दिया। उन्होंने यह कैसे किया—इसे समझनेकी आवश्यकता है।

पैसेकी क्रय-शक्ति बढ़ गई—इसका क्या अर्थ है? पैसा अगर रोटी-कपड़ा-मकान ख़रीद सके, तो इसमें किसे आपत्ति हो सकती है। अगर पैसेवाला रोटी ख़रीदेगा तो कितनी ख़रीद लेगा, खायेगा तो कितना खा लेगा। अगर मकान भी ख़रीदेगा तो कितने ख़रीद लेगा, ख़रीदता ही चला जायगा तो वे उसके किस काम आयेंगे? पैसेसे कोई मोटर ख़रीद ले, हवाई जहाज़ ख़रीद ले, परन्तु फिर वही प्रश्न उठ खड़ा होता है, कितने और कहांतक? पैसेको जमा करते-करते एक अवस्था ऐसी

आ जाती है जब जमा करनेवालेके लिये पैसा निरर्थक हो जाता है। करोड़ों रुपया जिसका बैंकमें जमा है वह उसका क्या उपयोग कर सकता है? चार रोटीसे ज़्यादा वह खा नहीं सकता, एक कमरेसे ज़्यादामें वह सो नहीं सकता, दो-चार गज़ से ज़्यादा कपड़ा वह पहन नहीं सकता। जो आदमी सात फ़ुट पानीमें डूब जाता है उसके लिये सौ फ़ुट पानी हो तो भी उतना, सात फ़ुट पानी हो तो भी उतना। डूबनेके लिये तो सात फ़ुट ही चाहिये, बाकी का बेकार है। भौतिक-आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिये भी एक ख़ास सीमातक रुपये-पैसेकी ज़रूरत है, उससे आगे जितनी आर्थिक-सम्पत्ति है वह सब बेकार है। परन्तु फिर भी लोग पैसे जोड़नेसे थकते नहीं। यह इसलिये क्योंकि पहले तो पैसेसे भौतिक सुख-भोग मिलते हैं, बाकी बचे हुए, बैंकमें जमा किये हुए, जिसे हम निरर्थक कह रहे हैं, उस पैसेसे हुकूमत और इज़्ज़त मिलती है। पैसेवालेकी हुकूमत है, पैसेवालेकी इज़्ज़त है। पैसा खाने-पीनेकी चीज़ोंको ही नहीं, हुकूमत और इज़्ज़तको भी ख़रीद सकता है। यह है पैसेकी बढ़ी हुई ताक़त, बढ़ी हुई क्रय-शक्ति। जब इसकी क्रय-शक्ति इतनी बढ़ी हुई है तब हरेकका पैसा जमा करनेके लिये लपक पड़ना स्वाभाविक है।

वर्ण-व्यवस्थाद्वारा पैसेकी क्रय-शक्ति घटा दी गई थी—

वर्ण-व्यवस्थाद्वारा वैदिक-संस्कृतिने यह प्रयत्न किया था कि पैसेवाला खाने-पीने, भौतिक ऐश्वर्य-उपभोगको तो ख़रीद सके, परन्तु हुकूमत और इज़्ज़तको न ख़रीद सके। वैदिक-संस्कृतिका कहना था कि चारों प्रवृत्तियोंके लोगोंके लिये

आवश्यक है कि वे अपनी-अपनी प्रवृत्तिके अनुसार समाजकी सेवा करें—ब्राह्मण ज्ञानसे, क्षत्रिय क्रियासे, वैश्य इच्छासे, शूद्र शारीरिक सेवासे। यह उनका 'कर्तव्य' है। जब किसीका कोई 'कर्तव्य' निश्चित किया जाता है तो उसके साथ उसे कोई 'अधिकार' भी दिया जाता है। यह अधिकार उसे कर्तव्यके पारितोषिकके रूपमें दिया जाता था। संसारमें अधिकार चार प्रकारके हैं—इज़्ज़त, हुकूमत, दौलत, खेल-कूद। वैदिक-संस्कृति में इन चारोंका विभाग कर दिया गया था। ब्राह्मणको इज़्ज़त दी जाती थी, परन्तु इज़्ज़तसे दिमाग़ न बिगड़ जाय, इसलिये इज़्ज़त देते हुए साथ ही कह दिया जाता था—'सम्मानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत् विषादिव'—सम्मानसे ब्राह्मण ऐसे डरता रहे जैसे विषसे। क्षत्रियको 'हुकूमत' दी गई थी, परन्तु हुकूमत से भी दिमाग़ न बिगड़ जाय, इसलिये दण्ड देने की शक्तिको देते हुए उसे साथ ही कह दिया जाता था—'दण्डो हि सुमहत्तेजो दुर्धरश्चाकृतात्मभिः। धर्माद्विचलिते हन्ति नृपमेव सबान्धवम्'—सचाईसे डिगनेवाले क्षत्रियको दण्ड-शक्ति ही उसके बन्धु-बान्धुवों के साथ नष्ट कर डालती है। वैश्यको 'दौलत' मिलती थी। वह दौलतसे खाने, पीने, पहनने, रहनेके साधनोंके सिवा और कुछ नहीं ख़रीद सकता था। साथ ही, जैसे भोजनके पेटमें ही पड़े रहनेसे बीमारी हो जाती है, सम्पूर्ण सम्पत्तिके वैश्यके पास जमा हो जानेसे समाजका शरीर रुग्ण न हो जाय, इसलिये वैश्यको दौलत-सम्पत्ति देते हुए कहा जाता था—'दद्याच्च सर्व-भूतानामन्नमेव प्रयत्नतः'—वैश्य लेता जाय परन्तु साथ ही देता जाय। शूद्र, क्योंकि समाजकी अपनी किसी मानसिक शक्तिद्वारा सेवा नहीं कर सकता, इसलिये उसे अपने कर्तव्योंके

पुरस्कारमें 'छुट्टी-खेल-कूद-तमाशा'—ये चीज़ें मिलती थीं, परन्तु शूद्र अपनी निचली स्थितिमें ही पड़ा न रहे, अपने आत्म-तत्त्व का विकास करे, इसलिये उसे कहा जाता था—'शूद्रेण समस्तावत् यावद्वेदे न जायते'—'शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्'—शूद्र भी ब्राह्मण बन सकता है, जबतक वह उन्नत नहीं होता तभीतक वह शूद्र है, उसके उन्नतिके मार्गपर चलनेमें कोई समाज उसके सामने बाधा बनकर नहीं खड़ा हो सकता। इस प्रकारकी व्यवस्थामें जहां 'अधिकार' है, वहां 'कर्तव्य' भी है, जहां 'स्वतंत्रता' है, वहां 'बन्धन' भी हैं। इस समय सब लोग सब प्रकारके अधिकार चाहते हैं। ब्राह्मण चाहते हैं उन्हें इज़्ज़त, हुकूमत, दौलत, खेल-कूद—सब कुछ मिले ; क्षत्रियों की भी यही अभिलाषा है ; वैश्य भी इसीके शिकार हैं। वर्तमान सामाजिक संगठनमें तो वैश्योंका ही पलड़ा भारी हो रहा है। उन्हींको दौलतके साथ-साथ इज़्ज़त और हुकूमत मिल रही है, वही खेल-कूदमें समय बिताते हैं, मज़दूर बेचारे तो काम के मारे मरे जाते हैं। इसीका परिणाम है कि शुद्ध ब्राह्मणत्व तथा शुद्ध क्षत्रियत्वसे संसारकी जो उच्च अवस्था चित्रित की जा सकती है, वह कहीं देखनेको भी नहीं मिलती। वैश्यत्वके बोझ से मानव-समाजकी आत्मा कराह रही है। रुपये-पैसेसे सब-कुछ खरीदा जा सकता है, इसलिये सब पैसा कमानेमें जुटे हैं। वर्ण-व्यवस्थामें पैसेकी क्रय-शक्तिको कम करनेके लिये इज़्ज़त, हुकूमत, दौलतको अलग-अलग बांट दिया गया था, वैश्यको सामाजिक-व्यवस्थामें, ब्राह्मण तथा क्षत्रियसे नीचेके स्थानपर रख दिया गया था। भारतीय समाज-शास्त्री जानते थे कि समाजका विकास स्वार्थ-बुद्धि तथा परार्थ-बुद्धि दोनोंके समन्वयसे हो सकता

है। समाजको न स्वार्थ-मय बनाया जा सकता है, न परार्थ-मय। वे जानते थे कि स्वार्थ परार्थके लिये चलेगा तभी समाजका आध्यात्मिक विकास होगा। इसलिए उन्होंने आर्थिक-दृष्टिकोण की अवहेलना तो नहीं की थी, परन्तु परार्थको मुख्य बनाकर स्वार्थको परार्थके साधकके तौरसे गौण स्थान दे दिया था। निष्काम-भाव परार्थ प्रवृत्ति है; सकाम-भाव स्वार्थ-प्रवृत्ति है। ब्राह्मण तथा क्षत्रिय निष्काम तथा परार्थ भावसे समाज की सेवा करते हैं, और वैश्य तथा शूद्र सकाम तथा स्वार्थ-भाव से। वैदिक-संस्कृतिका ध्येय सकामता नहीं निष्कामता था, स्वार्थ नहीं परार्थ था। इसी लक्ष्य की तरफ़ चलते हुए वैदिक-संस्कृतिने सकामता को निष्कामताका, स्वार्थको परार्थका सेवक बना दिया था, वैश्य-प्रवृत्तिको निचला दर्जा देकर ब्राह्मण-प्रवृत्तिसे ऊपर उभरने नहीं दिया था, यह भाव वर्ण-व्यवस्थाका आधार-भूत तत्त्व था और इसीके द्वारा वैदिक-संस्कृतिने पैसेकी क्रय-शक्तिको कम कर दिया था।

वर्ण-व्यवस्था द्वारा मनुष्यकी प्रवृत्तियोंका बंटवारा किया गया था—

वर्ण-विभागका लक्ष्य प्रवृत्तियों, आकांक्षाओंका बंटवारा है। ज्ञान-प्रधान व्यक्तिको ज्ञानका जीवन बितानेकी सोचनी चाहिये, और इसी आकांक्षाको रखते हुए उसे उचित पुरस्कार मिलना चाहिये। इसी प्रकार क्रिया तथा इच्छा-प्रधान व्यक्तियों को करना चाहिये। ब्राह्मण ज्ञान-प्रधान (Man of knowledge) है, अतः ज्ञान के कारण उसे इज़्ज़त मिलेगी, हुकूमत और दौलत नहीं। क्षत्रिय क्रिया-प्रधान (Man of action) है,

अतः क्रियाशीलताके कारण उसे हुकूमत मिलेगी, दौलत और इज़्ज़त नहीं। वैश्य इच्छा-प्रधान (Man of desire) है, अतः इच्छाशीलताके कारण उसे दौलत मिलेगी, इज़्ज़त और हुकूमत नहीं। संसारके सारे अनर्थ इसलिये होते हैं क्योंकि इज़्ज़त, हुकूमत और दौलत एक ही जगह जमा हो जाते हैं—इन्हें एक जगह जुटने न दिया जाय, अलग-अलग रखा जाय, तो समाज में अव्यवस्था हो ही नहीं सकती, और ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यको अपनी प्रवृत्तिके अनुसार समाज-सेवाके रूपमें कर्तव्यको निभाने का जो अधिकार दिया जायगा, ब्राह्मणको इज़्ज़त, क्षत्रियको हुकूमत, वैश्यको दौलत—उसका दुरुपयोग हो ही नहीं सकेगा। इस समय जो सबके वैश्य बननेकी प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है उसका कारण भी यही है कि वैश्यके पास प्रतिष्ठा, शक्ति तथा धन तीनों आकर इकट्ठे हो गये हैं। अगर इन तीनोंको अलग-अलग कर दिया जाय, अगर वैश्यको प्रतिष्ठा तथा शक्ति न देकर केवल धन दिया जाय, प्रतिष्ठा तथा शक्तिको धनसे ख़रीदी जा सकनेवाली चीज़ें न बनने दिया जाय, तो सब लोग वैश्य बननेका प्रयत्न भी न करें, और इससे जीवन-संग्रामकी विषमता भी कम हो जाय। इस समय तो सम्पूर्ण मानव-समाज वैश्य बना जा रहा है। इसका यह अभिप्राय नहीं कि सबको धनकी इतनी आवश्यकता है। प्रवृत्ति न होते हुए भी वैश्य-वृत्तिके लिये यह घुड़दौड़ इसलिये हो रही है क्योंकि आज दौलतसे ही इज़्ज़त और हुकूमत मिलती है। मनुष्य, स्वभावसे, दौलत इतनी नहीं चाहता जितनी इज़्ज़त और हुकूमत चाहता है। दौलतको तो वह इसलिये चाहता है क्योंकि आज इसीसे इज़्ज़त और हुकूमत मिल रही है। यदि समाजका ढांचा बदल दिया

जाय, धनकी बढ़ती हुई क्रय-शक्तिको ढीला कर दिया जाय, तो रुपये-पैसेकी यह दौड़ आधीसे कम रह जाय। वर्ण-व्यवस्था का यही पहलू संसारकी रक्षा कर सकता है, नहीं तो संसार धन-संग्रह करता-करता ही मट्टीका ढेर हो जायगा। इस समय कितने होनहार युवक केवल इज़्ज़त और हुकूमत पानेके लिये रुपया बटोरनेमें पसीना बहा रहे हैं। कुछमें ज्ञानकी प्रधानता है, कुछमें क्रियाकी प्रधानता है, परन्तु उन शक्तियोंसे वे समाज को कोई लाभ नहीं पहुंचा रहे। वर्ण-व्यवस्थाकी मूलगत विचार-धाराको समझनेसे संसारकी न-जाने कितनी अमूल्य शक्तिको नष्ट होनेसे बचाया जा सकता है, उसका समाजके विकासमें उपयोग किया जा सकता है।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र—ये चार 'कर्तव्य' हैं ; इज़्ज़त, हुकूमत, दौलत, खेल-कूद—ये चार 'अधिकार' हैं। कर्तव्यों तथा अधिकारोंको प्रवृत्तिके अनुसार चार हिस्सोंमें बांटकर उन्हें नियमित कर देनेका नाम वर्ण-व्यवस्था है, ऐसा न होनेका नाम वर्ण-संकरता है। जब ज्ञान-प्रधान सात्त्विक जीव ज्ञानसे समाज की सेवाकर केवल प्रतिष्ठा या इज़्ज़त चाहता है—हुकूमत और दौलतकी तरफ़ नज़र नहीं उठाता—तब वर्ण-व्यवस्था होती है। जब वह इज़्ज़त, हुकूमत और दौलत तीनोंको पाना चाहता है तब वर्ण-संकरता। यही नियम क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र पर लागू है। प्रवृत्तियोंका विभाग हो जानेपर उसे क्रिया-त्मक रूप देना राज्यका काम है। राज्यको यह देखना चाहिये कि ब्राह्मण तथा क्षत्रिय प्रवृत्तियोंके व्यक्ति, जो समाजकी सेवामें निष्काम तथा परार्थ-वृत्तिसे दिन-रात लगे हैं, भूखे तो नहीं मरते, उनकी भौतिक आवश्यकताएँ तो पूर्ण होती हैं, उन्हें

उचित प्रतिष्ठा तथा सम्मान मिलता है। इस प्रकार व्यक्ति-रूपसे जब सब लोग अपनी प्रवृत्तियोंको नियमित रखेंगे, समष्टि-रूपसे राज्य उनके नियमनमें सहायक होगा, तब वर्ण-व्यवस्थाका सिद्धान्त क्रियात्मक रूप धारण करेगा। जो व्यक्ति जिस कार्य के योग्य हो, जिस कार्यको कर सकनेकी ओर उसकी प्रवृत्ति हो, उसके लिये वैसी वृत्ति देना, आजीविकाका वैसा साधन उत्पन्न कर देना राज्यका कर्त्तव्य है, और राज्यसे वैसी वृत्ति की आशा रखना प्रत्येक व्यक्तिका अधिकार है। प्रवृत्तियों तथा वृत्तियोंमें समता रखनेकी जिम्मेदारी राज्यपर है। ब्राह्मणकी आंख हुकूमत और दौलतपर न हो, ऐसे काम पर ही हो जिससे उसे मान-प्रतिष्ठा-इज्ज़त मिल सकती है ; क्षत्रियकी आंख दौलत और इज्ज़तपर न हो, ऐसे ही कामपर हो जिससे उसके हाथमें शक्ति दी जा सके, वैश्यकी आंख इज्ज़त और हुकूमतपर न हो, ऐसे ही कामपर हो जिससे वह धनका संचय कर सके—हर व्यक्तिकी आकांक्षा, उसके दिलकी चाह इन तीनोंमेंसे एक वस्तु पानेकी हो, यह व्यवस्था रखना राज्यका काम है। डा० भगवानदासके शब्दोंमें जैसे राज्य यह व्यवस्था करता है कि एक पुरुष एक स्त्रीके साथ विवाह करे, अनेक स्त्रियोंके साथ नहीं, वैसे राज्यको इस बात की देख-भाल भी करनी चाहिये कि हर आदमी हर आकांक्षाको लेकर न बैठ जाय। ब्राह्मण-प्रवृत्तियोंका व्यक्ति बाज़ारमें तराजू लेकर बैठा हो, और वैश्य-प्रवृत्तियोंका व्यक्ति धर्मका ठेकेदार बना हुआ हो—ये वर्ण-संकरताकी निशानियां हैं, और यही अवस्था आज समाजमें अधिकतासे दीख पड़ती है। इन घटनाओंसे वर्ण-व्यवस्थाकी अक्रियात्मकता सिद्ध नहीं होती। इनसे यही सिद्ध होता है कि

समाजकी व्यवस्था टूट जानेसे वर्ण-संकरताकी अवस्था आ जाती है। वर्ण-संकरताकी अवस्था, वह अवस्था जिसमें समाजका विकास मनुष्यकी स्वाभाविक प्रवृत्तियोंके आधारपर नहीं हो रहा होता, किसी भी राज्यकी सबसे कड़ी आलोचना है, क्योंकि हर व्यक्तिको उसकी प्रवृत्तिके अनुसार वृत्ति देना राज्यका काम है।

पहले यह दर्शाया जा चुका है कि 'श्रम-विभाग' का सिद्धान्त केवल आर्थिक आधारोंपर आश्रित होनेके कारण समाजके चौमुखी-विकासमें सहायक सिद्ध नहीं हो सकता, परन्तु कइयोंकी यह सम्मति भी हो सकती है कि श्रम-विभागको संकुचित अर्थोंमें न लेकर विस्तृत अर्थोंमें लेना उचित है। उनके मतमें श्रममें केवल वैश्य नहीं, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र—सब आ जाते हैं। उनका कहना है कि चारों वर्ण भी चार श्रम हैं। श्रमका अर्थ आर्थिक-श्रम ही नहीं, प्रत्येक प्रकारका कार्य 'श्रम' है। ब्राह्मण और क्षत्रियके निःस्वार्थ, निष्काम-जीवनके श्रम हैं, वैश्य-शूद्रके स्वार्थ, सकाम-भावके श्रम हैं। अगर 'श्रम'-शब्दका इतना विस्तृत अर्थ लिया जाय तो हमें इसमें भी कोई आपत्ति नहीं। वर्ण-व्यवस्थाका तो यही तकाज़ा है कि त्याग भावको, निवृत्तिको, परार्थको, आत्म-तत्त्वको जीवनमें मुख्य स्थान मिलना चाहिये, स्वार्थ-भावको, प्रवृत्तिको, भोगको गौण। यदि यह भाव 'श्रम'-शब्दका प्रयोग करते हुए भी रह सकता है तो भले ही वर्ण-व्यवस्थाके लिये श्रम-विभाग का प्रयोग हो, परन्तु फिर भी वर्ण-व्यवस्था तथा श्रम-विभाग में इतना अन्तर तो रह ही जाता है कि श्रम-विभाग वह सिद्धान्त है जो बे-जाने-बूझे, स्वयं, समाजके अन्धे विकासमें, अपने-आप काम

कर रहा होता है, जिसका समाज-शास्त्री अध्ययन करते हैं, और वर्ण-व्यवस्था वह सिद्धान्त है जिसके अनुसार समझ-बूझ-कर, समाजको अपने हाथमें लेकर, आध्यात्मिक लक्ष्यको सम्मुख रखकर, समाजमें विकसित हो रहे नियमका अध्ययन नहीं अपितु उस नियमके अनुसार समाजको विकसित करनेका प्रयत्न किया जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि वर्तमान समाज-शास्त्र में श्रम-विभाग भी ऐसा सिद्धान्त बनता चला जा रहा है, जो मनुष्यके काबूमें आ रहा है, और स्वयं अपनी अन्धी दौड़ नहीं दौड़ रहा। परन्तु पश्चिमके समाजने जहांसे पहले-पहल इसे पकड़ा है वहां इसका संकुचित आर्थिक अभिप्राय (Economic consideration) ही लिया है, और इसे हाथमें लेकर समाज का विकास करनेके स्थानमें देरतक इस सिद्धान्तका अध्ययन भर किया है और, यदि अब धीरे-धीरे मनुष्य के सम्पूर्ण विकास को श्रम-विभागके अन्तर्गत किया जा रहा है और इस सिद्धान्त को आधार बनाकर समाजकी रचना की जा रही है, होने ही नहीं दी जा रही, तो समझ लेना चाहिये कि पश्चिम इतनी देर के बाद अब भारतके वर्ण-व्यवस्थाके आदर्शको छूनेकी तय्यारी भर कर रहा है। अगर श्रम-विभागके ये विस्तृत अर्थ मानें तो दोनों सिद्धान्तोंसे परिणाम भी लगभग एक-से निक-लते हैं। श्रम-विभागके सिद्धान्तसे भी समाजके, वर्ण-व्यवस्थाकी तरहके ही, चार विभाग हो जाते हैं। इस समय युरोप में भी क्लर्जी, सोल्जर, मर्चेंट तथा लेबरर—ये चार विभाग ही हैं, और सर्वदा-सर्वत्र, सब देश-कालमें मनुष्य-समाजके यही चार भेद स्वाभाविकतया हो सकते हैं। नाम भले ही कुछ हों, ये तो उन प्रवृत्तियोंके विभाग हैं जो सब जगह एक-सी हैं। श्रम-विभाग

के इन स्वाभाविक भेदोंको वर्ण-व्यवस्थाने सिर्फ़ नियमित कर दिया है, और इस विभागके अपने-आप हो जाने में इसके सिर्फ़ आर्थिक बन जानेकी जो प्रवृत्ति है उसे हटा दिया है। वर्ण-व्यवस्थाके विचारसे मिलता-जुलता ही विचार ग्रीस के प्रसिद्ध दार्शनिक प्लेटोका था। उसने अपनी पुस्तक 'रिपब्लिक' में लिखा है—

प्लेटो का सामाजिक-विभाग वर्ण-व्यवस्था ही था—

"समाजके मुखिया 'गार्डियन', अर्थात् 'रक्षक' कहायेंगे। उनका जीवन इस प्रकारका हो कि जहांतक संभव हो कोई निजी सम्पत्ति न बना सकें। उनके घरमें किसीका प्रवेश निषिद्ध न हो, उनका भंडार सबके लिये खुला हो। संयमी तथा उत्साही लोगों को जो युद्ध करनेमें दक्ष हों, जिस चीज़ की ज़रूरत हो वह उन्हें निश्चितरूपमें समाजकी तरफ़से मिला करे, क्योंकि वे समाज की सेवा करते हैं। उन्हें जो-कुछ मिले, वह न ज़्यादा हो, न कम हो। वे एक ही भोजनालयमें भोजन करें, और ऐसे रहें जैसे कैम्पमें रहा करते हैं। उन्हें मालूम होना चाहिये कि उनके हृदयोंमें परमात्माने दैवीय धन रखा है इसलिये उन्हें सोने-चांदीकी आवश्यकता नहीं। पार्थिव-सम्पत्ति उनके आत्मिक धनको अपवित्र बनायेगी क्योंकि संसारमें सिक्केने ही असंख्य उपद्रव खड़े किये हैं। उनके लिये सोने-चांदीको छूना पाप है, जिस मकानमें ये चीज़ें हों उसमें जाना पाप है, इनके आभूषण पहनना और इन धातुओं के बर्तनों में पानी पीना पाप है। यदि वे इन नियमों का पालन करते रहेंगे, तो वे अपनी तथा अपने समाजकी रक्षा कर सकेंगे। जब वे सम्पत्ति जोड़ लेंगे,

जब उनके पास ज़मीन, घर तथा रुपया हो जायगा, तो वे 'गार्डियन' या रक्षक होनेके स्थानपर घर-बारवाले व्यापारी हो जायेंगे, और अपने समाज के सहायक होने की जगह उसे दबानेवाले स्वामी वन जायेंगे। उनका जीवन घृणा करने तथा घृणा किये जानेमें, षड्यन्त्र करने तथा षड्यन्त्रोंका शिकार बनने में बीत जायगा, समाज नष्ट हो जायगा। 'गार्डियन्स' के लिये इसी प्रकारका राज्य-नियम होना चाहिये।"

प्लेटो ने समाज के वही विभाग किये हैं जो वर्ण-व्यवस्था में पाये जाते हैं। उसके विभाग हैं—'गार्डियन्स' या 'फ़िलासोफ़र्स,' 'सोल्जर्स' तथा 'आर्टिजन्स'। जिस प्रकार वर्ण-व्यवस्थाके समाज-शास्त्रीय सिद्धान्त का आधार मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियां है, उसी प्रकार प्लेटोने भी अपने विभाग का आधार मनोविज्ञान ही रखा है। 'रिपब्लिक' की चतुर्थ पुस्तकमें लिखा है—

"क्या आत्माकी तीन प्रकारकी प्रकृतियां होती हैं? क्यों नहीं, यदि समाजके तीन प्रकारके विभाग हैं, तो ये ज़रूर आत्मा की प्रकृतिके विभाग होंगे, क्योंकि समाजमें ये तीन गुण व्यक्तियों के गुणोंसे ही आते हैं।"

भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियोंवाले व्यक्तियोंका उल्टी वृत्तियोंमें पड़ जाना वर्ण-संकरता है, और इसी अवस्थाको प्लेटोने सामाजिक-अव्यवस्था कहा है। उसका कथन है कि इस अव्यवस्था को दूर करना राज्यका कार्य है। 'रिपब्लिक' की चतुर्थ पुस्तक में लिखा है—

"जब ऐसा व्यक्ति जो प्रकृति के अनुसार 'आर्टिज़न' अर्थात् वैश्य-प्रवृत्तिका है, धनके घमंडमें आकर 'वारियर' अर्थात्

क्षत्रिय-श्रेणीमें प्रविष्ट होना चाहता है, जब 'वारियर' अपनेसे ऊँची श्रेणी के योग्य न होता हुआ 'सीनेटर' या 'गार्डियन' अर्थात् ब्राह्मण-श्रेणीमें आना चाहता है, जब एक ही व्यक्ति सबके काम करना चाहता है, तब समाजमें दुर्व्यवस्था फैल जाती है। किसी भी राज्य में सुशासन होने के लिये आवश्यक है कि भिन्न-भिन्न व्यक्तियोंको अपने-अपने धर्ममें ही लगाया जाय, और अव्यवस्था न होने दी जाय।"

वर्ण-व्यवस्थाके रूपमें वैदिक-संस्कृति ने समाजके आध्यात्मिक-दिशाकी तरफ़ विकसित होनेके एक महान् सिद्धान्तका आविष्कार किया था। हम इस सिद्धान्त को किस हद तक क्रियामें परिणत कर सकते हैं—इसका निर्णय उस वर्ण-व्यवस्था को देखकर करना न्याय-संगत नहीं जो आजकल हमारे समाज में प्रचलित है। यह वर्ण-व्यवस्था नहीं, वर्ण-व्यवस्था का कुत्सित रूप है, यह वह भव्य-भवन नहीं जिसका वैदिक-संस्कृतिने निर्माण किया था, यह उस भवनका खंडहर है। हमें नामों से किसी प्रकारका आग्रह नहीं, ये नाम रखे जायं, कोई दूसरे नाम रख लिये जायं, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि वर्ण-व्यवस्थाके आधार में आर्य-संस्कृतिके जो सजीव तत्त्व काम कर रहे हैं वे ही मानव-समाजकी समस्याओंका यथार्थ और अन्तिम हल हैं।

आर्थिक-समस्या के प्रति वैदिक-संस्कृति का दृष्टिकोण

पैसे का सामाजिक-रोग—

आज हमारे चारों तरफ़ का संसार एक भयंकर रोग से आक्रान्त है। शारीरिक आधि-व्याधि तो शरीरको पकड़ती है—इसके शरीर को, उसके शरीर को। इसका परिणाम यह होता है कि शारीरिक रोग किसी को होता है, किसी को नहीं होता। गठिया है, मलेरिया है, टायफ़ायड है। कोई इन रोगों से पीड़ित होता है, कोई नहीं भी होता। कभी-कभी ये बीमारियां भी संचारी रूप धारण कर लेती हैं, वैयक्तिक से सामाजिक बन जाती हैं। तब ये ऐपीडेमिक हो जाती हैं। परन्तु इस युग की विशेषता यह है कि इस युग ने इन सब शारीरिक रोगों पर, चाहे ये व्यक्ति तक सीमित हों चाहे ये ऐपीडेमिक हो गई हों, विजय प्राप्त कर लिया है। अब ये रोग मनुष्य को उतना नहीं सताते जितना पहले कभी सताते थे। परन्तु इस युग में एक नया रोग उत्पन्न हो गया है, ऐसा रोग जो बाल-वृद्ध, स्त्री-पुरुष, धनी-निर्धन प्रत्येक व्यक्ति पर आक्रमण किये हुए है। यह रोग वैयक्तिक न हो कर सामाजिक रोग है, समाज के हर व्यक्ति पर इसका पंजा गड़ा हुआ है, कोई व्यक्ति इस रोग से अछूता नहीं है। अन्य प्रकार के रोगों का तो यह युग इलाज ढूंढ़

रहा है, इस इलाज ढूंढ़नेमें इसे सफलता भी मिली है, परन्तु इस रोगको दूर करनेमें इतना ही नहीं कि इस युगको सफलता नहीं मिली, जितना-जितना यह युग उन्नति करता जाता है, उतना-उतना यह रोग बढ़ता जाता है, इसलिये बढ़ता जाता है क्योंकि यह रोग इस युगकी अपनी ही विशेष उपज है। एक बच्चा सिनेमाका एक गीत गा रहा था—'चांदीके चन्द टुकड़ोंके लिये अरमानोंको बेचा जाता है, इन्सानोंको बेचा जाता है।' इसमें कोई सन्देह नहीं कि हमारे समाजमें ऐसा ही है। अगर ऐसा है तो यह एक प्रकारका सामाजिक रोग नहीं तो क्या है ?

पूछने वाले पूछेंगे कि यह रोग क्या है, यह सामाजिक रोग, ऐसा रोग जो किसी एक व्यक्तिका रोग नहीं, सारे समाजका रोग है, समाजके एक-एक व्यक्तिका, एक-एक स्त्री-पुरुषका, बाल-वृद्धका रोग है। इस रोगका नाम है—'पैसेका रोग', 'पैसेकी लालसाका रोग'। आज हर व्यक्ति पैसेके लिये पागल हुआ फिरता है। प्रातःकाल आप सैरके लिये निकल जाइये। शहर और गांवको मिलानेवाली सीमामें आपको सैकड़ों साइकल-सवार मिल जायेंगे। ऐसे समय जब दुनियाँदारी से हटकर हमें भगवान्के भजनमें लगे होना चाहिये, पौ फूटने के समय, ऐसे समय जब मनुष्यपर कोई चिन्ता सवार नहीं होनी चाहिये, ये सब साइकल-सवार गांवसे शहर भागे चले आ रहे हैं, साइकलों पर इन्होंने दूधके डब्बे टांग रखे हैं, ये गांववाले शहरमें दूध बेचनेके लिये सुबह तीन बजेसे ही उठकर अपने घरोंसे चल देते हैं। इनके सामने जीवनका एकही प्रश्न है, एक ही समस्या है, और वह समस्या यह है कि किस तरह पैसा

कमाया जाय। पैसा कमानेके लिये ही ये दूधमें पानी मिलाते हैं, पैसा कमानेके लिये ही ये ऐसे समय जब इन्हें गाढ़ी नींद में सोना चाहिए था साइकलोंपर चढ़कर शहरोंको भागते हैं। प्रातःकालसे जो सिलसिला शुरू होता है वह हम-आप सबके जीवनमें राततक ठीक इसी तरहसे चला करता है, यह चक्र दिनमें एक मिनटको भी नहीं टूटता।

आप किसी गांवमें चले जायें, किसी शहरमें चले जायें, सब जगह, हर गांवमें, हर शहरमें जो-कुछ हो रहा है सबका उद्देश्य एक ही है, यह उद्देश्य कि किस तरह पैसा कमाया जाय, किस तरह उसे बटोरा जाय। पूछा जा सकता है कि पैसा कमाने और उसे जमा करनेको हम रोग क्यों कहते हैं। हम इसे रोग ही नहीं, सामाजिक रोग कह सकते हैं क्योंकि आजके समाजकी हमारी जितनी बेचैनी है वह इसी रोगसे पैदा हो रही है।

हम कहते हैं कि आज चारों तरफ़ भ्रष्टाचार फैला हुआ है, रिश्वतका बाज़ार गरम है, बिना पैसा दिये कोई काम नहीं होता। यह सब क्यों है? क्यों भ्रष्टाचार फैला हुआ है, क्यों एक लाला आटेमें बुरादा मिलाकर बेचता है, क्यों दूधमें स्याहीचूस मिलाकर उसे मलाई कहकर ग्राहकको देता है? आप किसी दफ्तरमें जाते हैं। आपका कोई काम नहीं होता जबतक आप बाबूको पैसा नहीं दिखाते। कचहरीमें आप न्यायके लिये जाते हैं, परन्तु वहां पर भी कदम-कदम पर आपको पैसा दिखाना पड़ता है। आप कितनी ही न्यायकी दुहाई दें, अगर आपके पास पैसा खर्च करनेको, बहानेको नहीं है, तो आपके लिये न्याय पाना भी आसान नहीं है। आप मुकदमें में हार जाते हैं, परन्तु आप हार इसलिये जाते हैं क्योंकि

कि सच को सच सिद्ध करनेके लिये आप पैसा नहीं ख़र्च कर सकते। आप निरा भूठा मुकदमा लेकर चले हैं, परन्तु क्योंकि आप भूठको सच साबित करनेके लिये अच्छे-से-अच्छा वकील कर सकते हैं, आप जीत जाते हैं, इसलिये जीत जाते हैं क्योंकि भूठको सच सिद्ध करनेके लिये आप पैसा पानीकी तरह बहा सकते हैं। डाक्टरका काम रोगीको चंगा करना है, परन्तु आज इस बातकी कोई पर्वा नहीं करता। डाक्टरने अपने ग़लत इलाजसे रोगीको मौतके घाट ही क्यों न उतार दिया हो, परन्तु क्योंकि उसने इलाज किया है इसलिये वह पैसा लेकर रहेगा। आज हमारे समाजमें जितनी समस्याएँ हैं वे पैसेके कारण पैदा हो रही हैं। हममेंसे प्रत्येक व्यक्तिका उद्देश्य जिस-किसी तरह भी हो पैसा कमाना हो गया है। जिस-किसी तरहसे ही पैसा कमानेको भ्रष्टाचार, रिश्वत, बेइमानी, चोरी, दग़ा—यह सब कहा जाता है। हम एक अजीब चक्करमें पड़ गये हैं। भ्रष्टाचार, रिश्वत, बेइमानीको हम बुरा भी कहते हैं, इन्हें दूर भी करना चाहते हैं, परन्तु जिस रास्तेपर हम चल रहे हैं उसपर चलते हुए इन्हें दूर भी नहीं कर सकते। हम चल रहे हैं पैसा कमानेके रास्तेपर, पैंसा कमाने तक ही हम रह जाते तो बस था, हम पैसा कमाते-कमाते पैसा जोड़ने-के रास्तेपर चल पड़ते हैं। इस रास्तेपर चलनेके लिये भ्रष्टा-चार, रिश्वत, बेइमानी, धोखा करना ही पड़ता है, फिर अगर हमें पैसा जोड़ना ही है तो शिकायत किस बात की?

परन्तु शिकायत है, चारों तरफ़से शिकायत है। जो लोग स्वयं भ्रष्टाचारी हैं, स्वयं रिश्वत लेते हैं, घूंसखोर हैं, वे भी शिकायत करते हैं क्योंकि उनके काम भी बिना घूस और रिश्वत दिये

नहीं बन पाते। यह किसी एक व्यक्तिकी शिकायत नहीं है, हर व्यक्तिकी शिकायत है, यह एक सामाजिक शिकायत है; यह किसी एक व्यक्तिका रोग नहीं, सारे समाजका रोग है। इस रोगका इलाज कोई-न-कोई ढूंढ़ना होगा।

पैसेकी क्रय-शक्ति बढ़नेसे यह सामाजिक रोग पैदा हुआ है—

प्रश्न यह है कि यह पैसेका रोग हमारे समाजमें पैदा क्यों हुआ, और कैसे पैदा हुआ? पैसेका यह सामाजिक-रोग इसलिये पैदा हुआ क्योंकि आजके युगमें सारी शक्ति पैसेमें केन्द्रित हो गई है। पैसेसे इस युगमें हम चाहे जो-कुछ ख़रीद सकते हैं। पैसा शक्तिशाली हो गया है। पैसा भौतिक-साधन है, और होना यह चाहिये था कि संसारकी भौतिक आवश्यकताएँ, भौतिक वस्तुएँ पैसेसे खरीदी जातीं। परन्तु ऐसा नहीं है। पैसेसे भौतिक-अभौतिक सब-कुछ ख़रीदा जा सकता है। आज सभी पैसेके गुलाम हो गये हैं। पैसेकी क्रय-शक्ति इतनी बढ़ गई है कि लोग अपना देश बेच देते हैं, अपना दिमाग़ बेच देते हैं, पैसे से मनुष्य अपनेको बेच देता है। संसारके बड़े-बड़े संगठन पैसे वालोंके हाथमें हैं। पैसा इतना शक्तिशाली हो गया है कि पैसे-वाला जो-कुछ चाहे कर सकता है। आप कत्ल करके पैसेके ज़ोरपर बरी हो सकते हैं, लूट मचाकर पैसेके ज़ोरपर छूट सकते हैं, संसारमें उत्पात मचाकर पैसेके ज़ोरपर शान्तिके अग्रदूत कहला सकते हैं। जब पैसेमें इतनी शक्ति है तब पैसेका रोग छूतके रोगकी तरह क्यों न फैले और प्रत्येक व्यक्ति पैसेको पाने के लिये सब-कुछ क्यों न करे। क्यों वह रिश्वत न ले, क्यों

घूस न ले, क्यों बेइमानी और दग़ा न करे। जिस किसी साधनसे भी पैसा पैदा हो सकता है वे सब साधन आज उग्ररूपमें, पूर्ण वेगसे चल रहे हैं, इसलिये चल रहे हैं क्योंकि पैसेकी क्रय-शक्ति चरम सीमा तक पहुँची हुई है।

पैसेमें क्रय-शक्ति कैसे पैदा हुई ? कोई समय था जब पैसे का अस्तित्व नहीं था। दुनियाँका सब कारोबार बिना पैसेके चलता था। लोग खेती करते थे। कोई गेहूं पैदा करता था, कोई कपास, कोई धान। जो-कुछ पैदा होता था उसमेंसे कुछ खा-पी लेते थे, जो बच जाता था उसे दूसरेसे बदल लेते थे। गेहूंवाला चावल-कपासवालेको अपना गेहूं देकर चावल-कपास ले लेता था, चावल-कपास वाला अपनी जिन्स देकर जो उसके पास नहीं होता था उसे ले लेता था। मेहनत-मज़दूरी करनेवालेको मेहनताना जिन्सके रूपमें दे दिया जाता था। उस समय पैसा नहीं था। लोगोंकी थोड़ी आवश्यकताएँ थीं, उन आवश्यकताओं के अनुसार थोड़ा-बहुत पैदा करके सबका काम चल जाता था। उस समय न रिश्वत थी, न घूसखोरी थी, न बेइमानी थी, न दग़ा-फ़रेब था। समय आया जब मनुष्यने सोचना शुरू किया कि सिर्फ़ अदला-बदलीसे, वस्तुओंके विनिमयसे काम नहीं चलेगा। गेहूं-चावल-कपासको मनुष्य कितना संभालकर रख सकता था। ये सब चीज़ें मनुष्यकी तात्कालिक, उसकी वर्तमान आवश्यकताओंको पूरा कर सकती थीं, परन्तु बुढ़ापेमें जब वह हाथ-पैर चला नहीं सकता था तब तक इन्हें संभालकर तो नहीं रख सकता था। कोई ऐसा माध्यम होना चाहिये था जिसे मनुष्य देर तक संभालकर रख सके, जो वर्ष-दो वर्ष नहीं बीसियों साल चल सके, जिसे वह जेबमें रखकर देश-विदेश जा सके, और

जब चाहे, जिस वस्तुमें चाहे, उसे वदल सके। गेहुंओंके ढेरको मनुष्य दूसरी जगह आसानीसे नहीं ले जा सकता था, परन्तु पैसेको जहां कहीं चाहता ले जा सकता था, और जब चाहता उसे गेहूं में ही नहीं, जिस किसी चीज़में चाहता वदल सकता था। जिस दिन मनुष्यने पैसेकी ईजाद की, सिक्केका आविष्कार किया, उस दिन मनुष्यने समाजकी एक बड़ी भारी समस्याका हल कर दिया, परन्तु उसी दिन मनुष्यकी उन सब समस्याओं का सूत्रपात हुआ जिन्हें आज सारा संसार हल करनेमें जुटा हुआ है। सिक्केके आविष्कारसे क्या हुआ ? सिक्केमें एक ताकत पैदा हो गई। ऐसी ताकत जिससे हम जब चाहें सिक्के-को जिस-किसी वस्तुमें बदल सकें। सिक्केको हम आसानीसे जेबमें डालकर देश-विदेशमें जा सकते थे, इससे हर किसी वस्तुको खरीद सकते थे। मनुष्यने इस दिशामें और अधिक तरक्की करनी शुरू की। सिक्केके बाद नोटका आविष्कार हुआ, हुण्डियां चलने लगीं। अब मनुष्य बिना सिक्केके, सिर्फ़ नोटोंके ज़रिये, बैंकोंकी सहायतासे सब-कुछ करने लगा। इस सारी प्रक्रियामें पैसेकी क्रय-शक्ति बढ़ती गई। बढ़ते-बढ़ते आज वह युग आ गया है जब पैसेसे सब-कुछ ख़रीदा जा सकता है। पैसेसे हम दुनियाँके ऐशो-आराम ख़रीद सकते हैं, पैसेसे हम इन्सानको ख़रीद सकते हैं, पैसेसे हम सचको झूठ और झूठको सच, न्यायको अन्याय और अन्यायको न्याय बना सकते हैं। क्योंकि पैसेकी क्रय-शक्ति इतनी बढ़ गई है इसलिये दुनियाँका हर आदमी, उचित-अनुचित सब साधनोंसे पैसा जुटानेमें लग गया है। मनुष्यके सामने कोई लक्ष्य नहीं रहा, कोई ऊँचा लक्ष्य।

उसके सामने सिर्फ़ एक लक्ष्य रह गया है, यह लक्ष्य कि किस उपायसे वह पैसा बटोर सकता है।

इसका नतीजा यह हुआ है कि प्रत्येक देशमें मानव-समाज दो भागोंमें बंट गया है। कुछ लोग पैसेवाले, कुछ बे-पैसेवाले हैं, कुछ अमीर हैं, कुछ ग़रीब हैं। पैसेकी समस्या अमीरी-ग़रीबीका रूप धारण कर गई है, संसार दो भागोंमें बंटकर खड़ा होगया है।

कम्यूनिज़मने पैसेकी क्रय-शक्तिको कम करनेका प्रयत्न किया है—

अमीर-ग़रीबके भेदको कैसे मिटाया जाय? इसका एक हल रूस तथा चीनने निकाला है। वहां वैयक्तिक सम्पत्तिके विचारको नष्ट किया जा रहा है। सब सम्पत्ति समाजकी है, जितना रुपया-पैसा है वह सब किसी व्यक्तिका नहीं। पैसेकी क्रय-शक्तिको कम करनेका यह भी एक ढंग है। इस ढंगपर यूरोपके अनेक देश चल रहे हैं। कम्यूनिज़मका उद्देश्य पैसेकी क्रय-शक्तिको कम करना है। जब किसीके पास वैयक्तिक रूप-से पैसा नहीं रहेगा, जब सबको अपनी आवश्यकताके अनुसार खाने-पीने-पहनने-रहनेकी हर वस्तु मिल जायगी, जब समाज प्रत्येक मनुष्यकी आवश्यकताको पूरा करने लगेगा, तब किसी व्यक्तिको पैसेका संग्रह करनेकी आवश्यकता नहीं रहेगी।

कम्यूनिज़म वैयक्तिक स्वतंत्रताका अपहरण कर लेता है—

रूस तथा चीन जैसे देशोंमें कम्यूनिज़म चल रहा है इसलिये इस महान् परीक्षणको उपहासकी दृष्टिसे नहीं देखा जा सकता।

रूसमें इस परीक्षणको काफ़ी वर्ष बीत गये इसलिये इसे एक सफल परीक्षण भी कहा जा सकता है, परन्तु इसमें भी सन्देह नहीं कि इस परीक्षणके प्रति संसारमें प्रतिक्रिया भी बड़ी ज़बर्दस्त है। तभी तो आज संसार दो भागोंमें विभक्त है। एक तरफ़ अमरीका है, दूसरी तरफ़ रूस है। अमरीकाका कहना है कि कम्यूनिस्ट विचार-धाराके अनुसार वैयक्तिक स्वतंत्रताका कोई अस्तित्व ही नहीं रहता, व्यक्ति समाजके लिये भाड़ेका एक टट्टू हो जाता है। कोई समय था जब राजा-महाराजा राज करते थे। वे अपनी मौज-बहारके लिये व्यक्ति की हर स्वतन्त्रताका अपहरण करते थे। व्यक्तिने अपनी स्वतन्त्रताको प्राप्त करनेके लिये लड़ाई शुरू की। व्यक्तिने अपना पसीना बहाया, खून वहाया, आज़ादीकी इस लड़ाईमें अपनेको मिटा दिया। यह सब क्या उसने इसलिये किया कि वह अपने स्वतंत्र व्यक्तित्वको मिटा दे। कम्यूनिज़्ममें व्यक्तिको मिटा दिया जाता है, उसकी स्वतंत्रताका बिल्कुल अपहरण कर दिया जाता है, जो-कोई सत्ताधारी शक्तिके विरुद्ध सोचे उसे सोचने भी नहीं दिया जाता। कम्यूनिज़्ममें धनी-निर्धन की समस्याका तो हल हो जाता है, परन्तु वहां यह काम डंडेके ज़ोरसे होता है, जीवनके हर क्षेत्रमें इतना डंडा बरसता है कि व्यक्तिका व्यक्तित्व ही नष्ट हो जाता है, पहले वह राजा-महाराजाओंका दास था, अब वह एक राजनीतिक-दलका दास बन जाता है।

कम्यूनिज़्म की एक अच्छाई है, एक बुराई है। अच्छाई तो यह है कि वहां धन की क्रय-शक्ति घटा दी जाती है, धन के कारण उत्पन्न होनेवाले अनर्थ समाप्त कर दिये जाते हैं, वहां बनिये जैसा कोई वर्ग जो जीवन का लक्ष्य सिर्फ़ पैसा पैदा

करना बना ले नहीं रहता, परन्तु इस अच्छाईके साथ वहां बुराई यह है कि कम्यूनिज़्म में वैयक्तिक स्वतंत्रता नष्ट हो जाती है। जिस स्वतन्त्रताको पानेके लिये व्यक्तिने शताब्दियों से संघर्ष किया, वह स्वतन्त्रता अगर उसके हाथसे निकल जाय, तो इस सारे संघर्ष का क्या परिणाम हुआ? वहां व्यक्ति राजनीतिक दल रूपी मशीनका एक पुर्ज़ा मात्र रह जाता है, उसकी स्वतंत्र-सत्ता नष्ट हो जाती है, वह अपने-आपमें कुछ नहीं रहता।

अगर कम्यूनिज़्म आजकी सामाजिक-समस्या का सन्तोषजनक हल नहीं है, तो दूसरा हल क्या है? जैसा हम पिछले अध्याय में कह आये हैं, इस समस्या पर वैदिक ऋषियों ने भी सोचा-विचारा था, उन्होंने भी इस समस्या का हल ढूंढ़ा था। उनका हल क्या था?

पैसे की क्रय-शक्ति को कम करने का वैदिक-ऋषियों का प्रयत्न—

वैदिक सामाजिक-व्यवस्थाके प्रवर्तक इस बातको तो स्वीकार करते थे कि पैसा, सिक्का सामाजिक व्यवहारके लिये आवश्यक है। उन्नत समाजमें वस्तु-विनिमयसे काम-काज नहीं चल सकता, परन्तु पैसेके महत्वको स्वीकार करते हुए उन्होंने सामाजिक-संगठन को, सामाजिक-व्यवस्था को ऐसा रूप दे दिया था जिससे सामाजिक व्यवहारके लिये पैसा तो बना रहता था, परन्तु पैसेसे होनेवाले अनर्थ हट जाते थे। वर्ण-व्यवस्था की रचनामें मुख्य आधार यही था। वर्ण-व्यवस्थाके कई पहलू हैं, परन्तु इस व्यवस्थाका सबसे मुख्य पहलू आर्थिक था। वर्ण-व्यवस्था द्वारा वैदिक ऋषियोंने मनुष्यको पैसा पैदा करनेकी

पूरी स्वतन्त्रता दी थी, परन्तु इस व्यवस्थाका यह परिणाम था कि पैसा तो बना रहता था परन्तु उसका महत्व घट जाता था, पैसेकी क्रय-शक्ति बढ़ने नहीं पाती थी। पैसेकी क्रय-शक्ति बनाये रखते हुए यह पैसेका सामाजिक-अवमूल्यन (Social devaluation) था।

वर्ण-व्यवस्था उस सामाजिक-रचनाका नाम था जिसमें पैसा पैदा करनेवालेको समाजमें पहला दर्जा नहीं दिया गया था, दूसरा दर्जा भी नहीं दिया गया था। दुनियाँमें पदके लिहाज़ से तीन दर्जे माने जाते हैं। भारतीय-संस्कृतिकी वैदिक सामाजिक-व्यवस्थामें पैसा पैदा करनेवालेको तीसरा दर्जा दिया गया था। आज सब-कोई पैसा पैदा करनेमें क्यों लगे हुए हैं ?

सब लोग पैसा पैदा करनेमें इसलिये लगे हुए हैं क्योंकि पैसेवालेको समाजमें तीसरा दर्जा नहीं, पहला दर्जा मिला हुआ है। वर्ण-व्यवस्थामें पैसेका त्याग करने वालेको, अपनी इच्छासे निर्धनताका जीवन व्यतीत करनेवालेको समाजमें सबसे ऊँचा दर्जा दिया गया था।

संसारमें तीन तरहके व्यक्ति हो सकते हैं। वे जो पैसा पैदा ही नहीं कर सकते, वे जो पैसा पैदा कर सकते हैं परन्तु इधर नहीं जाते, वे जो पैसा पैदा करके उसे जोड़कर रखते हैं। जो पैसा पैदा ही नहीं कर सकते वे तो निकम्मे हैं, उनका समाजमें कोई स्थान नहीं, परन्तु जो पैसा पैदा कर सकते हैं परन्तु उस दिशामें न जाकर समाजकी सेवामें जीवन बिता देते हैं उनका स्थान वर्ण-व्यवस्थामें सबसे ऊंचा रखा गया था। उन्हें ब्राह्मण कहा जाता था, क्षत्रिय कहा जाता था। पैसा कमानेकी छूट थी, परन्तु जो व्यक्ति अपने जीवन

को पैसा कमानेमें ही लगाना चाहता था उसे समाजमें ऊंचा स्थान नहीं दिया जाता था। वह अगर समाजमें ऊंचा स्थान प्राप्त करना चाहता था तो उसे पैसेका त्याग करना पड़ता था।

भारतकी सामाजिक-व्यवस्थामें पैसा जोड़नेकी जगह पैसा छोड़नेका महत्त्व था। सारे समाजको चार आश्रमोंमें बांटा गया था—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास। इनमें ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ तथा संन्यास—ये तीनों पैसा छोड़नेके आश्रम थे। सिर्फ़ गृहस्थी पैसा कमाता था। गृहस्थी भी ब्राह्मण हो सकता था, क्षत्रिय हो सकता था, वैश्य या शूद्र हो सकता था। इन चारोंमें भी सिर्फ़ वैश्य कमाता था। वैश्यके लिये भी व्यवस्था यह थी कि जैसे सारा भोजन पेटमें चला जाता है, पेट उसे अपने पास न रखकर फिर सारे शरीरमें रक्तके रूपमें लौटा देता है, इसी प्रकार वैश्य अपनी धन-सम्पत्ति समाजकी सेवामें लगा देता था।

वैश्य अपनी धन-सम्पत्ति समाजकी सेवामें क्यों लगा देता था—यह प्रश्न हो सकता है। इसका उत्तर यह है कि हम समाजका जैसा वातावरण वना देंगे, मनुष्य स्वयं उसके अनुसार चलने लगता है। मनुष्यका स्वभाव ही ऐसा है। अगर समाज में हर-कोई सब-कुछ हड़पने लगे, तो सभी ऐसा करने लगेंगे, अगर समाजका चलन इससे उल्टा बना दिया जाय, तो सब लोग अपनी जोड़ी हुई सम्पत्तिका त्याग भी करने लगेंगे। वैदिक-संस्कृतिका निर्माण करनेवालोंने कुछ ऐसा चलन बना दिया था, ऐसी प्रथा डाल दी थी जिससे पैसा जोड़नेवाले भी एक समयमें आकर पैसा छोड़ने लगते थे। इसीका नाम तो वर्ण-व्यवस्था था।

पैसेका त्याग करना यहांकी संस्कृतिका अंग था। आज हम अर्थ-प्रधान हो गये हैं। अनेक दार्शनिक ऐसे पैदा हो गये हैं जो कहते हैं कि मनुष्य आर्थिक प्राणी है। अंग्रेज़ीमें इसे ('Economic man') का सिद्धान्त कहा जाता है। मनुष्य जो-कुछ करता है आर्थिक दृष्टिकोणसे करता है। आजके जगत् का यही दृष्टिकोण हैं। भारतीय संस्कृतिका यह दृष्टिकोण नहीं था। भारतीय संस्कृतिका यह दृष्टिकोण नहीं था—इसे सिद्ध करनेकी ज़रूरत नहीं, इतिहास इसका साक्षी है। चन्द्रगुप्त मौर्य कितना प्रतापी राजा हुआ। वृद्धावस्थामें वह अपना राज-पाट अपने पुत्र बिन्दुसारके सुपुर्द कर स्वयं तपस्वी हो गया। राजतक अपने-आप छोड़ देनेकी यहां प्रथा थी। रघुवंशमें रघु-कुलके राजाओंके विषयमें लिखा है कि वृद्धावस्थामें वे मुनि हो जाते थे—'वार्धक्ये मुनि वृत्तीनाम्'। वानप्रस्थ तथा संन्यास यहांकी आम प्रथा थी। लोग स्वयं धन-धान्यको, घर-बारको, सम्पत्तिको छोड़कर उससे अलग हो जाते थे। आज अपने देश में वानप्रस्थकी प्रथा नहीं रही, परन्तु समय था जब इस देशका प्रत्येक व्यक्ति अपना सब-कुछ स्वयं होम देता था।

अपने सर्वस्वको होम देनेकी प्रथा आज भी कई जातियोंमें पायी जाती है। इसे वे लोग 'पोचलैक' कहते हैं। अमरीकामें कई ऐसी जंगली जातियां हैं जिनमें व्यक्ति सारी आयु संपत्ति का संचय करता है, और जब उसके पास दुनियांभरकी धन-दौलत जुड़ जाती है, तब उसे समुद्रमें फेंक देता है। कई ऐसी जातियां हैं जिनमें बड़ाई ही इस बातमें समझी जाती है कि व्यक्ति अपनी प्रिय-से-प्रिय, बहुमूल्य-से-बहुमूल्य वस्तुको अपने प्रतिद्वन्द्वीको भेंट कर देता है। वे जंगली जातियां हैं, इसलिये

उनके तरीके भी कुछ जंगली-से हैं, परन्तु इससे इतना तो सिद्ध होता ही है कि मनुष्य चाहे तो अपने 'सामाजिक-मूल्य' (Social values) वदल सकता है। हमारे 'सामाजिक-मूल्य' क्या हैं? डाक्टर कहता है पैसा दो तो इलाज करूँगा, वकील कहता है पैसा दो तो वकालत करूँगा, अध्यापक कहता है पैसा दो तो पढ़ाऊँगा, लड़केका वाप कहता है पैसा दो तो अपनी बेटीका तुम्हारे लड़केसे व्याह कर दूंगा। चारों तरफ़ हमारे मूल्य वदलते जा रहे हैं, पैसा हर कामका प्रेरणा-स्रोत बना हुआ है। कोई समय था जब पैसा पैदा करना नहीं, पैसा छोड़ना हमारी सामाजिक-व्यवस्थाका मूल्य निर्धारण करता था। जो पैसा छोड़ता था, वानप्रस्थी या संन्यासी हो जाता था, वह समाजमें पूजा जाता था। आज यह मूल्यांकन उल्टा हो गया है। जिसके पास कोठी है, मोटर है, नौकर-चाकर हैं, बैंकमें रुपया जमा है, वह चोर है, बदमाश है, रिश्वतख़ोर है, घूंस-ख़ोर है, दग़ाबाज़ है, कुछ भी क्यों नहीं है, वह हमारे समाजमें पूजा जाता है। वर्ण-व्यवस्थामें यह बात नहीं थी। वर्ण-व्यवस्था में मूल्यांकनका मापदंड ही दूसरा था। हमें समाजमें ऐसी विचार-धाराको प्रवाहित कर देना होगा ताकि घूंसख़ोरी, चोरी, बदमाशीसे कोठियां खड़ी करनेवाले, मोटरोंके मालिक, बैंकोंके लौकरोंमें काला रुपया जमा करनेवाले अपना मुंह छिपाते फिरें, उन्हें हर समय यह शंका सताये कि किसीको पता न लग जाये कि हमारे पास इतनी कोठियां हैं, इतने वंगले हैं, इतनी मोटरें हैं। जब हम समाजका नव-निर्माण इन मूल्योंको आधार बनाकर करेंगे तब वैदिक-वर्ण-व्यवस्थाके असली आधार हमारे समाजकी नींवमें होंगे और तब समाजमें जो आज चारों तरफ़

असन्तोष दिखाई देता है वह अपने-आप मिट जायगा। आज तो कुछ भी क्यों न कर लो, अगर दूसरेकी जेब काटकर, रिश्वत, घूस, भ्रष्टाचारसे किसीने अपनी जेब भर ली, कोठी-बंगला खड़ा कर लिया, मोटर ख़रीद ली, तो यह कोई नहीं पूछता कि यह सब कहांसे आया। इतना ही देखा जाता है कि आपकी माली हैसियत कैसी है, और क्या है। ऐसे समाजमें चारों तरफ़ रुपये-पैसेकी लालसा क्यों न जागे। वर्ण-व्यवस्थाका अर्थ समाजको ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र—इन चार वर्गोंमें बांट देना नहीं है, वर्ण-व्यवस्था तो एक विचार-धाराका प्रतीक है। समाज चार वर्गोंमें बंटा हो परन्तु जिस विचार-धाराको लेकर वर्ण-व्यवस्थाके विचारका जन्म हुआ था, वह विचार-धारा न हो, वर्ण-व्यवस्थाका होना बेकार है; समाज चार वर्गोंमें न बंटा हो परन्तु समाजकी नींवमें वर्ण-व्यवस्थाकी आधारभूत विचार-धारा काम कर रही हो, तो वहां वर्ण-व्यवस्थाके नामका ढोल पीटनेकी जरूरत नहीं। वर्ण-व्यवस्थाका यह वैदिक आदर्श कि त्यागना बड़ा है, भोगना छोटा है, भोगनेवाला भी त्याग का जीवन व्यतीत करे तो वह डूबता हुआ भी ऊपर उठ आता है—यह आदर्श है जो आज हमारे समाजको बचा सकता है, समाजको नये आधार दे सकता है, समाजका नव-निर्माण कर सकता है। वैदिक-कालके उन क्रांतदर्शी ऋषियोंकी जिन्होंने किसी भूत-काल में अपने समाजका निर्माण किया था आजके युगको यह देन है जिसे पाकर हम फिरसे अपने समाजकी समस्याओंका हल कर सकते हैं।

[१२]

भौतिक मनोविज्ञान बनाम आध्यात्मिक मनोविज्ञान

भारतीय अध्यात्मवादका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण—

सत्य एक है। इसलिये सत्य एक है क्योंकि वह सत्य है। दो परस्पर-विरोधी बातें सत्य नहीं हो सकतीं क्योंकि उनमेंसे अगर पहली सत्य है तो दूसरी असत्य है, अगर दूसरी सत्य है तो पहली असत्य है। जहां सत्यमें अनेकता दिखाई देती है वहां विविधता होती है, विरोध नहीं होता, एक ही सत्यके अनेक पक्ष होते हैं; जहां विविधता नहीं, विरोध होता है, वहां सत्य नहीं, असत्य होता है।

सत्यकी खोजके लिये मनुष्य हर देशमें और हर कालमें प्रवृत्त रहा है। एशिया हो, यूरोप हो, भारत हो या कोई अन्य देश हो, वर्तमान हो, भूत हो, भविष्यत् हो—सत्यकी खोज सब जगह और सदा होती रही है। इसका कारण यह है कि मनुष्य की तात्विक रचनामें बुद्धिका निवास है, मनुष्य बुद्धि-रूप है। सांख्य-दर्शनने संसार की उत्पत्तिका वर्णन करते हुए कहा है—प्रकृतिका जब विकास शुरू हुआ तब पहले-पहल 'अहंकार' पैदा हुआ। एक दूसरे स्थलपर सांख्यकार ने अन्तःकरण चतुष्टयका वर्णन करते हुए 'मन'-'बुद्धि'-'चित्त'-'अहंकार'—ये चार अन्तःकरण गिनाये हैं। अहंकार अन्तःकरण चतुष्टयका एक अंग है।

वैसे तो हम इस पुस्तक में 'अहंकार' पर बहुत-कुछ लिख आये हैं—'अहंकार' ही सृष्टि के मूल में है—परन्तु अहंकार तो जैसा हमने कहा सांख्यकारकी दृष्टिमें अन्तःकरणका ही एक अंग है। इस दृष्टिसे 'अहंकार'का विस्तृत तथा सामान्य रूप 'अन्तःकरण' या 'मानस्-तत्व' है। दूसरे शब्दों में 'अहंकार'का 'मानस्-तत्त्व' ही प्रकृतिसे उत्पन्न होकर अगली सृष्टिका विकास करता है। जड़ प्रकृतिके बाद चेतन जगत् की उत्पत्ति का स्थूल रूप 'अहंकार' या 'मानस्-तत्व' है। जो सत्य भारतके दार्शनिक 'सांख्यकार'को प्रकट हुआ, वही जर्मनीके दार्शनिक हीगलको प्रकट हुआ। उसने भी कहा कि सृष्टिका प्रारंभ 'तर्क'से हुआ, 'बुद्धि'से हुआ, अंग्रेज़ी में कहा जाय तो हीगलका कथन है कि सृष्टिका यह चक्र 'रीज़न' (Reason) से प्रारंभ हुआ।

सांख्यकार ने या हीगलने क्यों कहा कि सृष्टिका प्रारंभ 'मानस्-तत्त्व'से हुआ, या 'रीज़न' से हुआ। उन्होंने यह बात इसलिये कही क्योंकि उन्हें सृष्टिके संपूर्ण-विकासमें एक तर्क-संगत, बुद्धि-संगत सिलसिला दिखलाई देता था। जिस वस्तुको देखो उसमें कारण-कार्यका नियम काम कर रहा है। अणुको देखें, परमाणु को देखें, अणु-परमाणु को देखकर ब्रह्मांडको देखें—हर वस्तुमें बुद्धिपूर्वक कार्य दीख रहा है, कहीं अंडसंड काम नहीं चल रहा। संसारकी हर वस्तु इस नाप-तोलसे बनी है कि कहीं असंगतता, वेजोड़पन नहीं दिखलाई देता। संसारकी रचनामें जो 'मानस्-तत्त्व'-'बुद्धि' वा 'रीज़न' काम कर रहा है उसे जानने के यत्नसे ही सब ज्ञान-विज्ञान उत्पन्न हुए हैं। हम संसार-समुद्रके अथाह 'मानस्-तत्त्व' में से जो-कुछ इने-गिने नियम, सिद्धान्त, कायदे ढूंढ़ निकालते हैं उन्हींको हमने गणित,

भौतिकी, रसायन, यांत्रिकी, दर्शनका नाम दिया है, परन्तु इन सब ज्ञान-विज्ञानोंका स्रोत विश्वकी रचनाके आधार में बैठा हुआ सांख्यकी परिभाषामें 'महत्-तत्त्व' या 'मानस्-तत्त्व' या हीगल की परिभाषामें 'रीज़न' है। इन दोनों विचारकों का कथन एक ही है, उसमें जो भिन्नता दिखाई देती है वह एक ही सत्य के दो पहलू हैं।

अगर संसारकी रचनाका आधार-भूत तत्त्व 'मानस्-तत्त्व' है, तो उसकी ढूंढ़ करना मनुष्यकेलिये स्वाभाविक है। इस तत्त्वकी खोज भी मनुष्यने जबसे होश संभाली तबसे वह कर रहा है। युरोपमें ईसासे चौथी-पांचवीं शताब्दी पूर्व यूनानका एक प्रसिद्ध दार्शनिक सुकरात हुआ। वह जगह-जगह कंहता फिरता था—'अपनेको जानो।' लोग समझते थे कि वे अपनेको जानते हैं, परन्तु सुकरात जब उनसे बहस करता था तब वह उन्हें यह विश्वास करा देता था कि वे और तो बहुत-कुछ जानते हैं, अपनेको नहीं जानते। उसका कहना था कि दूसरे लोग यह भी नहीं जानते कि वे अपनेको नहीं जानते, मैं इतना तो जानता हूं कि मैं अपनेको नहीं जानता। सृष्टिके आधारभूत इस 'मानस्-तत्त्व' को भारतके ऋषियों-मुनियों ने भी ढूंढ़नेका प्रयत्न किया था। उनका कहना भी यही था कि इस तत्त्वको कोई पा नहीं सकता। ईशोपनिषद्में लिखा है: 'यस्यामतं मतं तस्य मतं यस्य न वेद सः अविज्ञातं विज्ञानताम् विज्ञातमविजानताम्'—जो समझते हैं कि वे उसे नहीं जानते वे ही उसे जानते हैं, जो समझते हैं कि वे उसे जानते हैं वे उसे नहीं जानते।

तो प्रश्न खड़ा हो जाता है कि क्या हम संसारके आधार-भूत 'मानस्-तत्त्व'को नहीं जान सकते? इस बिन्दुपर आकर

पाश्चात्य तथा भारतीय विचारधारा भिन्न-भिन्न दिशाओं की तरफ़ चल पड़ती है। पाश्चात्य विचारधारा का कथन है कि हमें इन्द्रियोंसे परेकी सत्ताओं का ज्ञान नहीं हो सकता। हर्बर्ट स्पेंसरने संसारकी सत्ताओंको दो भागोंमें बांटा है—'अज्ञेय' तथा 'ज्ञेय'। उसका कहना है कि आधारभूत सत्ता आदि ऐसे तत्त्व हैं जो 'अज्ञेय'के गर्भ में छिपे हैं, हमें अपने को 'अज्ञेय' के साथ बेकार टकरानेकी अपेक्षा 'ज्ञेय' के क्षेत्रमें सीमित रखना चाहिये। भारतीय-दर्शन भी इस बातको स्वीकार करते हैं कि सृष्टिका आधारभूत 'मानस्-तत्व' अज्ञेय है, परन्तु उनका कहना है कि यह 'अज्ञेय' सर्वथा अज्ञेय नहीं, इसकी हमें झांकी मिलती है, और यह कि इस 'अज्ञेय'की झांकी ही 'ज्ञेय'के साक्षात्कार से भी कहीं ज़्यादा महत्त्व की है।

पाश्चात्य-विचारक 'ज्ञेय' के पीछे पड़े और उन्होंने आजके युगके सब ज्ञान-विज्ञान पैदा कर दिये। इन विज्ञानों के दो रूप हैं। एक विज्ञान तो वे हैं जो सर्वथा भौतिक हैं। भौतिकी, रसायन, यांत्रिकी आदि विज्ञानोंको उन्होंने भौतिक रूप दे हीं दिया है, सामाजिक-विज्ञानोंको भी पाश्चात्य-विचारक भौतिक रूप देते जा रहे हैं। उदाहरणार्थ, राजनीतिशास्त्र, इतिहास, समाजशास्त्र आदि का प्रतिपादन भौतिक-पद्धतिके अनुसार किया जाने लगा है। भौतिक-पद्धतिसे क्या अभिप्राय है ? भौतिक पद्धतिसे अभिप्राय यह है कि जैसे भौतिकी, रसायन, यांत्रिकी आदि में निरीक्षण-परीक्षण-तुलना आदि द्वारा तथ्योंका निर्धारण होता है, वैसे ही राजनीति, इतिहास, समाजशास्त्रमें भी यही पद्धतियां काम में लाई जाने लगी हैं, इतना ही नहीं कि पाश्चात्य-विचारक उक्त विज्ञानोंमें भौतिक-पद्धतियों का प्रयोग कर रहे

हैं, वे 'मानस्-तत्त्व' पर भी भौतिक-पद्धतिका ही प्रयोग कर रहे हैं। शंका हो सकती है कि 'मानस्-तत्त्व' तो 'अज्ञेय'के क्षेत्रमें है, उसपर वे भौतिक-पद्धतिका, निरीक्षण-परीक्षण-तुलना का कैसे प्रयोग करते हैं ? इसका उत्तर यह है कि 'मानस्-तत्त्व' ही को वे उस क्षेत्रमें खींच लाते हैं जिस क्षेत्रमें निरीक्षण-परीक्षण-तुलनाका प्रयोग किया जा सकता है। इस बातको अधिक स्पष्ट करनेकी आवश्यकता है।

'मानस्-तत्त्व'का अर्थ है—'आत्म-तत्त्व', वही 'आत्म-तत्त्व' जिसकी चर्चा हम ५वें अध्यायमें कर आये हैं। पाश्चात्य-विचारकोंका कहना है कि 'आत्मा' क्या है—हम नहीं जानते। आत्मा पर निरीक्षण-परीक्षण-तुलना नहीं हो सकती, इसलिये वह हमारे अध्ययनका विषय नहीं हो सकता। तो क्या 'मन' हमारे अध्ययनका विषय हो सकता है ? 'मन' पर भी हम निरीक्षण-परीक्षण-तुलना नहीं कर सकते। 'मन' कहां है, कैसा है, है भी या नहीं, क्या इसकी सत्ता स्नायु-मंडलसे अतिरिक्त स्वतंत्र रूप से है या नहीं है—जब हम यह सब नहीं जान सकते तब 'मन' हमारे अध्ययनका विषय कैसे बन सकता है ? तो क्या 'स्नायु-मंडल' हमारे अध्ययनका विषय है ? 'स्नायु-मंडल'के अध्ययनमें भी यह मानना पड़ता है कि जो ज्ञान अन्तःवाही तंतुओं से मस्तिष्क तक पहुंचता है उसे कोई अज्ञेय-शक्ति पहले समझे और समझकर फिर बहिर्वाही तंतुओं द्वारा अपना आदेश आगे भेजे। यहां भी किसी अज्ञेय-शक्तिकी बात बीचमें आ पड़ती है। इन सब कारणोंसे पाश्चात्य-विचारकोंने अज्ञेय-क्षेत्रके इस ज्ञानको जिसे 'मनोविज्ञान' कहा जाता है ज्ञेय-क्षेत्रमें लानेका यत्न किया है। पहले 'मनोविज्ञान' आत्माके गुण जाननेवाला

ज्ञान था, फिर इसका काम मनके गुण जानना हो गया, फिर 'मनोविज्ञान'का काम स्नायु-मंडलका अध्ययन करना हो गया, परन्तु स्नायु-मंडलके ज्ञानके साथ बंधे रहनेपर भी मनोवैज्ञानिक समझते रहे कि वे अपनेको किसी अज्ञेयके साथ बांधे हुए हैं, इसलिये मनोविज्ञानका वर्तमान रूप सिर्फ़ भौतिक रूप हो गया है, वह आत्मा, मन, चेतना तथा स्नायु-मंडलके क्षेत्रसे वाहर निकल आया है, और अन्य भौतिक-विज्ञानोंके साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर खड़ा हो गया है।

आजका मनोविज्ञान 'भौतिक-मनोविज्ञान' कहा जा सकता है। इसे 'भौतिक-मनोविज्ञान' कहनेका कारण यह है कि आजके पाश्चात्य-मनोविज्ञानने अपनेको आत्मा, मन, चेतना, मस्तिष्क से अलग करके एक नया रूप धारण कर लिया है। आज-के मनोविज्ञानका क्या रूप है ? आज के मनोविज्ञानका रूप है—'व्यवहारवाद' (Behaviorism)। हम व्यक्ति के आत्मा, मन, मस्तिष्कके विषयमें कुछ नहीं जानते। हम व्यक्ति के विषयमें क्या जानते हैं ? हम यह जानते हैं कि वह कैसा व्यवहार करता है। दो व्यक्ति आमने-सामने आये। दोनोंने एक-दूसरेसे लड़ाई करना शुरू कर दिया। दूसरी तरफ़ दो व्यक्ति इकट्ठे हुए, उन्होंने प्रेमसे हाथ मिलाये, मीठीं-मीठी बातें करनी शुरू कर दीं। किसी खास परिस्थितिके उत्पन्न होनेपर मनुष्य क्या प्रतिक्रिया करता है, क्या व्यवहार करता है—बस, इसका अध्ययन मनोविज्ञानका काम है। यह व्यवहार क्योंकि भौतिक है, देखा जा सकता है, इसे नापा-तोला जा सकता है, इसपर परीक्षण किये जा सकते हैं, यह निरीक्षण-परीक्षण-तुलनाका विषय हो सकता है, इसलिये आजका मनोविज्ञान व्यवहारको

अपने अध्ययनका विषय बनाता जा रहा है। इसी दिशापर चलते हुए आज मनोविज्ञानमें 'परीक्षणात्मक-मनोविज्ञान' (Experimental Psychology) के नाम से अनेक परीक्षण किये जा रहे हैं जिनके लिये प्रयोगशालाओं का निर्माण हो रहा है।

मनोविज्ञानका काम मनकी 'चेतना'का अध्ययन करना नहीं, प्राणीके 'व्यवहार'का अध्ययन करना है—यह विचार १९वीं सदीमें वाटसनकी मनोविज्ञान को देन थी। इस विचार को आधार बनाकर थॉर्नडाइक, पवलव आदि मनोवैज्ञानिकोंने पशुओंपर अनेक परीक्षण किये जो शिक्षा-मनोविज्ञानकी नींव में पड़े हुए हैं। यद्यपि फ़ॉयडके 'मनोविश्लेषणवाद' तथा 'व्यवहारवाद' दोनों मनोविज्ञानके अलग-अलग सम्प्रदाय हैं, तो भी दोनोंके आधारमें युरोपकी भौतिक पद्धति काम कर रही है। वाटसन, थॉर्नडाइक तथा पवलवने पशुओंके व्यवहार पर निरीक्षण-परीक्षण-तुलना करके मनोविज्ञानके नियमोंका प्रतिपादन किया है।

फ़ॉयड के मनोविश्लेषणवादके विषयमें कहा जा सकता है कि उसने मनके अज्ञेय क्षेत्रमें भी प्रवेश करनेका प्रयत्न किया है। परन्तु फ़ॉयड भी मनको मनुष्यके व्यवहारसे ही पकड़नेका प्रयत्न करता है। जिस बालकमें भावना-ग्रन्थि पड़ जाती है उसका व्यवहार बदल जाता है। हीनता-ग्रन्थि आदि सब ग्रन्थियां जिनकी मनोविश्लेषणवादमें जगह-जगह चर्चा पायी जाती है मनुष्यके व्यवहारको ही अपने अध्ययनका विषय बनाते हैं। इस दृष्टिसे देखा जाय तो यह कहनेमें संकोच नहीं हो सकता कि युरोपके वर्तमान मनोविज्ञानका आधार भौतिकवाद है, भौतिक-पद्धति है, निरीक्षण-परीक्षण-तुलना है, प्रयोगशाला है।

जैसा हमने पहले कहा, पाश्चात्य विचार-सरणीके अनुसार हमारा काम सिर्फ़ ज्ञेयका पता लगाना है, अज्ञेय हमारे ज्ञानका विषय नहीं हो सकता, अगर अज्ञेयका हमें पता लगाना हो तो उसके उतने ही अंशका पता लगाना संभव है जो अज्ञेय कोटि में न रहकर ज्ञेय कोटिमें आ जाये। 'मानस्-तत्त्व' क्योंकि अज्ञेय-कोटिमें है इसलिये आत्मा-मन-मस्तिष्क आदिके विषयमें पाश्चात्य मनोविज्ञान तटस्थ हो जाता है, वह सिर्फ़ उसके व्यवहारमें आनेवाले भौतिक रूपपर विचार करता है, और इसीलिये हमने उसे 'भौतिक-मनोविज्ञान'का नाम दिया है। इस 'भौतिक-मनोविज्ञान'ने ज्ञानके जगत्को वहुत-सी नवीन बातें दी हैं और इनसे मनुष्यके मानसिक-विकासमें पर्याप्त प्रगति हुई है—इससे इन्कार नहीं किया जा सकता।

पाश्चात्य 'भौतिक-मनोविज्ञान'के मुकाबलेमें भारतीय मनोविज्ञानको 'आध्यात्मिक-मनोविज्ञान' कहा जा सकता है। इसे 'आध्यात्मिक-मनोविज्ञान' कहनेका कारण यह है कि भारतीय-मनोविज्ञानने यद्यपि सांख्यके 'मानस्-तत्त्व चतुष्टय' को, या हीगलकी परिभाषामें 'रीज़न'को, या स्पेंसरकी परिभाषामें 'अज्ञेय'को अज्ञेय कहा, अनिर्वचनीय कहा, यह कहा कि जो उसे जाननेका दावा करता है वह उसे नहीं जानता, जो उसके विषयमें यह कहता है कि वह उसे नहीं जानता वही जानता है, यह सब कहते हुए भी भारतीय-मनोविज्ञानने उस अज्ञेय को जाननेका प्रयत्न किया है। अज्ञेयको जाननेके प्रयत्नको ही आध्यात्मिकता कहा जा सकता है, और इसीलिये भारतीय मनोविज्ञान भौतिक न होकर आध्यात्मिक है।

'मानस्-तत्त्व'का क्या रूप है—इसे जाननेसे पहले भारतीय मनोवैज्ञानिकोंके सामने सबसे पहला प्रश्न यह था कि 'मानस्-तत्त्व'की सत्ता भी है या नहीं? 'मानस्-तत्त्व' है—इसका प्रतिपादन करते हुए माण्डूक्योपनिषद्में मनकी तीन अवस्थाओंका वर्णन पाया जाता है। ये अवस्थाएं हैं—जागृत्, स्वप्न तथा सुषुप्ति। जागृत् अवस्थामें मनुष्यकी वृत्ति चारों तरफ़ फैली हुई होती है, बिखरी हुई होती है। वह देखता है, सुनता है, सूंघता है, चलता है, फिरता है। स्वप्न अवस्थामें मनुष्यके अंग निश्चल हो जाते हैं। उसकी आंखें बन्द हो जाती हैं, कान-नाक आदि इन्द्रियां काम नहीं करतीं, शब्दको वह सुन नहीं सकता, गंधको सूंघ नहीं सकता, हाथ-पैर शिथिल पड़ जाते हैं। स्वप्नावस्था में आंखें बन्द होनेपर भी वह देखता है—ठीक ऐसे देखता है जैसे खुली आंखोंसे देखता होता है; बन्द कानोंसे वह सुनता है—ठीक ऐसे सुनता है जैसे खुले कानोंसे जागृतावस्थामें सुना करता है; शिथिल हाथोंसे वह पकड़ता तथा निश्चल पैरोंसे चलता-भागता है—ठीक ऐसे पकड़ता-चलता-भागता है जैसे जागृतावस्थामें वह ये सब काम करता है। अगर कोई जागता हो, और आंखें बन्द कर ले और बन्द आंखोंसे देखनेकी कल्पना करना चाहे तो वैसी कल्पना नहीं कर सकता जैसे मनुष्य सोता हुआ देखता है। सोते हुए मनुष्य जब देखता, सुनता, सूंघता, चलता, फिरता है, तब यह अनुभव ही नहीं होता कि वह जाग नहीं रहा। उपनिषद्के ऋषिका कहना है कि जागृतावस्थामें तो मनुष्यका शरीर तथा मन दोनों दूध-पानीकी तरह घुले-मिले रहते हैं, इन दोनोंको अलग-अलग किया ही नहीं जा सकता। जागृतावस्थामें शरीर तथा उसकी चेतना दोनों अभिन्न रहते हैं,

परन्तु स्वप्नावस्थामें शरीर तथा चेतना—मन—ये दोनों अलग-अलग स्पष्ट जान पड़ते हैं। तभी तो स्वप्नावस्थामें आंखें बन्द हैं परन्तु मनुष्य खुली आंखों जैसा देख रहा होता है, कान बन्द हैं परन्तु मनुष्य खुले कानों जैसा सुन रहा होता है, सब इन्द्रियां सोई पड़ी हैं परन्तु जागी इन्द्रियों का-सा अनुभव करता है। यह अनुभव अनुमानका विषय नहीं है, प्रत्यक्षकी, मेरे-आपके निरीक्षण-परीक्षण-तुलनाका विषय है। हम सबको हर रात यह अनुभव प्राप्त होता है। इस अनुभवका क्या अर्थ है? इस अनुभवका इसके सिवाय क्या अर्थ हो सकता है कि शरीरसे भिन्न कोई 'मानस्-तत्त्व' है, वह तत्त्व जो बिना आंखोंके देख सकता है, बिना कानोंके सुन सकता है, बिना हाथोंके पकड़ और बिना पैरोंके चल सकता है। उपनिषत्कार स्वप्नावस्थाका दृष्टांत देकर यह सिद्ध करनेका यत्न करते हैं कि शरीरसे भिन्न 'चेतना'की, 'मानस्-तत्त्व'की एक स्वतंत्र सत्ता है, स्वतंत्र इसलिये क्योंकि जागृतावस्थामें तो यह शरीरसे मिली-जुली रहती है, परन्तु स्वप्नावस्थामें यह शरीरसे अलग होकर अपनी स्वतंत्र सत्ता दिखला देती है। इस चेतनाको हम आत्मा कह सकते हैं, मन कह सकते हैं, अन्य अनेक नामोंसे इसे स्मरण कर सकते हैं, इस विवेचनामें, आत्मा-मन-चेतनाके भेदमें जानेकी हमें आवश्यकता नहीं, परन्तु इतना स्पष्ट है कि शरीरसे भिन्न कोई सत्ता अवश्य है, ऐसी सत्ता जो शरीरके बिना रह सकती है, जिसके बिना शरीर नहीं रह सकता, जो शरीरके बिना क्रियाशील है, जिसके बिना शरीर क्रियाशील नहीं रह सकता।

भारतके 'आध्यात्मिक-मनोविज्ञान'की दूसरी समस्या यह थी कि अगर शरीरसे भिन्न कोई 'मानस्-तत्त्व' है, और अगर

भौतिक-शरीरकी अपेक्षा वही सत्य है, इसलिये सत्य है क्योंकि वह भौतिक-शरीरके बिना रह सकती है, भौतिक-शरीर उसके बिना नहीं रह सकता, तो उसका स्वरूप क्या है ? उसके स्वरूप का वर्णन करनेके लिये माण्डूक्योपनिषद्ने फिर जागृत-स्वप्न-सुषुप्ति—इन अवस्थाओंका वर्णन किया है। इन अवस्थाओंका वर्णन उपनिषत्कार इसलिये करते हैं क्योंकि ये तीनों अवस्थाएँ प्रत्येक के अनुभवमें आती हैं। इनके विषयमें कुछ कहना कल्पना की बात कहना नहीं, अनुभवकी बात कहना है। जागृतके बाद स्वप्नावस्था और स्वप्नावस्थाके बाद सुषुप्तिकी अवस्था आती है। स्वप्नावस्थामें तो मनुष्य बिना विषयोंके सब-कुछ देखता-सुनता है। यह देखना-सुनना सिर्फ़ स्मृति नहीं होती। स्मृतिमें देखे-सुनेकी वह अनुभूति नहीं होती जो स्वप्नमें होती है। स्मृति में सचमुचका देखना-सुनना नहीं होता, स्वप्नमें सचमुचका-सा देखना-सुनना होता है। एक चीनी विचारक च्वांग्से ने अपने प्राचीन लेखोंमें लिखा था कि मुझे तितली होनेका स्वप्न आया। प्रश्न यह है कि क्या मैं वास्तवमें च्वांग्से हूँ और मुझे तितली होनेका स्वप्न आ रहा है, या मैं वास्तवमें तितली हूँ और मुझे च्वांग्से होनेका स्वप्न आ रहा है। स्वप्न तथा जागृतमें इतनी गहरी समानता पाई जाती है। स्वप्नावस्थाके बाद सुषुप्तिकी अवस्था आती है। सुषुप्तिमें सब ज्ञान लुप्त हो जाता है। मनुष्य छः-सात घंटेकी सुषुप्तिके बाद जब जागता है, तब क्या कहता है ? वह कहता है—'सुखमहमस्वाप्सम्'—'मैं बड़े आनन्दमें सोया, ऐसा सोया कि कुछ भी पता नहीं रहा, कोई स्वप्न तक नहीं आया।' उपनिषत्कारका कहना है कि सुषुप्ति के बाद मनुष्य क्यों कहता है कि मैं आनन्दमें रहा। असलमें 'मानस्-तत्त्व'का,

'चेतना' का यथार्थ रूप आनन्दका रूप है। जब वह जागृतसे स्वप्नमें जाता है तब शरीर तथा मनका संबंध टूट जाता है, मन अपने स्वरूप में आने लगता है, उस समय मनमें संकल्प-विकल्प बने रहते हैं, जब वह स्वप्नसे सुषुप्तिमें जाता है तब उसका संकल्प-विकल्प से भी संबंध टूट जाता है, 'मानस्-तत्त्व' अपने शुद्ध रूपमें आ जाता है। 'मानस्-तत्त्व'का शुद्ध रूप, वह रूप जिसमें वह शरीर से जुदा होता है, आनन्दमय रूप है, और इसीलिये सुषुप्तिसे फिर जागृतमें लौट आनेपर मनुष्य कहता है कि मैं बड़े आनन्द में रहा। सुषुप्ति अवस्था वह है जिसमें शरीर तथा मनका संबंध सर्वथा जुदा हो जाता है, जिसमें शरीर मानो मर जाता है, 'मानस्-तत्त्व' कहो, मन कहो, आत्मा कहो, चेतना कहो अपने शुद्ध रूपमें आ जाता है, उस अवस्थामें जो अनुभूति होती है उसी अनुभूतिका वर्णन करते हुए मनुष्य कहता है कि मुझे ऐसा आनन्द आया जैसा कभी अनुभव नहीं किया।

दो शब्दोंमें भारतके 'आध्यात्मिक-मनोविज्ञान' का सार शरीर तथा आत्माके, शरीर तथा मनके भेदको अनुभव कर लेना है। आजके बीसवीं सदीके आधिभौतिक युगमें मनोविज्ञान ने भौतिक रूप धारण करके 'आत्मा'-'मन'-'चेतना'—इन सब अज्ञेय तत्त्वोंको छोड़कर 'व्यवहार' को, जो ज्ञेय तत्त्व है, पकड़ लिया है, परन्तु भारतके मनोविज्ञानका रूप सदा आध्यात्मिक बना रहा है। वेदोंमें, उपनिषदोंमें, गीतामें, रामायणमें, महाभारतमें लगातार एक ही खोज दिखलाई पड़ती है, और उस खोजका लक्ष्य शरीरसे भिन्न मन तथा आत्माको पकड़ना है। उपनिषदोंके ऋषियोंने अपने भिन्न-भिन्न प्रयोगोंसे मन तथा आत्माका शरीरसे भिन्न होना सिद्ध किया है। छान्दोग्योपनिषद्

(प्रपाठक ८, खंड ७) में प्रजापति, विरोचन तथा इन्द्रकी एक रोचक कथाका उल्लेख है। प्रजापतिने घोषणा की कि हृदयाकाश में जिस मन अथवा आत्माका निवास है वह पापोंसे अलग है, जरा-मृत्युसे छूटा हुआ है, भूख और प्याससे परे है, वही सत्य है, उसीकी खोज करनी चाहिये, उसीको जानना चाहिए। प्रजापति-की इस घोषणाको देवोंने सुना, असुरोंने भी सुना। उनके मनमें इच्छा उत्पन्न हुई कि उस आत्माका पता चलायें जिसकी खोजके लिये प्रजापति ने घोषणाकी है। देवोंने अपने प्रतिनिधि इन्द्रको तथा असुरोंने अपने प्रतिनिधि विरोचनको प्रजापतिके पास मन तथा आत्मा की खोजके लिये भेजा। वे ३२ वर्ष तक प्रजापतिके पास तपस्या करते रहे। ३२ वर्ष तपस्याके बाद प्रजापतिने इन दोनोंको उपदेश दिया कि एक-दूसरेकी आंखोंमें देखो। आंखोंमें जो पुरुष दीखता है वही आत्मा है, वही सत्य है, वही अमृत है। विरोचन तो इस सत्यको गांठ बांधकर असुरोंमें जा पहुँचा। उसने असुरों से कहा कि आंखोंमें दीखनेवाला यह देह, यह शरीर ही मन है, यही आत्मा है, यही सत्य है, इसीकी उपासना करनी चाहिये। विरोचनका अर्थ है—रुचनेवाला, पसन्द होनेवाला। मनुष्यको यही बात तो रुचिकर प्रतीत होती है कि यह देह हीं सब-कुछ है, यह दीखनेवाला संसार ही सब-कुछ है। हम सब इस देह-को, इस संसारको ही तो सत्य माने बैठे हुए हैं। उपनिषत्कार की दृष्टिमें हम सब विरोचन हैं क्योंकि भौतिकवाद ही विरोचन का संसार है। इधर इन्द्र भी इस बातको देवोंको सुनानेके लिये चल पड़ा, किन्तु रास्तेमें ही उसने सोचना-विचारना शुरू किया। यह कैसे हो सकता है कि आंखोंमें जो पुरुषकी छाया दीखती है वह मन हो, आत्मा हो। आंखोंमें तो हमारे देहकी

ही छाया दीखती है, देह तथा मन, देह तथा आत्मा एक कैसे हो सकते हैं ? वह प्रजापतिके पास लौट आया। प्रजापतिने पूछा—इन्द्र! तुम लौट क्यों आये ? इन्द्रने कहा कि आपकी बात मेरी समझ नहीं आई। आपके कथनानुसार तो देह ही मन है, देह ही आत्मा है, परन्तु यह हो कैसे सकता है! प्रजापतिने कहा—इन्द्र! तुमने ठीक कहा, मैं तुम्हारी परीक्षा लेना चाहता था कि तुम कुछ सोचते-विचारते भी हो या नहीं। इसके बाद अनेक दृष्टान्तोंसे प्रजापतिने इन्द्रको उपदेश दिया और अन्तमें कहा कि हे इन्द्र! यह शरीर तो मरणधर्मा है, मृत्युसे ग्रसा हुआ है। यह मरणधर्मा शरीर उस अमृतरूप अशरीर आत्माका अधिष्ठान है, उसके रहनेका स्थान है। आत्मा स्वभावसे अशरीर है, परन्तु जबतक इस शरीरके साथ अपनेको एक समझकर रहता है तबतक उसे भी सुख-दुःख लगा ही रहता है क्योंकि सुख-दुःख तो शरीरका धर्म है। जबतक शरीरको यह अपना-आपा समझेगा तबतक यह सुख-दुःखसे नहीं छूटेगा, अपने अशरीर रूपको अनुभव करते ही इसे सुख-दुःख छू भी नहीं सकेंगे।

असली सत्य क्या है—यह न मुझे पता है, न आपको पता है, न किसी औरको पता है। संसारके शुरूसे आजतक परमार्थ सत्यकी लगातार खोज हो रही है, और उस खोजमें हम-आप, पहले-पिछले लगे रहे हैं, लगे हुए हैं, लगे रहेंगे। यह सृष्टि ऐसा गोरखधंधा है जिसमें जन्मसे पहले क्या था, मृत्युके बाद क्या होगा—यह पर्देमें छिपा हुआ है। पाश्चात्य-मनोविज्ञान ने इस पर्देको फाड़कर पीछे और आगेको देखनेका प्रयास ही छोड़ दिया है, वह घोषणा करके 'भौतिक-मनोविज्ञान'

बन गया है, उसका कहना है कि मैं तो पीछे-आगेके साथ बेकार टक्कर लेनेके स्थानमें सामने जो-कुछ है, जो दीखता है, जो व्यवहारके तौरसे परखा जा सकता है, जिस पर प्रयोगशालामें निरीक्षण-परीक्षण हो सकता है, उसीकी चर्चा करूंगा, परन्तु भारतीय-मनोविज्ञानने अपने आध्यात्मिक रूप को नहीं छोड़ा। भारतीय-मनोविज्ञानका रूप तो सदा मन, आत्मा, चेतनाकी खोज करना रहा है। ऋषियों-मुनियोंका कहना है कि परमार्थ-सत्य क्या है—यह तो नहीं कहा जा सकता, परन्तु उन्होंने जिस मनोवैज्ञानिक सत्यको खोज निकाला है—यह सत्य कि मन तथा आत्मा शरीरसे भिन्न हैं, इस सत्यकी व्यावहारिक रूपसे जीवनमें बड़ी उपयोगिता है। आख़िर, उपयोगितावाद भी तो किसी बातके सत्य-असत्य होनेकी परख है। हम जब किसी चीज़का मूल्यांकन करने लगते हैं तब सबसे प्रबल दृष्टि यह होती है कि उसकी व्यावहारिक उपयोगिता क्या है। अगर मेरे पास एक महल है, परन्तु वह किसी काम नहीं आ सकता, तो वह व्यावहारिक दृष्टिसे मिट्टीका ढेर है, हम उसे छोड़ देते हैं; अगर इसके मुकाबिलेमें एक सूई है; परन्तु वह काम आनेवाली है तो हम उसे संभालकर रख लेते हैं क्योंकि व्यावहारिक-दृष्टिसे वह उपयोगी है। अमरीकामें 'उपयोगिता-वाद'से एक सम्प्रदाय भी खड़ा हुआ जिसे 'प्रैगमैटिक-स्कूल' कहते है। उनके कथनानुसार सत्यकी परख भी उपयोगिता-अनुपयोगितासे है।

प्रश्न यह है कि देहसे भिन्न, मन तथा आत्माकी स्वतंत्र सत्ता है—यह बात परमार्थ सत्य हो या न हो, व्यावहारिक-दृष्टि

से भारतके 'आध्यात्मिक-मनोविज्ञान'की इस स्थापनाकी कोई क्रियात्मक उपयोगिता भी है या नहीं ?

भारतकी विचारधाराका अगर हम अध्ययन करें तो पता चलेगा कि यहांके जीवनका हर पहलू इस विचारसे ओत-प्रोत रहा है। यह विचार एक काल्पनिक विचार ही नहीं था। यह ऐसा विचार नहीं था जो घरमें कुर्सियोंपर लेटे-लेटे दिमाग़ी पुलाव पकानेके लिये, समय काटनेके लिये खोजा गया था। इस विचारकी भारतीय-जीवनपर अमिट छाप थी। उस समय का जीवन ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास—इन आश्रमोंमें इसी विचारको क्रियात्मक रूप देनेके लिये बना हुआ था। परन्तु हमें यह नहीं देखना कि इस विचारका उनके जीवनपर क्या प्रभाव था, हमें तो यह देखना है कि 'आध्यात्मिक-मनोविज्ञान' के इस विचारकी हमारे-आपके जीवनके लिये व्यावहारिक तथा क्रियात्मक दृष्टि से क्या उपयोगिता है ?

इस विचारकी पहली व्यावहारिक उपयोगिता यह है कि हम इस बातको अनुभव करने लगते हैं कि संसारके सुख-दुःख का कारण हमारा अपना मन है। महाभारत (शान्तिपर्व, ३११.१७)में लिखा है— 'चक्षुः पश्यति रूपाणि मनसा न तु चक्षुषा'—अर्थात्, आंख वस्तुके रूपको देखती है, परन्तु आँख नहीं देखती, मन देखता है। बृहदारण्यकोपनिषद् (१.५.३)में लिखा है—'अन्यत्र मनाभूवम् नादर्शम्-अन्यत्र मनाभूवम् नाश्रौषम्'—अर्थात्, मेरा मन दूसरी तरफ़ था इसलिये आंखोंके खुली होनेपर भी नहीं देख पाया, कानोंके खुले होनेपर भी नहीं सुन पाया। उपनिषदोंके ऋषियोंने अपने पास बत्तीस-बत्तीस बरस शिष्योंको रखकर तरह-तरहके प्रयोगोंसे, आश्रमोंकी प्रयोग-

शालाओंमें उनके हृदयमें इस बातकी सत्यता उतार दी थी कि संसारमें जो-कुछ है, इन्द्रियोंका, शरीरका खेल नहीं, मनका खेल है, सांसारिक सुख-दुःखका अनुभव इन्द्रियां नहीं करतीं, शरीर नहीं करता, मन करता है, इसलिये संसारके सुख-दुःख से छूटनेका उपाय मनको पकड़ना है। 'मन चंगा तो कठौतीमें गंगा'की उक्ति इसी विचारधाराका लौकिक रूप है। महाभारत (शान्तिपर्व, २०५-२) में लिखा है—'भैषज्यमेतद् दुःखस्य यदेतन्नानुचिंतयेत्'—अर्थात्, दुःखोंके निवारणकी अचूक औषधि यही है कि दुःखोंका चिंतन ही न करे। 'भौतिक-मनोविज्ञान' इन्द्रियों की आंखों से देखता है, 'आध्यात्मिक-मनोविज्ञान' मन तथा आत्माकी आंखोंसे देखता है। इन दोनों दृष्टियोंकी व्यावहारिक-उपयोगितामें ज़मीन-आसमानका अन्तर पड़ जाता है। भगतसिंह फांसीकी रस्सीको चूमता हुआ उसके साथ लटक गया। क्यों लटक गया? इसलिये लटक गया क्योंकि गीताके 'आध्यात्मिक-मनोविज्ञान'का यह सत्य—'अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयम् अक्लेद्योऽशोष्य एव च'--शरीर छिन्न-भिन्न हो सकता है, मन तथा आत्मा तो अच्छेद्य है, अदाह्य है, अक्लेद्य है, अशोष्य है—यह व्यावहारिक सत्य उसके हृदयमें घरकर चुका था। आध्यात्मिक-मनोविज्ञानका काम मनके साथ जूझना है। 'बाहर के पट बन्दकर भीतरके पट खोल'—इस मनोविज्ञानका नारा है। गीता इस 'आध्यात्मिक-मनोविज्ञान'की ही व्याख्या है। कौरव, पांडवोंका युद्ध कुरुक्षेत्रके मैदानमें लड़ा गया, किन्तु श्रीकृष्ण उस युद्धको कुरुक्षेत्रके मैदानसे उठाकर मानवके मानस्-रूपी मैदानमें ले आये, और यही कारण है कि मारने-काटनेकी बात कहनेके स्थानमें उन्होंने मनोविज्ञानकी भाषामें बोलना

शुरू किया। युद्ध-क्षेत्रमें स्थित-प्रज्ञके लक्षण बतलानेका क्या अर्थ है? श्रीकृष्णका कहना है कि संसारके सब युद्ध मनके युद्ध-क्षेत्रपर लड़े जाते हैं। युद्धोंको रोकना हो तो पहले मनके साथ युद्ध करना होगा। मनके राग-द्वेष संसारकी तबाहीके कारण हैं, मनमें शान्ति नहीं तो संसारमें भी शान्ति नहीं हो सकती। आध्यात्मिक-मनोविज्ञान संसारकी सब समस्याओंको मनके क्षेत्रमें लाकर रख देता है, और यही कारण है कि भारत में योग-दर्शन नामसे एक शास्त्रका उदय हुआ जिसका काम मनको साधना था। योगका अर्थ ही है—'योगश्चित्तवृत्ति निरोधः'—चित्तकी वृत्तियोंका निरोध योग है, इस निरोधसे ही संसारकी समस्याएँ हल हो सकती हैं, दूसरी तरह नहीं। बोल-चालकी भाषामें हम आये-दिन कहते हैं—'जबतक मन साफ़ नहीं तबतक कुछ नहीं हो सकता'—यह सब आध्यात्मिक मनो-विज्ञानकी ही लौकिक-भाषा है—'मन चंगा तो कठौती में गंगा'।

जैसा हमने अभी कहा, आध्यात्मिक-मनोविज्ञानकी पहली व्यावहारिक-उपयोगितातो यह है कि हमारी सब समस्याओंके समाधानका धरातल मन बन जाता है, और मनके धरातल बनते ही समस्याएँ अपने-आप सुलझने लगती हैं। इसकी दूसरी व्यावहारिक-उपयोगिता यह है कि हमें संसारमें रहने, कर्म करनेका एक नया तरीका हाथ आ जाता है। आध्यात्मिक-मनोविज्ञानका जीवनका मार्ग एक नया मार्ग है। इस मार्गको गीतामें निष्काम-कर्मका मार्ग कहा है, 'कर्म-योग'का मार्ग कहा है। 'कर्म-योग'का अर्थ है—कर्म करनेकी युक्ति, तरीका। कर्मके सम्बन्धमें सबसे बड़ी समस्या यह रहती है कि मनुष्य कर्म किये बग़ैर तो रह नहीं सकता, परन्तु कर्म करे तो उसके बंधनमें फंस

जाता है। कर्म-योग गीताके कर्म करनेके उस तरीकेका नाम है जिसमें मनुष्य कर्म भी करता जाता है, उसके बंधनमें भी नहीं फंसता। कर्म-योगके इसी तरीकेको गीतामें निष्काम-कर्मका नाम दिया है। अगर यह बात सत्य है कि मनुष्य, देह नहीं मन है, आत्मा है, तो इसका तो स्वाभाविक और सहज यही परिणाम निकल सकता है कि मनुष्य, देह होनेके कारण कर्म तो करता जाय, कर्म किये बिना तो निर्वाह ही नहीं, परन्तु जो-कुछ करे ममताके बिना करे, संगके बिना करे, निष्काम-भावसे करे। बंधन तो कामनासे होता है, जब कामना ही नहीं तब बंधन कैसा ? प्रश्न हो सकता है कि यहां कामनाका, इच्छाका क्या अर्थ है ? कामनाका अर्थ है—कर्मके फलकी इच्छा। संसारके सब दुःख फलकी इच्छाके कारण होते हैं। जब अनुकूल फल नहीं मिलता तब मनुष्य दुःखी होने लगता है। गीताका व्यावहारिक उपदेश यह है कि मनुष्य कर्म करता जाय, फलकी इच्छा न करे। फलकी इच्छा मन करता है, फलकी इच्छाके पीछे मनुष्य तभी दीवाना फिरता है जब वह मनपर काबू नहीं पा लेता। मनपर काबू पा लिया तो फल मिले-न मिले मनुष्य एक-रस रह सकता है। यह मनकी ममत्व बुद्धि, आसक्ति, आग्रह, इच्छा, संग ही है जो कर्मका फल न मिलनेपर मनुष्यको दुःखी करता है, इस ममताको काट देना ही निष्काम-कर्म है।

प्रश्न हो सकता है कि कर्मके फलकी आशा क्यों न की जाय ? इसका सिर्फ़ व्यावहारिक ही नहीं, दार्शनिक आधार भी होना चाहिये। वह दार्शनिक आधार क्या है ? असल बात यह है कि कर्म-फलकी अनुकूलता-प्रतिकूलतासे ही मनुष्य सुखी-दुःखी होता है। परन्तु सोचनेकी बात तो यह है कि कर्म करना

तो अपने हाथमें है, फल तो अपने हाथमें नहीं है। किसी कर्मके फल उत्पन्न होनेमें एक कारण नहीं सैकड़ों कारण हो सकते हैं। संसार कितना विशाल है, उसमें कितने कारण मिलकर किसी कार्यको उत्पन्न करनेमें सहायक होंगे। कुछ कारणोंका हमें ज्ञान है, कुछका नहीं है। इस विशाल विश्वमें हम ही तो नहीं, लाखों-करोड़ों प्राणी हैं। सभीको सम्मुख रखकर ही तो विश्वकी विशाल दृष्टिसे काम हो रहा है। विश्वका संचालन करनेवाली दृष्टि समन्वयात्मक दृष्टि है, उसमें छोटेसे-छोटेसे लेकर बड़े-से-बड़े तक सभी प्राणी समा जाते हैं। हो सकता है, किसी और के दृष्टि-कोणसे हमारी इच्छा, और हमारे दृष्टि-कोणसे किसी और की इच्छा कट जाती हो, परन्तु यह जोड़-तोड़ हमारे बसकी चीज़ तो नहीं, यह तो उसीके बसकी है जिसके बही-खातेमें हम सबका हिसाब दर्ज है। ऐसी अवस्थामें संभव मार्ग सिर्फ़ यह रह जाता है कि हम अपना काम करते चलें, और 'इदन्न मम' कहकर 'फल'को विश्वात्माके चरणोंमें रख दें। यही विचार 'निष्काम-कर्म' का दार्शनिक आधार है।

निष्काम-कर्म के संबंध में हम तीसरे अध्याय में विस्तार से लिख आये हैं इसलिये यहां और अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं।

हम इस पुस्तकके ५-६-७ अध्यायोंमें 'आत्म-तत्त्व'की चर्चा कर आये हैं, इस अध्यायमें हमने 'मानस्-तत्त्व'-शब्दसे फिर उसी 'आत्म-तत्त्व' की चर्चा की है। गहराईसे देखा जाय तो भारतीय-संस्कृतिका मुख्य आधार यही 'मानस्-तत्त्व' या 'आत्म-तत्त्व' है। इसीको आधार मानकर इस संस्कृतिका भव्य-भवन खड़ा हुआ है क्योंकि भारतकी संस्कृति का निर्माण करनेवाली

जो भी इकाइयां हैं उनकी सत्ताका आधार शरीरसे पृथक् 'मानस्-तत्त्व' के अस्तित्त्वका मानना है। इसीलिये भारतीय संस्कृतिपर लिखते हुए हम बार-बार 'मानस्-तत्त्व'या 'आत्म-तत्त्व'की चर्चा कर रहे हैं।

आज भारत अन्य देशोंके साथ कन्धें-से-कन्धा मिलाकर खड़ा है, परन्तु हम अपने देशका मस्तक तब उज्ज्वल कर सकेंगे जब हम विचारोंकी उस भागीरथीको जो सदियोंसे इस देशमें बहती देश-देशान्तरके विचारशून्य मरु-स्थलोंको सींचती रही, जो स्वयं उसके बाद सदियों तक सूखी पड़ी रही, फिरसे आध्यात्मिक विचारोंके सलिलसे आप्लावित कर देंगे, और वह विचार-भागीरथी फिरसे अपने यौवन में भरी हुई, उत्ताल तरंगोंको उछालती पहलेकी तरह बहने लगेगी।

[१३]

भौतिकवाद बनाम अध्यात्मवाद

प्रकृतिकी विजय या आत्माकी विजय—

इस पुस्तकमें जगह-जगह हम देख आये हैं कि संसारके विचारकों के जीवनके प्रति दो दृष्टि-कोण रहे हैं—भौतिकवाद तथा अध्यात्मवाद। पश्चिममें भी दोनों तरहके विचारक हुए हैं, पूर्वमें भी, परन्तु पश्चिममें भौतिकवादी विचारकों एवं पूर्वमें अध्यात्मवादी विचारकोंकी संख्या अधिक रही है। अन्य जितने दृष्टि-कोण हैं वे न्यूनाधिक तौरसे इन दोनोंमें समा जाते हैं। वैदिक-संस्कृतिमें भौतिक तथा आध्यात्मिक दृष्टि-कोणोंका समन्वय रहा है, परन्तु क्योंकि इसमें भौतिक-जगत्को आध्यात्मिक-तत्त्वका अनुगामी माना गया है, साधन माना गया है, मुख्य तत्त्व प्रकृति नहीं आत्मा माना गया है, अतः यह संस्कृति कोरी आध्यात्मिक न होती हुई भी अध्यात्मवादके अन्दर ही समा जाती है यद्यपि यह भौतिकवादसे इन्कार नहीं करती। इस दृष्टिसे इसे न भौतिकवाद कहा जा सकता है, न शुद्ध अध्यात्मवाद कहा जा सकता है, इसे भौतिक-अध्यात्मवाद (Material Spiritualism) कहा जा सकता है।

भौतिकवादी विचारकोंकी दृष्टिमें उन्नतिका अर्थ प्रकृतिपर विजय पाना है। पहले बैलगाड़ी चलती थी, अब मोटर और विमान चलने लगे हैं; पहले मट्टी का दिया जलता था, अब

बिजली जलने लगी है ; पहले जिन बातोंके लिये महीनों लग जाते थे अब उनके लिये बटन दबाना काफ़ी है। नयी-नयी मशीनोंके ज़रिये मनुष्य प्रकृतिका स्वामी बनता जा रहा है।

अध्यात्मवादी विचारकोंकी दृष्टिमें उन्नतिका अर्थ प्रकृतिकी नहीं, आत्माकी विजय पाना है। मनुष्य काम, क्रोध, लोभ, मोहके सामने क्षण-क्षण अपनेको निर्बल पा रहा है। इन मनोवेगोंने उसे पागल बना रखा है। मनुष्यने मोटर बना ली, हवाई जहाज़में उड़ने लगा, बिजलीसे काम लेने लगा, एक सेकंडमें जहां चाहे वहां अपनी बात पहुंचाने लगा, मशीनके ज़रिये प्रकृतिका स्वामी बन गया, परन्तु अगर मोटरपर चढ़कर वह दूसरेको लूटने लगा, हवाई जहाज़पर चढ़कर निहत्थोंपर बम बरसाने लगा, मशीनके ज़रिये आग उगलने लगा, प्रकृतिपर विजय पाकर संसारको भस्म करने लगा, तो यह विजय किस कामकी ?

वैदिक-संस्कृतिने इस विचारको ख़ूब मथा था। छान्दोग्य-उपनिषत् (७-१) में एक कथा आती है। नारद सनत्कुमार ऋषिके पास गया और कहने लगा—भगवन् ! मैंने दुनियांका सब-कुछ पढ़ डाला, चारों वेद, विज्ञान, नक्षत्र-विद्या, क्षत्र-विद्या —कुछ नहीं छोड़ा, परन्तु मेरे आत्माको शांति नहीं मिली। मैं 'मन्त्रवित्' हो गया हूँ, 'आत्मवित्' नहीं हुआ ! प्रकृतिका ज्ञान मंत्र-ज्ञान है, अपना ज्ञान आत्म-ज्ञान है। भगवन्, मैंने सुना है—'तरति शोकं आत्मवित्'—जो 'आत्म-तत्त्व'को जान जाता है, 'आत्मवित्' हो जाता है, उसे शांति मिल जाती है, मुझे आत्माका उपदेश दीजिये। कठ-उपनिषत्में नचिकेताकी कथाका उल्लेख है। उसे कहा गया—तू हाथी-घोड़े, संसारके

ऐश्वर्य, भोग-विलास, प्रकृतिपर शासन, जो-कुछ चाहे मांग, आत्मज्ञान बड़ा कठिन है, इसे मत मांग। नचिकेता आजकल-का युवक नहीं था, उसने वैदिक-संस्कृतिमें जन्म लिया था। वह कहता है—भौतिक वासनाएँ तो एक जन्म क्या, सैकड़ों जन्म लेते जायं तब भी नहीं मिटतीं, आत्म-तत्त्वके दर्शन कर लेनेपर भौतिक-जगत् स्वयं हाथ जोड़कर खड़ा हो जाता है। भगवन्, मुझे आत्माका उपदेश दीजिये। बृहदारण्यक उपनिषद् (४-५) में याज्ञवल्क्य तथा मैत्रेयी का संवाद आता है। याज्ञवल्क्य जब वानप्रस्थी होने लगे, तब उन्होंने अपनी भार्या मैत्रेयीको कहा—लो, तुम्हें कुछ सम्पत्ति देता चलूं। मैत्रेयी पूछने लगी—'यन्नु म इयं सर्वा पृथिवी वित्तेन पूर्णा स्यात् स्यामहं तेनामृता'—अगर सारी पृथिवीके भोगके पदार्थ मुझे मिल जायं, तो मेरे आत्माको शांति मिल जायगी या नहीं? याज्ञवल्क्यने कहा—'नेति-नेति। यथैव उपकरणवतां जीवितं तथैव ते जीवितं स्यात्। अमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेन'—संसारके प्राकृतिक साधनोंके मिलनेसे तुझे आत्मिक शांति प्राप्त नहीं होगी, हां, उपकरण अर्थात् साधन-सम्पन्न व्यक्तियोंका जीवन जितना सुखी हो सकता है, उतनी सुखी तू ज़रूर हो जायगी। मैत्रेयी कहने लगी—'येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्याम्'—जिस वस्तुके प्राप्त करनेसे मेरे आत्माको चिरस्थायी शांति न मिले उसके पीछे दौड़कर मैं क्या करूंगी, मुझे तो 'आत्म-तत्त्व' का ही उपदेश दीजिये।

वैदिक-संस्कृति भौतिक उन्नतिको जानती ही नहीं थी, यह बात नहीं। जीवनके मार्गपर चलते हुए एक स्थान आ जाता है जहां रास्ता दो दिशाओं की तरफ़ फूट निकलता है। एक दिशा भौतिकवादकी तरफ़ ले जाती है, दूसरी अध्यात्मवादकी

तरफ़। भौतिकवादकी तरफ़, प्रकृतिपर विजय पानेकी तरफ़ जो रास्ता जाता है, वह प्रेय-मार्ग है, प्यारा रास्ता है, क्योंकि वह दिलको लुभानेवाला है। अध्यात्मवादकी तरफ़ आत्मा-की विजय पानेकी तरफ़ जो रास्ता जाता है, वह श्रेय-मार्ग है, शुरू-शुरूमें कठिन भले ही प्रतीत हो, अन्तमें मनुष्यका भला, उसका श्रेय उसीमें है। भौतिकवादको वैदिक-संस्कृतिने प्रेय-मार्ग, 'अपरा-विद्या' कहा है, अध्यात्मवादको श्रेय-मार्ग, 'परा-विद्या' कहा है। दोनों मार्ग वैदिक-संस्कृतिके लिये परि-चित मार्ग थे—'द्वे विद्ये वेदितव्ये परा च अपरा च'—परन्तु अपरा पराके लिये है, प्रेय श्रेयके लिये है, भौतिक अध्यात्मके लिये है, मनुष्यका अन्तिम भला, उसे वास्तविक शांति परासे, श्रेयसे, अध्यात्मसे मिल सकती है—यह वैदिक-संस्कृतिका सोचा-समझा हुआ निष्कर्ष था। वैदिक-संस्कृति भौतिकवादको जानती थी, अपरा-विद्यासे परिचित थी, प्रेय-मार्ग उसके लिये कोई नया मार्ग नहीं था, उसे मालूम था कि इस मार्गपर चलनेसे संसारके भोग मिलते हैं, ऐश्वर्य मिलते हैं, प्रकृतिपर विजय पाया जाता है, परन्तु वह इस मार्गपर उतना ही चली थी जितना पराके लिये, श्रेयके लिये, अध्यात्मके लिये, 'आत्म-तत्त्व'के विकासके लिये आवश्यक था। आज हम बेतहाशा प्रकृतिपर विजय पानेके मार्गपर भागे चले जा रहे हैं। किसलिये ? वैदिक-संस्कृतिके विचारक भी इस मार्गपर बेतहाशा भाग सकते थे, उन्होंने जीवनकी यात्रा वर्तमान युगसे तो बहुत पहले शुरू की थी। उन्होंने जान-बूझकर इस मार्गको छोड़ा था, यह जानते हुए छोड़ा था कि इस मार्ग पर चलें तो मनुष्य प्रकृतिका राजा तो बन सकता है, जो चाहे प्रकृतिके पेटमेंसे निकाल सकता है, परन्तु

आत्माका दरिद्र हो जाता है। आखिर, किसलिये प्रकृतिके पेट-को चीरते ही चले जायं, किस उद्देश्यके लिये ? आज प्रकृतिके पेटको चीरकर मनुष्यने एटम बम निकाला, हाईड्रोजन बम निकाला। बुरी चीज़ें निकालीं, अणुशक्तिके प्रयोगसे अच्छी वस्तुएं भी निकल सकती हैं। जो अच्छी वस्तुएं निकलेंगी उनसे मनुष्यको आराम मिलेगा, उसका समय बचेगा, वह अपने समय-को प्रकृतिके और अधिक गहरे अध्ययनमें लगायेगा, और अधिक आरामकी चीज़ें निकालेगा, याज्ञवल्क्यके शब्दोंमें वह भौतिक उपकरणोंसे, साधनोंसे सम्पन्न हो जायगा, परन्तु आत्मिक-शक्ति उसे तब भी नहीं मिलेगी। वैदिक-संस्कृतिके विचारक जानते थे कि अगर वे इस मार्गपर चलते तो वे भी यह सब-कुछ कर सकते थे, परन्तु उन्होंने इस मार्गको छोड़ दिया, यह घोषणा करके छोड़ा कि यह मार्ग बहुत प्यारा मार्ग है, लुभावना मार्ग है, परन्तु इस मार्गपर चलकर मनुष्य मनुष्य नहीं बन सकता, आत्म-तत्त्वका विकास नहीं कर सकता, जिस शाश्वत-शांति और चिर-सुखको पानेके लिये वह अनादिकालसे भटक रहा है उसे नहीं पा सकता।

असली वस्तु क्या है ? मनुष्य प्रकृतिके पेटमें घुसकर उसमेंसे अच्छा-बुरा जो-कुछ है उसे बाहर निकाल लाये, उसका हिमा-लय-जितना एक बड़ा ढेर खड़ा कर दे, चारों तरफ़ भोगके उपकरण इकट्ठे करके उनके बीचमें खड़ा होकर अपनी वाह-वाह करे—यह असल वस्तु है, या आत्म-तत्त्वको समझना, मैं क्या हूं, किधरसे आया हूं, किधर जाना है, यह संसार मेरा लक्ष्य है या लक्ष्यकी तरफ़ जानेका साधन, मेरा लक्ष्य क्या है, उस लक्ष्यको पानेका सही रास्ता क्या है—यह असल वस्तु है ?

वैदिक-संस्कृतिने प्रश्नके दोनों पहलुओंपर सोचा था, और सोच-कर फ़ैसला किया था कि प्रकृतिपर विजय पाना ठीक है, परन्तु प्रकृतिपर ही विजय पाते चले जाना, और सब-कुछ भूल जाना, ग़लत रास्ता है। सही रास्ता, आत्माको लक्ष्यतक पहुंचानेका रास्ता, प्रकृतिकी नहीं आत्माकी विजय पाना है।

आत्मापर विजय पानेका क्या उपाय है? वैदिक-विचारकों का कथन था कि पांच कसौटियोंपर खरा उतरनेपर आत्म-तत्त्व विकासके मार्ग पर चल पड़ता है। इन पांचकी साधना आत्माकी साधना है, इन पांचोंको जीवनमें उतार लेना अध्यात्म-वाद है, इनसे उलटा चलना भौतिकवाद है। वे पांच क्या हैं? अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये पांच वे चट्टानें हैं जो वैदिक-अध्यात्मवादकी नींवको अचल और दृढ़ बनाती हैं। इन चट्टानोंको आधार बनाकर जिस व्यक्ति, जिस समाज और जिस देशके जीवनरूपी भवनका निर्माण होगा वह अडिग होगा, उसे किसी तरहका भूचाल अपने लक्ष्यकी तरफ़ जानेसे रोक नहीं सकेगा। व्यक्ति तथा समाजका जीवन इन्हीं पांच तत्त्वोंमें बंधकर ठीक दिशाकी तरफ़ जाता है, जहां हम इन तत्त्वोंमेंसे किसी एकको भी छोड़ते हैं वहीं हम व्यक्ति, समाज, देशको फिसलता देखते हैं। अध्यात्मवादके लिये ये तत्त्व अटल सत्य हैं, भौतिकवाद इनमें डूबता-उबरता रहता है, कभी हां करता है, कभी नां करता है। हां-नां क्यों करता है, कठोर-नां ही क्यों नहीं कर देता? क्योंकि जो सचाई है वह बरबस अपनेको ज़ाहिर करती है, प्रकाश सदियों के घोरतम अन्धकार-को चीरकर निकल आना चाहता है। 'हिरण्मयेन पात्रेण सत्य-स्यापिहितं मुखम्'—सचाईका मुंह बाहरकी चमक-दमकसे छिपा

हुआ है, परन्तु बादल कबतक सूर्यको ढांक सकते हैं, सूर्यकी किरणें घनघोर घटाओंको छिन्न-भिन्न कर देती हैं, और भौतिकवादके कमज़ोर पर्देके पीछेसे भी अध्यात्मवादकी किरण फूटने लगती हैं, इसलिये भौतिकवाद भी उन अध्यात्म-तत्त्वोंसे निपट इनकार नहीं कर सकता। अध्यात्मवाद के जिन पांच तत्वों, पांच कसौटियों की तरफ़ हमने निर्देश किया वे क्या हैं ?

अहिंसा—

आत्म-तत्वके खरा उतरनेकी सबसे पहली कसौटी 'अहिंसा' है। प्रकृतिमें हम क्या देखते हैं ? बड़ा छोटेको खा रहा है, बलवान् कमज़ोरको जीने नहीं देता। पौधोंमें, पशु-पक्षियोंमें यही नियम काम कर रहा है। वर्तमान विचारक इसे 'स्ट्रगल फ़ॉर एग्ज़िस्टेन्स' (Struggle for existence) कहते हैं, भारत के प्राचीन ग्रंथोंमें इसे मत्स्य-न्याय कहा गया है। 'मत्स्यन्यायाभिभूतं जगत्'—संसारमें मत्स्य-न्याय चल रहा है, बड़ी मछली छोटीको निगल जाती है, जो बड़ी मछली निगलती है उसे फिर उससे बड़ी मछली हड़प जाती है। टैनीसन एक महान् कवि हुआ है। उसने प्रकृतिका वर्णन करते हुए उसे एक ऐसे दानव के रूपमें देखा है जिसके दांत और पंजे ख़ूनसे लथपथ हैं—वह कहता है—Nature red in tooth and claw—प्रकृति जिसके दांत और पंजे ख़ूनसे लाल हो रहे हैं। भौतिकवादका कहना है कि जो प्रकृतिका नियम है वही मनुष्यका नियम है। प्रकृति जब कमज़ोरको जीने नहीं देती तो मनुष्य कमज़ोरको क्यों जीने दे। इसी सिद्धान्तसे युद्धके विचारने जन्म लिया है। शक्तिशाली मनुष्यको, शक्तिशाली समाजको, शक्तिशाली राष्ट्रको

ही जीनेका हक़ है, कमज़ोरको नहीं। इसीलिये जो राष्ट्र शक्ति-शाली हैं वे कमज़ोर राष्ट्रोंको पद-दलित करनेके लिये निकल पड़ते हैं। कोई समय था जब शांतिसे घर बैठे लोगोंको कोई चैनसे नहीं जीने देता था। जिसके जीमें आया, जो फ़ौजें खड़ी कर सका, वह विश्व-विजयका नारा उड़ाता हुआ निकल पड़ा, संसारमें बवंडर खड़ा करके घर लौट आया। जर्मन-जातिका विश्वास था कि वह जाति विश्वका शासन करनेके लिये उत्पन्न हुई है। केवल इस विश्वासके कारण जर्मनीमें ऐसे साहित्यका निर्माण हुआ जिसमें युद्धको प्रकृतिकी अनिवार्य मांग कहा गया, भयंकर युद्ध हुए, करोड़ोंका खून बहा, और मानव-समाज आज भी अभी सोचमें ही पड़ा हुआ है कि एक और विश्वव्यापी युद्ध करे, या न करे। इसी सिद्धान्तको आधार बनाकर अंग्रेज़ोंने अपने साम्राज्यवादके विचारको खड़ा किया। वैदिक-संस्कृति की आध्यात्मिक विचार-धाराने इस दिशामें प्रकृतिको अपना पथ-प्रदर्शक कभी नहीं माना। क्या पौधे, पशु-पक्षी, मछलियां, कीट-पतंग मानवके जीवनकी दिशाका निर्धारण करेंगे? क्या मनुष्य पशु है? मानव-जन्म आगे बढ़नेके लिये है, कीड़े-मकौड़ों को अपनां आदर्श बनाकर उनकी तरफ़ लौटनेके लिये नहीं। इसलिये वैदिक-संस्कृतिने मनुष्यको पशु माननेसे इनकार कर दिया। इसके अतिरिक्त नियम वही होता है जो सार्वत्रिक बन सके, व्यापक बन सके। अगर मत्स्यन्याय ही नियम है, अगर बड़ेने छोटेको खा ही जाना हैं, तो प्रश्न होता है, कौन बड़ा है, कौन छोटा है? बड़ा-छोटा, बलवान्-कमज़ोर, सापेक्षिक शब्द हैं। जिसे हम बड़ा कहते हैं वह किसी एककी दृष्टिसे बड़ा है, किसी दूसरेकी दृष्टिसे छोटा है, जिसे हम बलवान्

कहते हैं वह भी किसी दूसरेकी दृष्टिसे कमज़ोर है। अगर बड़ा ही जीयेगा, छोटा नहीं, बलवान् ही जीयेगा, कमज़ोर नहीं, तब तो संसारमें केवल कोई एक ही जी सकेगा, जो सबसे बड़ा होगा, सबसे बलवान् होगा। सब राष्ट्रोंमें बलशाली राष्ट्र एक होगा, उस राष्ट्रमें भी बलशाली व्यक्ति एक होगा! तब क्या सब राष्ट्र उस एक राष्ट्रके लिये, और वह सम्पूर्ण राष्ट्र उस एक व्यक्तिके लिये समाप्त हो जायगा? संसारमें इस अन्धे, जड़, भौतिकवादी दृष्टि-कोणके लिये प्रयत्न होते रहे, कोशिशें होती रहीं कि एक राष्ट्र सब राष्ट्रोंको दबा लें, और उस एक राष्ट्रमें एक व्यक्ति सारे राष्ट्रको दबाकर रखे। परन्तु ये कोशिशें कामयाब नहीं हुईं, अगर कुछ देरतक हुईं भी तो झट-से प्रतिक्रिया हुई, और मछलियों और पशुओंका नियम मनुष्य-समाजमें चलकर भी न चला। समय था जब राजा-महाराजा होते थे, हमारे देखते-देखते वह समय चला गया, जो रह गया, वह चला जायगा, डिक्टेटरोंका समय आया, वह भी जा रहा है, नहीं गया तो चला जायगा। भौतिक-तत्त्व अध्यात्म-तत्त्वके प्रकट होनेका साधन है, माध्यम है। भौतिकवाद प्रकट होगा, हम कुछ देरतक उसमें टिकेंगे, उसीको सब-कुछ समझेंगे, परन्तु क्योंकि आत्म-तत्त्व भौतिकके बिना अपनेको प्रकट ही नहीं कर सकता इसलिये भौतिक तभीतक टिकेगा जब तक आत्म-तत्त्व उस स्तरसे आगे नहीं निकल जायगा। जहां आत्म-तत्त्व आगे निकला वहीं भौतिकवाद बेजान मट्टीके ढेलेकी तरह गिर जायगा। इसमें अपनी चमक नहीं, अध्यात्मवादकी चमकसे यह चमकता है, उसके जीवनसे यह जीता, उसके प्राणसे अनुप्राणित होता है। हिंसा आत्माका नियम नहीं, जड़ प्रकृतिका नियम है, आत्म-

तत्त्वका नियम अहिंसा है। किसी प्राणीको मारकर खा जाना —यह तो हिंसाका बहुत मोटा, स्थूल रूप है। वैदिक-संस्कृति के ऊंचे अर्थोंमें नानात्व-भावना, भेद-बुद्धि, वह बुद्धि जिससे हम संसारमें जीनेका अपना ही अधिकार समझते हैं, दूसरोंका नहीं, जिससे हमने मानव-समाजको पारस्परिक द्वेष और कलहका अखाड़ा बना रखा है, हम जीयेंगे, दूसरेको नहीं जीने देंगे— यह भावना हिंसा है; हम जीयें, और दूसरेको भी जीने दें, ज़रूरत पड़े तो दूसरोंके जीवनके लिये अपने जीवनकी आहुति दे दें—यह अहिंसा है। अपने लिये दूसरोंको बलि चढ़ा देना अन्धी प्रकृतिका नियम है, मछलियों-कीड़ों-मकौड़ोंका नियम है, जड़ भौतिकवादका नियम है; दूसरोंके लिये अपनेको बलिदान चढ़ा देना आत्म-तत्त्वके विकासका नियम है, मनुष्यका नियम है, चेतन अध्यात्मवादका नियम है। प्रकृतिकी हिंसा उस प्रति-क्रियाको जगानेके लिये है जिसके द्वारा प्रकृतिसे भिन्न यह दैवीय मानव अहिंसाके तत्त्वमें ही अपनी पूर्णताको पा सकता है।

क्या यह आध्यात्मिक सचाई संसारमें अपनेको बार-बार प्रकट नहीं करती? क्या दूसरोंके लिये अपनेको कुर्बान कर देनेवालोंको दुनियाँ ज़िन्दा नहीं कहती? क्या हिंसा, चिल्ला-चिल्लाकर, 'अहिंसा ही सत्य है—अहिंसा ही सत्य है' का नारा नहीं लगाती? क्या क्राईस्टको सूलीपर चढ़ा देनेके बाद मानव-समाजने उसकी पूजा करके अपने पापका सदियोंतक पश्चात्ताप नहीं किया? क्या ब्रूनोको ज़िन्दा जला देनेवालोंने उसके बुत खड़े करके उसकी पूजा नहीं की? क्या इंग्लैंडमें लैटीमरको आगकी लपटोंकी भेंट करनेवालोंने उसके गीत नहीं गाये? क्या दयानन्दने अपने को ज़हर देनेवालेकी जान बचाकर मरते-मरते अपनेको अमर

नहीं बना लिया ? क्या गांधी अहिंसाके अमर सत्यकी साधना में अपने प्राण न्योछावर करके मनुष्योंसे देवताओंकी श्रेणीमें नहीं चला गया ? हम कितने ही ज़ोरदार शब्दोंमें हिंसाका प्रतिपादन करें, इसे प्रकृतिमें देखें, मनुष्य-समाजमें देखें, परन्तु सारा-का-सारा सृष्टिका प्रवाह हिंसासे निकलकर अहिंसाकी तरफ़ जा रहा है, अनेकतासे निकलकर एकताकी तरफ़ जा रहा है, विषमतासे निकलकर समताकी तरफ़ जा रहा है, पारस्परिक द्वेष-कलह-लड़ाई-झगड़ेसे निकलकर प्रेम-शांति-बन्धुत्वके लिये चीख़ रहा है, चिल्ला रहा है, इनके लिये तरस रहा है। क्या यह सब-कुछ होते हुए भी कोई कह सकता है कि सृष्टिका मूल-तत्त्व अहिंसा नहीं, हिंसा है, अध्यात्म नहीं, भौतिक है ? प्रकृतिका नाम लेनेवाले भी आंखें खोलकर प्रकृतिका अध्ययन नहीं करते क्योंकि वहां भी, जहां हिंसा दीखती है, वहां ओटमें अहिंसा बैठी हिंसापर दो टूक आंसू बहा रही होती है।

अहिंसा के इसी तत्त्वको आधार बनाकर महात्मा गांधीने एक विचित्र प्रकारकी विचारधाराको जन्म दिया था। उनका कहना था कि जब हम लड़ते-झगड़ते हैं तब एक बातको भूल जाते हैं। बुराई अलग चीज़ है, और बुराई करनेवाला व्यक्ति, देश या जाति अलग चीज़ हैं। हमें बुराईका विरोध करना है, बुराई करनेवालेका नहीं। बुराई करनेवाला तभीतक बुरा है जबतक वह बुराईको नहीं छोड़ता, उसे छोड़ते ही वह भला हो जाता है। इस दृष्टिसे बुराई करनेवाले से प्रेम करते हुए भी हम उसकी बुराईसे लड़ सकते हैं। इस प्रकारकी लड़ाईमें द्वेष-भावना नहीं उत्पन्न होती। संसारकी समस्याएं ईर्ष्या-द्वेषकी समस्याएं हैं। हम लड़ते हुए ईर्ष्या-द्वेषके आवेशमें आ जाते हैं।

अगर हम बुराई और बुराई करनेवालेको अलग-अलग देखने लगें तो ईर्ष्या-द्वेष-घृणा उत्पन्न ही नहीं हो सकतीं। ईर्ष्या-द्वेष-घृणा मनके आवेग हैं। आवेगको देखकर आवेग बढ़ता है। दूसरेके बढ़ते क्रोधको देखकर हमारा क्रोध बढ़ता है, दूसरा शान्त होता जाय, और हमारा क्रोध बढ़ता जाय—ऐसा नहीं होता। इसलिये क्रोधका मुकाबिला शान्तिसे, घृणाका मुकाविला प्रेमसे करना क्रोध और घृणाके वेगको काट देनेका सही रास्ता है। अंग्रेज़ोंके साथ लड़नेमें महात्मा गांधीने इसी विचार-धारा को क्रियात्मक रूप दिया। उनका कहना था, अंग्रेज़ बुरे नहीं, उनसे हमें घृणा नहीं, उनकी शोषण-नीतिसे हमें लड़ना है, हम अंग्रेज़-जातिके प्रति प्रेम रखते हुए भी उनकी नीतिके प्रति विद्रोहका झंडा खड़ा कर सकते हैं। ऐसा उन्होंने किया भी। इसीका परिणाम है कि १५० सालतक भारतका शोषण करने के बाद जब अंग्रेज़ भारतको छोड़कर चले गये तब भी पीछे कटुताका अंश नहीं दिखाई दिया। वैदिक-संस्कृतिके मूल-तत्त्व अहिंसाको व्यक्ति, देश तथा जातिके जीवनमें जिस प्रणाली द्वारा घटाया जा सकता है उसका नाम महात्मा गांधीने 'अहिंसा-त्मक असहयोग' रखा था। भारतकी स्वतंत्रताकी लड़ाईका अन्तिम अध्याय महात्मा गांधीने लिखा, और इसका शीर्षक है—'अहिंसाद्वारा हिंसापर विजय'! आजतक संसार हिंसाका उत्तर हिंसा ही समझता रहा है, परन्तु वैदिक-संस्कृतिकी घोषणा है—'अक्रोधेन जयेत् क्रोधं असाधुं साधुना जयेत्'—अक्रोधसे क्रोधपर विजय पाया जाता है, साधु बननेमें असाधुको जीता जाता है। आश्चर्य इसी बातका है कि यह सब आंखोंके

सामने देखकर भी संसार हिंसाके मार्गपर ही बढ़ता चला जा रहा है।

सत्य—

आत्माके विकासका दूसरा तत्त्व 'सत्य' है। जैसे संसारमें चारों तरफ़ फैली हिंसाके बीचमें अहिंसा अपना सिर ऊंचा किये खड़ी है, वैसे चारों तरफ़ फैल रहे अनृतमेंसे सत्य ऊंचा सिर किये खड़ा है। अहिंसा तथा सत्यमें एक भेद है। अहिंसाके विरोधमें तो भौतिकवादी युगमें आवाज़ सुनाई देती है, सत्यके विरोधमें भौतिकवाद भी कुछ कहनेका साहस नहीं करता। इसका कारण क्या है? इसका कारण यह है कि सत्य तो आत्म-तत्त्वका ही शुद्ध रूप है। आत्म-तत्त्व प्रकृतिमें उलझा रहता है, जब यह उस उलझनमेंसे निकल आता है, तब यह सत्य-स्वरूप हो जाता है। वेदने कहा है—'तत्त्वं पूषन् अपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये'—सत्यकी भावनामें आत्म-तत्त्वका अधिक-से-अधिक प्रकाश है, आत्म-तत्त्व को निकट-से-निकट देखना सत्यको देखना है। 'ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत'—उस तपोमय आत्म-तत्त्वसे पहले-पहल ऋत तथा सत्य उत्पन्न हुए। ऐसी हालतमें भौतिकवाद भी इस आध्यात्मिक-तत्त्वसे इतना सहमा रहता है कि सत्यके विरुद्ध कुछ कहनेका साहस नहीं कर सकता। परन्तु वह भौतिकवाद ही क्या जो आध्यात्मिक-तत्त्वके आगे पर्दा खड़ा न कर दे। इसका काम ही अध्यात्मका आवरण करना, उसे ढक देना है। यही कारण है कि भौतिकवाद सत्यकी दुहाई देता हुआ भी असत्यकी तरफ़—झूठकी तरफ़ लपकता है। भौतिकवादी-जीवन, असत्यको आधार बनानेका प्रयत्न करता

है। कृत्रिमता क्या है ? जो जैसा हो वह वैसा न दीखे। आजके जीवनमें यही कृत्रिमता चारों तरफ़ छा रही है। अपनी असलीयत कोई ज़ाहिर नहीं होने देना चाहता। दूसरोंका खून पीनेवाला यह चाहता है कि सब उसे दयालु कहें, पद-पदपर झूठ बोलने-वाला यह चाहता है कि लोग उसे सच्चा और ईमानदार कहें, चोर और व्यभिचारी भी अपने को सत्पुरुष और सदाचारी कहलानेका दंभ रचता है—यह सब कृत्रिम जीवन इसीलिये तो चल रहा है कि हम सत्यका नाम लेते हैं, परन्तु असत्यका आचरण करते हैं। हमारा आभ्यन्तर तथा बाह्य जीवन अलग-अलग है। हम जैसे हैं वैसे नहीं प्रकट होना चाहते। अगर कोई हमें पलटकर रख दे, अन्दरका बाहर रख दे, हमारे भीतरसे इतना गंद निकले कि हम अपनेपनसे हीं इन्कार कर दें। हमारी 'प्राइवेट लाइफ़' कुछ और है, 'पब्लिक लाइफ़' कुछ और। हम समझते हैं कि 'प्राइवेट' में हम जो चाहें करें, उसमें हमें पूछनेवाला कोई न हो। व्यक्तिको छोड़ दें, समष्टिमें हम क्या देखते हैं ? जैसे व्यक्ति अपनी असलीयतको छिपाना चाहता है, वैसे समाज और देश अपनी असलीयतको प्रकट होने देना नहीं चाहते। राजनीति वह विज्ञान है जिसमें झूठ बोलना एक कलाका रूप धारण कर गया है। राजनीतिज्ञ अपने मनकी बात वाणीमें और वाणीकी बात क्रियामें नहीं आने देता, वह जो करता है उसे कहता नहीं, जो कहता है उसे न करता है, न सोचता है। यह सब क्यों होता है ? इसीलिये होता है क्योंकि भौतिकवाद सत्यका नाम तो ले लेता है, नाम लेनेके बाद वह इस आध्यात्मिक-तत्त्वको भूल जाना चाहता है। परन्तु सत्यको कैसे भूला जा सकता है ? सत्य तो सूर्य है, सूर्यपर कब-

तक पर्दा पड़ा रह सकता है? संसारमें झूठ भी चलता है, इसमें सन्देह नहीं, परन्तु झूठ कबतक चलता है? झूठ तबतक चलता है जबतक झूठको दुनियां सत्य समझती है। जहां पता चला कि यह झूठ है वहां क्या वह एक क्षण भी टिकता है? खोटा सिक्का बाज़ारमें तभीतक चलता है जबतक लोग उसे खरा समझते हैं। यह पता लगते ही कि यह खोटा है कोई उसे छूतातक नहीं। आत्म-तत्त्वका प्रकृतिमें उलझकर अनृतमें, झूठ-में, मिथ्यामें उलझ जाना भौतिकवाद है, उसमेंसे निकलकर—'अनृतात्सत्यमुपैमि'—अनृतसे सत्यकी तरफ़, मिथ्यासे यथार्थ-की तरफ़ मुड़ जाना—अध्यात्मवाद है।

भौतिक-जगत्में जो स्थान प्रकाशका है, आध्यात्मिक-जगत्में वही स्थान सत्यका है। प्रकाशको ढका जा सकता है, परन्तु उसकी किरणें फूट-फूटकर निकलती हैं। सत्यको भी ढका जा सकता है, परन्तु प्रकाशकी तरह सत्य भी फूट-फूटकर निकलता है। सत्य ही आत्म-तत्त्व है, आत्म-अनात्मका झगड़ा सत्य-अनृतका झगड़ा है, अंधेरे-उजेलेका झगड़ा है। प्रकाश भौतिक है, वह बुझ सकता है, परन्तु सत्य अभौतिक है, आध्या-त्मिक है, वह ढक भले ही जाय, मिटता कभी नहीं है। तभी असत्यके घटाटोप खड़ा कर देनेपर भी सत्य उसमेंसे झांका करता है। क्या हम अपने जीवनमें नहीं देखते कि हर बातमें दूध-का-दूध और पानी-का-पानी झलक उठता है। जैसे प्रकाश-का स्वरूप अपनेको प्रकाशित करना है, वैसे सत्य हर समय अपनेको प्रकाशित करनेके मार्गपर जा रहा है। रुकावटें आती हैं, इसे ढंकनेके लिये प्रकृति अपने आवरण फेंकती है, परन्तु सत्य उन सबको ठोकर मारता हुआ आगे बढ़ जाता है। 'सत्य-

मेव जयते नानृतम्' का घोष करनेवालोंने योंही कोई बात नहीं कह दी थी, उन्होंने एक अमर और अटल तत्त्वकी घोषणा की थी।

अस्तेय—

अध्यात्मवादकी तीसरी परख 'अस्तेय' है। भौतिकवाद प्रकृतिसे परे, और प्रकृतिमें भी भोग-ऐश्वर्यसे परे कुछ नहीं देखता। संसारके भोग-ऐश्वर्य पैसेसे मिलते हैं, अतः उसके लिये पैसा परमेश्वर है। पैसेका किसी तरहसे अपने पास ढेर लगा लेना—यह भौतिवादका दर्शन है, शास्त्र, सब-कुछ है। पैसा एक जगह जमा हो जाता है तो दूसरी जगह ख़ाली हो जाती है, अमीर-ग़रीबकी समस्या उठ खड़ी होती है। आज लाखों हैं जिन्हें पता नहीं कि उनके पास जो सम्पत्ति है उसका क्या करें, करोड़ों हैं जिनके पास भरपेट खानेको भी नहीं। पैसा सब-कुछ है, इसलिये पैसेके लिये सब पागल फिरते हैं, हरेक अपने-अपने दायरेमें गठकतरा, चोर, डाकू और लुटेरा है। डाक्टर बढ़ रहे हैं, डाक्टरों के साथ बीमारी बढ़ रही है; वकील बढ़ रहे हैं, वकीलोंके साथ मुकदमेबाज़ी बढ़ रही है; पुलिस बढ़ रही है, पुलिसके साथ अपराध बढ़ रहे हैं; हरेकका हाथ अपनी जेबमें नहीं, दूसरेकी जेब में है। हरेक ठग है, और हरेक ठगा जा रहा है। जीवनकी जो दिशा व्यक्तिकी है, वही समाजकी है। बड़े-बड़े देश, बड़ी-बड़ी जातियां एक दूसरेसे छीना-झपटीमें पड़ी हुई हैं। जब बाकायदा लूटा जा सकता था तब लूटती थीं, जब लूटनेका अर्थ कुछ बुरा समझा जाने लगा तब लूटनेको 'राज करना' कहने लगीं, जब दूसरेपर राज करना भी बुरा

समझा जाने लगा जब राज्यका विस्तार करनेके स्थानमें वे अपने 'प्रभावका क्षेत्र' विस्तृत करने लगीं। अपना जो-कुछ है उससे संतुष्ट न होकर दूसरेके पास जो-कुछ है, उसे हर उपाय से हड़प लेनेकी प्रवृत्ति भौतिकवादी प्रवृत्ति है, इसे वैदिक-संस्कृतिमें स्तेय, चोरी कहा गया है। वैदिक-संस्कृतिके विचारकों का कहना था कि भौतिकवाद टिक नहीं सकता, जिस क्षण यह पांव गड़ानेकी कोशिश करता है उसी क्षण इसीमेंसे प्रतिक्रिया उत्पन्न होकर इसका नाश कर देती है। भौतिकवाद एक परस्पर-विरोधी विचार है। क्या हम देख नहीं रहे कि भौतिकवादके पैसेके विचारने पूंजीवादको जन्म दिया, और पूंजीवादने ही अपनेको समाप्त कर देनेवाले समाजवादको जन्म दे दिया। पूंजीवादके पेटमेंसे समाजवादका जन्म ले लेना सिद्ध करता है कि यथार्थ सत्य भौतिकवाद नहीं, अध्यात्मवाद है। समता आध्यात्मिक सचाई है। वैदिक-संस्कृति विषमताका नहीं समता-का पाठ पढ़ाती है। भौतिकवादी संस्कृति जगह-जगह देखती है, कौन वस्तु मेरी नहीं तेरी है, जो तेरी है उसे किस तरह मेरी बनाया जाय; आध्यात्मिक संस्कृति जगह-जगह देखती है, कौन वस्तु तेरी है मेरी नहीं, जो मेरी नहीं उसे किस तरह तेरी बनाया जाय! इसीका नाम अस्तेय है। आज हम दूसरेकी वस्तुपर अधिकार जमानेके मंसूबे बांधते हैं, दूसरे की मेहनत-मज़दूरीको मुफ़्तमें या सस्तेमें लेना चाहते हैं—यह चोरी है। दूकानदार खरा पैसा लेकर खोटा माल देना चाहता है, अहल-कार रिश्वत लेकर इन्साफ़ बेचना चाहता है, धर्म-गुरु शिष्योंसे दान-दक्षिणा लेकर उन्हें निरा बेवकूफ़ रखना चाहता है—यह सब चोरी है। इसी प्रकार अगर किसी देशके शासक प्रजासे

टैक्स वसूल करके उसका ठीक हिसाब नहीं रखते, उसे ऐशो-आराममें, बड़ी-बड़ी तनख़्वाहोंमें और फ़िज़ूलख़र्चीमें जाने देते हैं, तो वे भी चोर हैं। चोर कहलाना तो भौतिकवादी सभ्यतामें भी कोई नहीं चाहता—सब यह चाहते हैं कि चोरी कर लें परन्तु चोर न कहलायें। क्यों न कहलायें? इसलिये क्योंकि हमारी अन्तरात्माकी पुकार है कि विश्वका आधार-भूत तत्त्व स्तेय नहीं, अस्तेय है, छीना-झपटी नहीं, लेना-देना है। आवश्य-कताओंको बढ़ानेसे ही तो छीना-झपटी चलती है। अस्तेयका दूसरा अर्थ आवश्यकताओंको घटाना है। भौतिकवादी संस्कृति-का श्रीगणेश ही आवश्यकताओंको बढ़ानेसे होता है। आवश्यक-ताएं हैं, उन्हें पूरा करनेके लिये पदार्थोंका 'उत्पादन' (Pro-duction) होता है, उत्पादनके बाद 'विभाग' (Distribution) होता है, विभाग कभी सम कभी विषम होता है, विषम-विभाग होनेसे पूंजीवाद उत्पन्न हो जाता है—और फिर यह लम्बा-चौड़ा सिलसिला चल पड़ता है जिसमें कल-कारख़ाने, पूंजीपति-मज़दूर, ज़रूरतसे ज़्यादा पैदा हो जाना—ये सब समस्याएँ उठ खड़ी होती हैं। आवश्यकताओंको बिल्कुल समाप्त भी नहीं किया जा सकता। मनुष्यकी कुछ-न-कुछ आवश्यकताएँ तो हर समय बनी ही रहेंगी, परन्तु उस हालतमें, हरेक व्यक्तिकी आवश्यकताएँ कम होनेके कारण स्तेयका, छीना-झपटीका दृष्टि-कोण नहीं रहेगा और इन समस्याओंकी जटिलता हट जायगी।

वैदिक-संस्कृतिका विचार था कि मेरे पास दूसरेकी कोई वस्तु न रह जाय। इसीको उन्होंने ऋणका नाम दिया था। ऋण तीन तरहके थे—पितृ-ऋण, देव-ऋण, ऋषि-ऋण। रुपये-पैसे की चोरी तो उनमें कहीं कोई भूलकर होती थी। खाने-पीनेकी

चीज़ें जुटानेमें सब लोग दिन-रात नहीं लगे रहते थे, खाने-पीने से ऊंचा भी कोई काम है—इस बातको वे समझते थे, इसलिये सबको भरपूर खानेको मिलता था, फिर चोरी कैसे होती ? उपनिषत्में अश्वपति कैकय कहते हैं—'न मे स्तेनो जनपदे'— मेरे राज्यमें कोई चोर नहीं । आज जब हरेक चोर बना हुआ है, ऐसी घोषणा हमें चौंका देती है, परन्तु चोरी तो जीवनके प्रति एक ख़ास दृष्टि-कोणका परिणाम है । अगर आवश्य-कताओंको पूर्ण करना ही जीवनका लक्ष्य है, और भौतिक आवश्यकताएं ही आवश्यकताएं हैं, तब चोरी और छीना-झपटी नहीं होगी तो क्या होगा ? वैदिक-संस्कृतिका दृष्टिकोण यह नहीं था इसलिये उसमें रुपये-पैसेका कोई ऋण नहीं था । पैसे को वे इतना ही समझते थे जितना यह है, इससे ज्यादा नहीं, इसलिये पैसेके लिये उनमें मारामारी नहीं होती थी । चन्द्रगुप्त के समय जब मैगस्थनीज़ भारत आया तब उसने देखा कि यहां लोग रातको मकानोंमें ताले लगाकर नहीं सोते थे । रातको वे दरवाज़े खोलकर सोते थे और चांदकी किरणोंके सिवा दूसरा कोई मकानमें नहीं घुसता था । ऋण कौन-से थे ? माता-पिता ने हमें जन्म दिया, हमें गृहस्थाश्रम द्वारा अपनेसे बेहतर सन्तान संसारमें छोड़ जानी है, इस प्रकार 'पितृ-ऋण' चुकाया जाता था ; गुरुओंने अपने आश्रमोंमें बैठकर हमें विद्या-दान दिया, हमें वानप्रस्थाश्रममें प्रवेश करके दूसरोंके बच्चोंको भी विद्या-दान देना है, इस प्रकार 'देव-ऋण' चुकाया जाता था ; संन्यासियोंने सब-कुछ त्यागकर संसारका भला किया, उसमें हमारा भी भला हुआ, यह हमारे प्रति उनका ऋण है, इस ऋषि-ऋणको अपनी आयुमें संन्यासी बनकर चुकाया जाता था।

इतना सब-कुछ चुकानेके बाद भी हमारे सिर किसीका कोई कर्ज़ा न रहे, इसलिये पांच यज्ञोंकी कल्पना की गई थी। यज्ञ का अर्थ है—दान। तीन ऋण थे, तो पांच यज्ञ थे, तीन रास्तों से तो देते ही थे, फिर पांच रास्तोंसे भी देते थे। भौतिकवादमें जीवन-का लक्ष्य लेना-लेना है, अध्यात्मवादमें जीवनका लक्ष्य देना-देना है। आत्माका विकास लेनेमें नहीं देनेमें है, जोड़नेमें नहीं छोड़ने में है। यह ठीक है कि आत्मा प्रकृतिमें इतना बंधा पड़ा है कि उसे प्रकृति-जैसा बन जानेमें, लेनेमें, जोड़नेमें ही आनन्द आता है, परन्तु लेनेके बाद देनेमें, जोड़नेके बाद छोड़नेमें, प्रकृतिसे अपने खोये हुए रूपको निकाल लेनेमें जो आनन्द और मस्ती आती है वह लेने-ही-लेनेके आनन्द और मस्तीसे बहुत ऊंची होती है—यही सिद्ध करता है कि विश्वके विकासका तत्त्व स्तेय नहीं अस्तेय है, भौतिक नहीं आध्यात्मिक है।

ब्रह्मचर्य—

अध्यात्मवादका चौथा तत्त्व 'ब्रह्मचर्य' है। भौतिकवाद संसारमें भोगके सिवा कुछ नहीं देखता, वैदिक-संस्कृतिका अध्यात्मवाद भोगको त्यागकी तरफ़ जानेका साधन समझता है। संसारमें भोग है, ऐश्वर्य है—इससे कौन इनकार कर सकता है, परन्तु क्या कोई भोग अन्ततक टिका है? अच्छे-से-अच्छा भोजन मुखमें जाकर कुछ देर स्वादिष्ट प्रतीत होता है, चबाते-चबाते उसका स्वाद चला जाता है, देरतक उसे मुँहमें रखा नहीं जा सकता—शक्कर भी तो देरतक मुँहमें पड़ी रहे तो मीठी नहीं रहती। विषयोंका रस क्षणिक है, देरपा नहीं, इसलिये हमें विषयोंमें भटकनेके स्थानपर विषयोंमेंसे निकलना सीखना

है, इन्द्रियोंको खुला छोड़ देनेके स्थानपर उन्हें वशमें करना, संयम में रखना सीखना है। प्रकृतिके विषय आत्म-तत्त्वको सांसारिक भोग-ऐश्वर्यमें बांधकर, तुच्छ, क्षुद्र पदार्थोंमें अटका देते हैं। वह इन्हींको अपना रूप समझने लगता है, इनसे एकात्मता स्थापित करने लगता है, इन्हींमें अहंकार-बुद्धि उत्पन्न कर लेता है। इनसे हटकर, छोटेपनसे बड़ेपनकी तरफ़ चल देना, विषयोंमें अपने स्वरूपको खो देनेके स्थानमें आत्म-तत्त्वकी अपनी महान् सत्ताको पहचानना 'ब्रह्मचर्य' है। 'ब्रह्म' का अर्थ है बड़ा, महान्, विशाल। 'चर्य' शब्द 'चर गति-भक्षणयोः'—धातुसे निकला है जिसका अर्थ है, चलना, गति करना। ब्रह्म होनेके लिये, क्षुद्रसे महान् होनेके लिये, विषयोंके छोटे-छोटे रूपोंमेंसे निकलकर, आत्म-तत्त्वके विराट् रूपमें अपनेको अनुभव करनेके लिये चल पड़ना 'ब्रह्मचर्य' है। भौतिकवाद मनुष्यको अल्प बनाता है, तुच्छ और क्षुद्र बनाता है। जहाँ कहीं वह विषयरूपी मीठेकी छोटी-सी डली पड़ी देखता है वहीं चींटीकी तरह चिपक जाता है, उस छोटी-सी डलीको वह सब-कुछ समझने लगता है, उसका रस चूसने लगता है। परन्तु चींटी भी तो मीठेके दानेके साथ कुछ देर ही, उलझकर, उसका रस चूसकर उसे छोड़ देती है, आगे निकल जाती है, मिठासके दूसरे दानेकी तलाश करती है। मनुष्य भी एक विषय को छोड़कर दूसरे विषयपर लपकता है, दूसरेसे तीसरेपर और इस प्रकार भौतिकवादमें सारी आयु लपकनेमें बिता देता है। अध्यात्मवादका कहना है कि संसारके विषय बोल-बोलकर अपनी तुच्छता जता रहे हैं, इनकी रचना ही इस प्रकारकी है कि ये खुद अपनी निःसारता कह उठते हैं, इनकी यथार्थता इसीमें है कि ये अपना अनुभव करायें, विषयोंमेंसे आवाज़

निकल रही है—'नाल्पे सुखमस्ति भूमा वै सुखम्'—अल्पतामें सुख नहीं, महानतामें ही सुख है। जीवनके प्रति यह दृष्टि-कोण वन जाना 'ब्रह्म' अर्थात् वड़े होनेके मार्गपर चल पड़ना है—यही ब्रह्मचर्य है।

ब्रह्मचर्यके इस विस्तृत अर्थके साथ इसका एक संकुचित अर्थ भी है। जो व्यक्ति महान् बननेके मार्गपर चलता है उसके लिये इन्द्रियोंको विषयोंमेंसे खींचकर उनपर संयम रखना, उन्हें अपने वशमें करना आवश्यक है। विषयोंमें ही तो 'अल्पता' है। उनमेंसे निकलना ही तो अल्पतासे निकलना, 'भूमा'में प्रवेश करना है, इसीका नाम 'अहं ब्रह्मास्मि' है—अर्थात् मैं छोटा नहीं हूं, ब्रह्म हूं—महान हूं। इस दृष्टिसे ब्रह्मचर्यका विस्तृत अर्थ जहां महान् बनना है, वहां संकुचित अर्थ संयम करना है। दूसरे शब्दमें यह कहा जा सकता है कि ब्रह्मचर्यके दो पहलू हैं—एक विचारात्मक, दूसरा क्रियात्मक। महान् बनना विचारात्मक पहलू है, यह ब्रह्मचारीका आदर्श है; संयमी वनना उसीका क्रियात्मक पहलू है, क्योंकि संयमी होकर, क्षुद्र वननेवाले विषयोंमेंसे निकलकर ही, वह महान् बनता है। संयम शब्द भी बहुत विस्तृत है। आंख, कान, नाक, जिह्वा आदि जितनी इन्द्रियां हैं, वे अपना-अपना रस ढूँढ़ती हैं। आत्म-तत्त्व इनके छोटे-छोटे विषयोंमें खोया-खोया न फिरे, यह संयम है, यह ब्रह्मचर्य है, सिर्फ़ वीर्य-रक्षा ही ब्रह्मचर्य नहीं है। ब्रह्मचारीको दीक्षा देते हुए कहा जाता था, ज़्यादा मत खाना, ज़्यादा मत सोना, ज़्यादा मत खेलना, ज़्याद कुछ मत करना। ब्रह्मचर्य शब्दका इन सब वातोंके लिये—संयमके लिये—विस्तृत अर्थोंमें प्रयोग होते हुए भी एक संकुचित अर्थमें भी प्रयोग होता था।

सब विषयोंकी जड़ काम-वासना है। जितने विषय हैं सबका लक्ष्य इस वासनाको जगाना है। ब्रह्मचारीका मुख्य लक्ष्य इस वासनापर क़ाबू पाना था। ब्रह्मचर्यका स्थूल, सर्व-साधारणकी भाषामें अर्थ था, काम-वासनापर आधिपत्य पा जाना। भौतिकवादी जगत् फ्रॉयडका नाम लेकर कह उठता है कि काम-वासना दबाये दबती नहीं, जितना इसे दबाया जाय, उतनी ही यह चमक उठती है, मानसिक-रोग उत्पन्न कर देती है, अतः यह मार्ग ग़लत है। ऐसी बात नहीं है। आजकलके मनोविश्लेषणवादी जो-कुछ कहते हैं वह यह है कि इच्छा दबाये दबती नहीं, अन्तश्चेतनामें जाकर और अधिक क्रियाशील हो जाती है, और भिन्न-भिन्न तौरसे मनको विक्षिप्त करती रहती है। परन्तु कौन-सी इच्छा ? वह इच्छा जिसे हम अन्तःकरणसे तो बुरा नहीं समझते, हां, समाजके भयसे बुरा समझते हैं। कोई दूसरा जान न पाये, देख न ले—इसलिये उसे दबाते हैं, इसलिये नहीं दबाते क्योंकि हम अन्तःकरणसे उसे बुरा समझते हैं। ऐसी इच्छा जब दबती है तब अन्दर-अन्दर हम उसका मज़ा लेते हैं, बाहर उसे ज़ाहिर नहीं होने देना चाहते। फिर वह इच्छा अनर्थ क्यों नहीं उत्पन्न करेगी, वह तो देगचीके ढक्कनके नीचे भापका ज़ोर पकड़ रही है। वैदिक-संस्कृतिके विचारक भी तो कहते थे—'वनेपि रागाः प्रभवन्ति योगिनाम्' —जंगलमें भाग जानेसे ही वासना नहीं चली जाती। असली चीज़ अन्तःकरण है। जब हम अन्तःकरणसे वासनाको बुरा समझकर उसे नष्ट कर डालते हैं, समाजके भयसे केवल उसे दबा नहीं देते, तब हम देगचीमेंसे पानी निकालकर बाहर फेंक देते हैं, भाप बनने ही नहीं देते जो जोर पकड़े। इसके अति-

रिक्त फ्रॉयड भी तो यह नहीं कहता कि मनुष्य-जीवनमें ऊधम मचानेके लिये काम-वासनाको खुला छोड़ दिया जाय, वह भी तो यही कहता है कि इस वासनाका 'रूपान्तर' हो सकता है। इस दृष्टिसे विचार किया जाय तो भी ब्रह्मचारीका जीवन काम-वासनाके रूपान्तरणका जीवन है। जो हर समय शारीरिक तथा मानसिक श्रममें लगा रहेगा उसे काम-वासना कब आ पकड़ेगी ? वर्तमान युगके आदित्य ब्रह्मचारी ऋषि दयानन्द से किसीने पूछा—भगवन् ! क्या आपको काम-भाव कभी नहीं सताता ? उन्होंने उत्तर दिया, वह आता है, दरवाज़ा खटखटाता है, परन्तु मुझे कार्यमें लीन देखकर अपना-सा मुँह लिये लौट जाता है। असलमें यह वासना मनुष्यपर इतनी नहीं चढ़ी रहती जितना भौतिकवादी दृष्टिकोणसे हम इसे सिरपर चढ़ा लेते हैं। जहां चारों तरफ सिनेमामें गन्दे-गन्दे दृश्य कलाका नाम लेकर नवयुवकोंको दिखाये जाते हों, जहां प्रतिदिन रेडियो पर वेश्याओंद्वारा गीत संगीतके नामसे सुनाये जाते हों, जहां पाठ्य-पुस्तकोंमें कामुकता और विलासिताकी बातें साहित्यके नामसे पढ़ाई जाती हों, वहां अगर कामदेव हमारे युवकोंके ठीक सिरपर चढ़कर उनकी चोटी पकड़कर बैठ जाय तो आश्चर्य ही क्या है ? कौन पूछता है, हमारे बच्चोंका क्या बनता है, क्या बिगड़ता है। हम लेक्चरबाज़ी करते रहते हैं, इतना चिल्लाकर शान्त हो जाते हैं कि बच्चोंको सदाचारी बनना चाहिए। वैदिक-संस्कृतिने जातिके बच्चोंको सदाचारी बनानेका एक कार्य-क्रम बनाया था, और उसे जीवनमें घटाया था। सात वर्षका हरेक बच्चा एक योग्य गुरुकी देख-रेखमें रख दिया जाता था, ऐसा गुरु जो अनुभवी होता था, जीवनकी ऊंच-नीचमेंसे

गुज़र चुका होता था, जो सब काम-काज छोड़कर वानप्रस्थी बनकर सिर्फ़ शिक्षाके काममें जुट जाता था। बालकको 'विद्यार्थी' नहीं कहा जाता था, उसे 'ब्रह्मचारी' कहा जाता था, हर क्षण उसे एक ही विचार होता था—उसे ब्रह्मचारी बनना है, अपने आचारको बनाना है, इन्द्रियोंपर काबू पाना है, आराम के नहीं तपस्याके दिन काटने हैं। ऐसा बालक जब किसी देवीको देखता था तब उसे बहिन या मां कहकर पुकारता था—'मातृवत् पर-दारेषु'—यह वैदिक-संस्कृतिका नारा था। आज हमारे बालक जब किसी लड़कीको देखते हैं तो चुहुलबाज़ी करते हैं। क्यों न करें, भौतिकवादने उनके दिमाग़मेंसे इस विचारको निकाल दिया है कि सब लड़कियां उनकी बहिनोंके समान हैं। रावण जब सीताको ले भागा, सीता रास्तेमें अपने कानके, पैरके आभूषण नीचे फेंकती गई। सुग्रीवके हाथ वे आभूषण पड़ गये। सुग्रीवने वे आभूषण रामचन्द्रजीको देकर पूछा, क्या ये आपकी सीताके हैं? रामने लक्ष्मणके हाथमें उन्हें देते हुए कहा, भाई लक्ष्मण! पहचानो, ये आभूषण सीताके ही हैं क्या? लक्ष्मणने क्या उत्तर दिया? रामायणमें वाल्मीकि ऋषि लिखते हैं, लक्ष्मणने कहा—'नाहं जानामि केयूरे नाहं जानामि कुण्डले, नूपुरे त्वभिजानामि नित्यं पदाभिवन्दनात्'—मैं सीता माताके मुखके आभूषणको तो नहीं पहचानता, हाँ उनके पाँवोंके नूपरों को पहचानता हूं, क्योंकि मैं नित्य-प्रति उनके चरणोंकी वन्दना किया करता था। यह बात भले ही कविने अपनी तरफ़से कही हो, परन्तु वैदिक-संस्कृतिके आदर्शको तो सूचित करती है। जब जीवनका दृष्टिकोण ही भौतिकवादी हो तब मां-बहिन की दृष्टि कहां रह सकती है!

आज इस बातकी बड़ी जबर्दस्त चर्चा है कि सन्तति-निरोध होना चाहिये, जन-संख्या बहुत बढ़ती जा रही है, खानेवाले इतने हैं कि सबका पेट भरने जितना अनाज नहीं पैदा हो सकता। कृत्रिम उपायोंसे सन्तति-नियमनका प्रचार कैसे हो, इसपर सम्मेलन बुलाये जा रहे हैं, इन साधनोंका इस्तेमाल सिखानेके लिये क्लिनिक खोले जा रहे हैं। ये सब विषय-वासनाको और भड़कानेकी बातें हैं। यह क्यों समझा जाता है कि मनुष्य संयमसे नहीं रह सकता, वह अपनेको काबूमें नहीं रख सकता, काम-देवका भूत उसके सिरपर चढ़ा-ही-चढ़ा रहता है? यह इसलिये क्योंकि वातावरण चारों तरफ़ इस एक वासनासे भरा पड़ा है, एक-एक ईंट और एक-एक रोड़ेके नीचे कामुकताके विचार मनुष्यको परास्त करनेके लिये कमर बांधकर बैठे हैं। ऐसी हालतमें काम-वासनाको कौन रोके, ब्रह्मचर्यका कौन नाम ले? हमारा भौतिकवादी समाज काम-वासनाको बढ़ा रहा है इसलिये इस वासनाका मुकाबिला करने के स्थानमें इस बातको खुली छूट दे रहा है, इस वासनाके अवश्यंभावी परिणामोंसे कृत्रिम उपायोंका सहारा लेकर बचना चाहता है। कृत्रिम उपायों से सन्तति-नियमन तो हो जायगा, परन्तु उनके निर्बाध प्रचारसे मनुष्यको पथ-भ्रष्ट न होने देनेकी अब जो थोड़ी-बहुत रोक-थाम बनी हुई है वह हट जायगी, और उच्छृंखलता और विलासिता अपना नंगा नाच नाचने लगेगी। एक बीमारी दूर होगी, उससे भयंकर बीमारी और उठ खड़ी होगी, ऐसी बीमारी जो फिर किसी डाक्टरके इलाजसे दूर न होगी। वैदिक-संस्कृतिमें गृहस्थ-के लिये ब्रह्मचारी रहनेको कहा गया है। ब्रह्मचर्य-पूर्वक जो गृहस्थ-धर्मका पालन करेगा उसके सामने सन्तति-नियमनकी

कोई समस्या ही नहीं होगी। परन्तु हां, यह ठीक है कि सारे वातावरणको कामुकतासे भर देने के बाद ब्रह्मचर्य-पूर्वक गृहस्थ-जीवन बितानेकी शिक्षा नहीं दी जा सकती। वैदिक-संस्कृतिकी दृष्टिसे सन्तति-नियमनका प्रश्न समाजके सम्पूर्ण वातावरण को पलट देनेका प्रश्न है, संयमकी लहर चला देनेका, ब्रह्मचर्यकी भावना को जागृत कर देनेका प्रश्न है। माता-पिताके दिमाग़में यह बात घर कर जानेकी ज़रूरत है कि उन्हें अपने पीछे अपनेसे उत्तम सन्तानको छोड़ जाना है, ऐसी संतान जो गधीकी दस सन्तानोंके समान न होकर शेरनीकी एक सन्तानके समान हो। 'एकेनैव सुपुत्रेण सिंही स्वपिति निर्भयम्, सहैव दशभिः पुत्रैः भारं वहति गर्दभी'—शेरनीकी एक सन्तान हो वह आरामसे सोती है, गधीके दस सन्तानें हों, सब भार ढोती हैं। इस भावनाको लेकर ही तो वैदिक-संस्कृतिने संस्कारोंकी प्रथाको जन्म दिया था—ऐसी प्रथा जिसका उद्देश्य ही आध्यात्मिक दृष्टि-कोणसे संतति-नियमन या नव-मानवका निर्माण था। कृत्रिम उपायोंसे सन्तति-नियमनकी इतनी आवश्यकता नहीं है जितनी ब्रह्मचर्यकी इस आध्यात्मिक-भावनाको जगानेकी कि जो सन्तान मानव-समाजमें जन्म ले वह वैसी हो जैसी हम चाहें। ब्रह्मचर्यका यह व्यापक दृष्टि-कोण अध्यात्मवादी दृष्टि-कोण है, भौतिकवादका भी वास्तविक भला इसीमें है, जिस रास्तेपर वह चला जा रहा है उसमें नहीं।

अपरिग्रह—

आत्म-तत्त्वको प्रकृतिके बन्धनमेंसे छुड़ानेवाला पांचवां तत्त्व 'अपरिग्रह' है। 'परि'का अर्थ है चारों तरफ़से, 'ग्रह'का अर्थ है

ग्रहण करना, पकड़ना। 'परिग्रह'का अर्थ हुआ किसी चीज़को कसकर चारों तरफ़से पकड़ लेना; 'अपरिग्रह'का अर्थ हुआ, पकड़को ढीला कर देना, छोड़ देना। भौतिकवाद क्योंकि भोग-ऐश्वर्यको ही जीवनका चरम लक्ष्य मानता है इसलिये यह संसारको पकड़कर बैठ जाता है। ऐसा पकड़कर बैठता है कि यह खुद भले ही टूट जाय, इसका भोग न टूटे। परन्तु क्या यह हो सकनेवाली बात है ? कौन-सा भोग है जो संसारमें अन्ततक टिक सके। भोगकी रचना ही ऐसी है कि भोगनेके बाद उसमें-से मनुष्य हट जाता है, नहीं हटता तो भोग से ही घृणा हो जाती है। भौतिकवाद इस प्रक्रियाको देखता हुआ भी भोगसे चिपटा हुआ है, इसे छोड़नेका नाम नहीं लेता। यह आत्म-तत्त्व-का नियम है—भोगो और भोगकर स्वयं हट जाओ। अध्यात्म-वादमें इसीको 'अपरिग्रह' कहा है। हम संसारमें आये, संसार भोगनेके लिये है, हमने इसे भोगा—परन्तु संसारसे हमें जाना भी तो है, यह सदा टिकनेकी जगह तो नहीं। संसार में हमारा आना जितना बड़ा सत्य है, संसारसे हमारा जाना भी तो उतना ही बड़ा सत्य है। जीवनकी पूर्णता इसीमें है कि इन दोनों सचाइयोंका मेल किया जाय, समन्वय किया जाय। वैदिक-संस्कृति संसारके सुख-ऐश्वर्यको भोगनेसे मना नहीं करती थी, परन्तु भोगते हुए भोगमें डूब नहीं जाती थी—भोगके साथ त्यागको स्मरण रखती थी, क्योंकि संसारकी अन्तिम सचाई भोग नहीं, भोगमेंसे गुज़रकर, त्यागकी तरफ़ जाना है, प्रवृत्ति नहीं, प्रवृत्ति-मेंसे गुज़रकर, निवृत्तिकी तरफ़ जाना है। जब संसार छोड़ना है तब खुद छोड़ें, या ज़बर्दस्ती, छुड़वानेसे छोड़ें—यही तो सोचने-की बात रह जाती है, छोड़ें या न छोड़ें—यह बात तो नहीं

रहती। वैदिक-संस्कृतिने अध्यात्मवादके इस नियमको जीवनमें व्यापक रूप दे दिया था—चारों आश्रमोंकी व्यवस्था इसी सत्य-को लेकर की गई थी। संसारके सब भोग त्यागके लिये हैं, सब प्रवृत्तियां निवृत्तिके लिये हैं—यही 'अपरिग्रह' था। आज हम छोटी-छोटी चीज़ोंसे ऐसे चिपटते हैं मानो उन्हींमें हमारे प्राण अटके हों, उन्हींमें हमारा सर्वस्व हो। कोई किसी सभा-सोसाइटी-का मंत्री-प्रधान हो जाता है, वह स्वयं उस पदको नहीं छोड़ता जबतक उससे छुड़वा नहीं दिया जाता, हम घरबारमें अपने बाल-बच्चोंकी उन्नतिमें रुकावट बनकर तबतकके लिये बैठ जाते हैं जबतक मृत्यु हमें निकम्मा घोषित कर उठाकर नहीं फेंक देती।

'अस्तेय' और 'अपरिग्रह' में भेद है। संसारमें दो प्रवृत्तियां चल रही हैं। ज़रूरतके लिये भोग्य-पदार्थोंका लेना तो टल नहीं सकता, परन्तु हम बिना ज़रूरतके भी हर चीज़को लेनेकी कोशिश करते हैं। जब हर चीज़को लेना है, तो हर उपायसे लेते हैं। जितना अपनी आवश्यकताके लिये ज़रूरी है उतना संग्रह करना, उससे अधिक संग्रह न करना 'अस्तेय' है। हर चीज़पर हाथ मारना, ज़रूरी हो-न हो, हमें तो लेना-ही-लेना है—यह 'स्तेय' है। स्तेय-अस्तेयकी इन दो प्रवृत्तियोंके बाद एक तीसरी प्रवृत्ति है। समय आता है जब जो-कुछ हमने अपनी आवश्यकताके लिये बटोरा है, संग्रह किया है, उसकी भी आव-श्यकता नहीं रहती, वह काम दे चुका होता है। उस समय उसे छोड़ देना, उस समय उससे चिपटे न रहना 'अपरिग्रह' है, न छोड़ना, उस समय भी उससे चिपटे रहना 'परिग्रह' है। ज़रूरतसे ज़्यादा न लेना 'अस्तेय' है, ज़रूरतके लिये जो-कुछ

लिया है उसे भी समयपर छोड़ देना 'अपरिग्रह' है। भौतिक-
वादकी आधारभूत भावना 'परिग्रह' है। हम हर चीज़को पकड़ना
चाहते हैं, लेना चाहते हैं। पकड़ते-पकड़ते जिस चीज़की हमें
ज़रूरत नहीं उसे भी पकड़कर बैठ जाते हैं। 'परिग्रह' बढ़ते-
बढ़ते 'स्तेय'का रूप धारण कर लेता है। अध्यात्मवादकी आधार-
भूत भावना 'अपरिग्रह' है। इसमें, जिन चीज़ोंकी हमें ज़रूरत
नहीं उन्हें लेनेका तो हम नाम ही नहीं लेते, 'अस्तेय'से तो हम
शुरू करते हैं, परन्तु छोड़ते-छोड़ते जिन चीज़ोंकी हमें ज़रूरत
थी उन्हें भी ठीक समयपर अपनी इच्छासे छोड़कर अलग हो
जाते हैं। 'अस्तेय'का चरम लक्ष्य 'अपरिग्रह' है, 'अस्तेय'से—
आवश्यकताओंको घटानेसे हम शुरू करते हैं, 'अपरिग्रह'से—
आवश्यकताओंको बिलकुल तिलांजलि देनेसे हम समाप्त करते
हैं। दूसरेकी चीज़को छोड़ना 'अस्तेय' है, अपनी चीज़को भी
छोड़ देना 'अपरिग्रह' है। वानप्रस्थ और संन्यास अपरिग्रहके
मार्गपर चलनेके ही तो आश्रम थे। हर हालतमें, अध्यात्मवाद-
का लक्ष्य लेना नहीं देना है, पकड़ना नहीं छोड़ना है, डूबना
नहीं तैरना है, कमर टेककर बैठ जाना नहीं मुकाबिला करना
है, प्रकृतिपर विजय पाकर आत्म-तत्त्वके विकासके मार्गको
कांटोंसे शून्य कर देना है।

सदियां गुज़र गईं जब अध्यात्मवादके इन पांच तत्त्वोंकी
घोषणा महर्षि पतंजलिने योग-दर्शनमें की थी। यम-नियमके
नामसे जिन दस साधनोंका वर्णन योग-दर्शनमें किया गया था
उनमेंसे—'अहिंसासत्यास्तेय ब्रह्मचर्यापरिग्रहाः यमाः'—ये पांच
वे ही आध्यात्मिक तत्त्व थे जिनका वर्णन हमने अभी किया।
महात्मा बुद्ध अपने शिष्योंको दीक्षा देते हुए जो दस 'आदेश'

देते थे वे यही यम-नियम थे। यहूदियोंमें भी कथानक प्रचलित है कि जिहोवा ने मूसाको मौंट सेनाईपर बुलाकर पत्थरकी दो पट्टियां दीं जिनपर दस आज्ञाएँ (Ten Commandments) लिखी हुई थीं। वे दस आज्ञाएँ यही यम-नियम थे। हज़रत मसीहने पर्वतपर खड़े होकर उपदेश दिया था जिसे 'सरमन ऑन दी मौंट' (Sermon on the Mount) कहा जाता है। इसमें भी यम-नियमोंकी व्याख्याके अतिरिक्त कुछ नहीं था। संसार-के धर्म किन्हीं बातोंमें आपसमें लड़ते हों परन्तु वैदिक-संस्कृतिके इन मूल-तत्त्वोंके सामने सब सिर झुकाते हैं। धर्म तो अलग, भौतिकवाद भी इन सचाईयोंके सामने मूक होकर खड़ा रह जाता है, वह भी इनकी यथार्थता से इन्कार नहीं कर सकता। ये वे तत्त्व हैं जो जितने दबाये जाते हैं उतने उभरते हैं। तेल पानीकी सतहपर उंड़ेल दिया जाय, तो क्या वह नीचे बैठ जाता है? वह ऊपर तैर आता है, पानीकी सतहपर चमकने लगता है। ये पांचों तत्त्व भौतिकवादके इस विशाल विश्वरूपी समुद्रकी किसी भी निचली-से-निचली तहमें क्यों न दबा दिये जायं, ये दबते नहीं, ऊपर तैर आते हैं, सबको दीखने लगते हैं। हिंसा अहिंसाको, अनृत सत्यको, स्तेय अस्तेयको, अब्रह्मचर्य ब्रह्मचर्यको, परिग्रह अपरिग्रहको दबाते हैं, परन्तु सब रुकावटोंको तोड़कर हिंसामेंसे अहिंसाकी आवाज़ आ रही है, अनृतके पीछे से सत्य चमक रहा है, स्तेयमेंसे अस्तेय, अब्रह्मचर्यमेंसे ब्रह्मचर्य, परिग्रह-मेंसे अपरिग्रह आगे बढ़ते चले आ रहे हैं। भौतिकवाद भी देख रहा है कि ये पांचों आध्यात्मिक-तत्त्व ऐसे उभरते आ रहे हैं जैसे कोई पैनी चीज़ सब रुकावटोंको, आवरणोंको, विघ्न-बाधाओंको चीरती-फाड़ती बाहर निकलती आ रही हो।

हिमालयकी उन गुफाओंमेंसे जहां कभी तपस्वी लोग भौतिकवादमें डूबी हुई संतप्त दुनियांको आध्यात्मिक शान्ति-का संदेश दिया करते थे, आज भी, एक-दूसरेके रुधिरकी प्यासी, बावली दुनियांके लिये एक गूंज सुनाई दे रही है। मारनेके स्थानमें मरना सीखो, मक्कारीके स्थानमें ईमानदारी सीखो, लेनेके स्थानमें देना सीखो, उच्छृंखलताके स्थानमें संयम सीखो, फंसनेके स्थानमें निकलना सीखो, प्रकृतिकी चकाचौंधमें अपने-को खो देनेके स्थानमें उसमेंसे आत्म-तत्त्वको समेटना सीखो, मशीन बननेके स्थानमें मनुष्य बनना सीखो—'तेन त्यक्तेन भुंजीथाः' को याद करो, कांचके टुकड़ोंको मोती मत समझो, कागजके गुलदस्तेको असली गुलाबके फूल मत समझो, नकलीको असली मत समझो। आज भी यह सन्देश आसमानमें लिखा है और पूर्वसे बहनेवाली हवामें गूंज रहा है—देखनेवाले देखते हैं, और सुननेवाले सुनते हैं।

[१४]

वैदिक संस्कृति कभी जीवित संस्कृति थी

—उसका पुनर्निर्माण

जब अंग्रेज़ इस देशमें राज करते थे तब यहां अपनी संस्कृतिके लिए ज़्यादा तड़पन थी, तब अपनी संस्कृतिके लिए काम भी ज़्यादा हुआ था। अब अंग्रेज़ोंके चले जानेके बाद न हममें अपनी संस्कृतिके लिए वह तड़पन है, न हम इसके लिये उतना काम ही कर रहे हैं। क्या यह बात ठीक है, या नहीं? बीसवीं शताब्दीके प्रारम्भमें भारतमें कुछ सांस्कृतिक संस्थाओंने जन्म लिया। उत्तर-भारतमें आर्य-समाज, दक्षिणमें ब्राह्मोसमाज, प्रार्थना-समाज आदि की नींव पड़ी। इस कालमें राजा राम-मोहनराय हुए, केशवचन्द्र सेन हुए, ऋषि दयानन्द हुए। उसके बादके कालमें रवीन्द्रनाथ ठाकुर, अरविंद घोष, स्वामी श्रद्धानन्द, महात्मा गांधी हुए। इन सबके कार्यका मुख्य बिन्दु भारतकी संस्कृतिका पुनरुज्जीवन था। आर्यसमाजने वेदोंकी तरफ़, वैदिक-संस्कृतिकी तरफ़ देशका ध्यान खींचा, गुरुकुलोंकी स्थापनाकी, भारतीय संस्कृतिकी तरफ़ देशका ध्यान केन्द्रित किया। रवीन्द्रनाथ ठाकुरने बोलपुरमें शान्ति निकेतनकी स्थापनाकी। उस संस्थामें भी भारतीय संस्कृतिको केन्द्र-बिन्दु बनाया गया। महात्मा गांधीको लोग भले ही राजनैतिक नेता कहें, परन्तु उनका कार्य सारा सांस्कृतिक था। सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य—ये ही

उनके प्रेरणा-स्रोत थे। इस समय देशमें जगह-जगह संस्कृत पाठशालाओंकी भी भरपूर स्थापना हुई, ऐसी पाठशालाओंकी जिनका मुख्य ध्येय प्राचीन-संस्कृति, प्राचीन-साहित्य, प्राचीन परम्पराकी साधना था। अंग्रेज़ोंके चले जाने और देशके स्वतंत्र हो जानेके बाद होना तो यह चाहिये था कि भारतीय संस्कृतिके प्रति हमारी लगन और तीव्र हो जाती, परन्तु हुआ ठीक उल्टा। अंग्रेज़ गये तो भारतीय-संस्कृतिके प्रति हमारी लगनको भी साथ लेते गये। कई लोगोंका तो कहना है कि अंग्रेज़ गये, परन्तु अंग्रेज़ियतको पीछे छोड़ गये। अंग्रेज़ोंके रहते तो हम प्रतिक्रिया के रूपमें अंग्रेज़ियतसे भी नफ़रत करते थे, शायद अंग्रेज़ियतसे इसलिये नफ़रत करते थे क्योंकि हम अंग्रेज़ोंसे नफ़रत करते थे, परन्तु जब अंग्रेज़ चले गये तब हमने अंग्रेज़ियतसे नफ़रत तो क्या करनी थी, अंग्रेज़ियतसे हमारा प्यार उमड़ पड़ा। अंग्रेज़ों ने हमें इतना नहीं जीता था जितना हमें अंग्रेज़ियतने जीत लिया था। इसीका परिणाम है कि अंग्रेज़ोंसे तो हम लड़ते रहे, परन्तु अंग्रेज़ियत हमारे घरोंमें ऐसी घुस गई कि उनके चले जाने पर भी यह नहीं जाती। आज हमारे बच्चे हमें 'पिताजी'-'माताजी' नहीं पुकारते, बड़े-बड़े गांधी टोपीधारियोंके बच्चोंके पिता पिता नहीं हैं 'डैडी' हैं, माता माता नहीं हैं 'ममी' हैं, चाचा चाचा नहीं हैं 'अंकलजी' हैं, चाची चाची नहीं हैं 'आंटीजी' हैं। पिताको डैडी पुकारना कोई गुनाह नहीं है, यह सिर्फ़ दिशा का संकेत करता है, मनोवृत्तिको बतलाता है। हमारी मनोवृत्ति अब वह नहीं रही जो अंग्रेज़ी राजके समय थी। अंग्रेज़ी राजके समय हममें अपनी संस्कृतिके प्रति जो प्रेम था, उसके प्रति जो लगन थी, वह अब हममें नहीं दिखलाई देती।

यह तो एक अत्यन्त विरुद्ध बात हुई। होना तो यह चाहिये था कि भारतीय संस्कृतिका अवरुद्ध स्रोत जो अंग्रेज़ोंके समय बन्द था, स्वराज्य प्राप्त करते ही फूट पड़ता; हुआ उल्टा; वह स्रोत जो अंग्रेज़ोंके समय फूटा पड़ता था अंग्रेज़ोंके जाते ही बन्द हो गया, सूख गया। इसका क्या कारण है? इसका कारण यह है कि जब अंग्रेज़ इस देशमें शासन करते थे तब राजनीतिका क्षेत्र एक बन्द, अवरुद्ध क्षेत्र था। अंग्रेज़ जबतक इस देशसे निकाल न दिये जाते, या वे इस देशको स्वयं छोड़ कर न चले जाते, तबतक राजनीतिके क्षेत्रमें कोई क्या करता? इसका यह अभिप्राय नहीं कि राजनीतिका क्षेत्र सर्वथा बन्द रहा, इस क्षेत्रमें भी लगनके लोग कार्य करते रहे, परन्तु अधिकांश व्यक्तियोंने अपने लिए इस क्षेत्रको बन्द ही पाया। उन्हें समझ नहीं आता था कि राजनीतिके क्षेत्रमें वे क्या-कुछ कर सकते थे। इसका परिणाम यह था कि जिन लोगों में कुछ कर डालनेकी लालसा थी वे सांस्कृतिक-क्षेत्रमें कार्य करते रहे, और इस क्षेत्रमें देशके उच्च-कोटिके कार्यकर्ता आते रहे। उच्च-कोटिके कार्यकर्ताओंके सांस्कृतिक क्षेत्रमें आनेके कारण भारतकी सांस्कृतिक विचारधाराको अंग्रेज़ोंके कालमें पर्याप्त बल मिला। उस समय यह कोई नहीं पूछता था कि भारतीय-संस्कृति क्या है, और इस संस्कृतिका क्या लाभ है। आज स्वतन्त्र होनेके बाद हमारी इन सब बातोंसे आस्था उठ गई है, इन सब बातोंके लिए लगन भी नहीं रही। असलमें देखा जाय तो स्वतन्त्रता प्राप्तिके लिए जो महती शक्ति इस देश में उत्पन्न हुई वह हमारे सांस्कृतिक-क्षेत्रमें अपनी सारी शक्ति को केन्द्रित कर देनेके कारण ही हुई। देशने अपने लिए राजनीति

के दरवाज़े बन्द देखकर अपनी सारी शक्ति सांस्कृतिक पुन-रुज्जीवनपर केन्द्रित कर दी थी। भारतकी संस्कृतिके प्राण, त्याग, तपस्या, निःस्वार्थ-भाव, सेवा, आत्मोत्सर्ग यही कुछ रहे हैं। इन भावनाओंका वेग जब प्रबल हो गया, स्वार्थ, भोग-विलासका वेग जब धीमा पड़ गया, तभी देश स्वतन्त्र हुआ। महात्मा गांधीका आन्दोलन इन भावनाओंका चरम-सीमापर पहुँच जाना ही था। राजनीतिक स्वतन्त्रता सांस्कृतिक पुन-रुज्जीवनका ही परिणाम थी, परन्तु आज तथ्य यह है कि राज-नीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त कर लेनेके बाद हमें ऐसा प्रतीत होने लगा है कि अबतक सदियोंसे जो दर्वाज़े हमारे लिए बन्द थे वे खुल गये हैं और देशका सारा ध्यान, सारी शक्ति सांस्कृतिक-क्षेत्रको छोड़कर राजनीतिक-क्षेत्रकी तरफ़ उमड़ पड़ी है। आज अंग्रेज़ोंके चले जानेके बाद सांस्कृतिक क्षेत्र वीरान नज़र आता है। जिन लोगोंकी तपस्याके कारण इस क्षेत्रको हम अंग्रेज़ोंके समय हरा-भरा देखते थे वे भी धीरे-धीरे इस क्षेत्रको छोड़ते चले जा रहे हैं। यही कारण है कि हमें स्वतंत्रता प्राप्तिके बादके इस युगमें सांस्कृतिक जागरण नहीं दिखलाई देता।

तो क्या हमारी संस्कृतिमें ऐसी कुछ बात नहीं है जो हमारे युवकों को अपनी तरफ़ खींचे? ऐसी बात न होती तो अपने देशकी संस्कृति अबतक जीवित ही क्यों रहती? संसारकी संस्कृतियां मिट गईं परन्तु भारतीय-संस्कृति अबतक जीवित है। यह क्यों? किसी भी देशकी संस्कृति जीवित कैसे रहती है? हमारा इतिहास इस बातका क्या उत्तर देता है? जब किन्हीं दो देशोंकी संस्कृतियों का टाकरा होता है तब उनमें एक दूसरेके प्रति तीन प्रकारकी प्रतिक्रियायें हो सकती हैं।

अगर किसी देशकी संस्कृति प्राणवती है, बलवती है, तो वह निर्बल संस्कृतिको खा जाती है; अगर वह कमज़ोर है तो बलवती संस्कृतिके सामने अपनेको मिटा देती है; अगर दोनों संस्कृतियां तुल्य बलकी हैं, दोनों प्राणवती हैं, दोनोंके अपने-अपने मज़बूत आधार हैं, तो इन दोनों संस्कृतियोंका पहले विरोध, टाकरा होता है, फिर समय बीत जानेपर उनका आदान-प्रदान होता है, वे एक-दूसरेका कुछ लेती हैं, कुछ अपना छोड़ती हैं, उनमें एक दूसरेके संपर्कसे कुछ परिवर्तन आता है। भारतमें क्या हुआ? भारतके इतिहासको तीन भागोंमें बांटा जा सकता है। पहले यहां शक, हूण आदि असभ्य तथा अशिक्षित जातियों ने आक्रमण किया, उनकी अपनी कोई संस्कृति नहीं थी। वे सिर्फ़ लुटेरे थे, मार-काट करना जानते थे, और कुछ उनके पास नहीं था। भारतकी संस्कृतिके साथ जब उनका टाकरा हुआ तब वे यहां की प्राणवती संस्कृतिके सम्मुख टिक नहीं सके, वे यहां की संस्कृतिमें खप गये। यही कारण है कि आज इस देशमें उनका कहीं पता नहीं चलता। शकों तथा हूणोंके बाद मुसल्मानोंने इस देशपर आक्रमण किया। मुसल्मान सिर्फ़ आक्रान्ता ही नहीं थे, उनकी अपनी एक संस्कृति भी थी। मुसल्मान जिस संस्कृतिको लेकर आये थे उसमें मूर्ति-पूजाके स्थान में एक ईश्वरकी पूजा थी, प्रत्येक मुसल्मान दूसरे मुसल्मान का भाई था। इस मुसल्मानी संस्कृतिके साथ जब भारतीय संस्कृतिको टक्कर लेनी पड़ी, तो स्थिति बदल गई। अबतक शक-हूण आदि जो विदेशी भारतमें आये थे वे संस्कृतिकी दृष्टि से शून्य थे, मुसल्मान लोग संस्कृतिकी दृष्टिसे शून्य नहीं थे, उनकी अपनी एक संस्कृति थी, और प्रबल संस्कृति थी।

भारतीय-संस्कृतिको खतरा यह था कि अगर यह अपनेको नहीं बदलती तो तलवार भी चल सकती थी। इस्लामके सामने दुनियाँकी अन्य संस्कृतियोंने घुटने टेक दिये थे, परन्तु इस कालमें भारतकी संस्कृतिकी यह विशेषता दिखलाई देती है कि इस्लामके साथ टक्करमें यहांके लोगोंने अपने राज को भले ही गंवा दिया, अपनी स्वतंत्रता भले ही खो दी, परन्तु इस देशकी संस्कृति ज्यों-की-त्यों अडिग खड़ी रही, खड़ी ही नहीं रही, इस्लामी-कालमें यह संस्कृति और भी वेगसे चमक उठी। इस युगमें हम क्या देखते हैं? हम देखते हैं कि अपने देशकी संस्कृतिकी रक्षा के लिए उत्तर-भारतमें सिक्खोंके गुरु उठ खड़े हुए, दक्षिण-भारत में शिवाजी ने इस देशकी संस्कृतिकी रक्षाके नामपर मुसल्मान बादशाहोंसे लोहा लेना शुरू कर दिया। मुसल्मानोंका ८००-९०० वर्षोंका काल निकल गया परन्तु इस देशकी संस्कृतिने गर्दन नहीं झुकाई। इस सबका परिणाम यह हुआ कि यद्यपि इस्लाम में औरंगज़ेब जैसे असहिष्णु बादशाह हुए परन्तु उसके साथ ही अकबर जैसे बादशाह भी हुए, दारा जैसे व्यक्ति भी हुए जिन्होंने उपनिषदोंका अनुवाद किया और इस देशकी संस्कृतिसे इतने प्रभावित हुए कि उन्हें मुसल्मानों तक ने काफ़िर कहना शुरू कर दिया। मुसल्मानोंके वाद इस देशमें अंग्रेज़ आये। अंग्रेज़ भी आक्रान्ता बनकर आये, परन्तु आक्रान्ता होनेके साथ-साथ उन-की भी एक संस्कृति थी, वह संस्कृति जिसे पाश्चात्य-संस्कृति कहा जाता है, भौतिक-संस्कृति। मुसल्मान तो शासनके साथ-साथ अपनी संस्कृतिका भी प्रचार करते थे, उनके लिए संस्कृति मुख्य थी, शासन गौण था, संस्कृतिके प्रचारकी धुनमें वे निकले थे, उसके साथ-साथ राज उनके हाथमें लगा था। इस टक्कर

में भारतने राज तो खो दिया, परन्तु मुसलमानोंके सामने अपनी संस्कृतिको हाथसे नहीं जाने दिया। इसके विपरीत अंग्रेज़ोंके भारतमें आनेकी प्रक्रिया का रूप भिन्न रहा। अंग्रेज़ लोगों के आनेके साथ उनकी संस्कृति भी इस देशमें आयी, परन्तु वे इस देशमें अपनी संस्कृतिका प्रचार करने नहीं आये थे। अंग्रेज़ आये थे सौदागर बनकर, व्यापारी बनकर, रुपया कमाने; सौदागरीसे वे हुकूमत करने लगे। अंग्रेज़ इस देशमें अपनी संस्कृतिका प्रचार करने नहीं आये थे, परन्तु उनके साथ उनकी संस्कृतिका आना स्वाभाविक था। अंग्रेज़ोंकी संस्कृति मुसल्मानों की संस्कृति से भी बलवती थी, अधिक प्राणशालिनी थी। मुसल्मानोंकी संस्कृति धर्म पर आधारित थी, धर्मकी दृष्टिसे भारतीय-संस्कृति के सामने वह नहीं टिक सकी। अंग्रेज़ोंकी संस्कृति धर्म पर आधारित नहीं थी, वह सर्वथा भौतिक थी, सांसारिक थी। अंग्रेज़ी-संस्कृतिके साथ जब भारतीय-संस्कृतिका टकराव हुआ तब भारतीय-संस्कृतिने देखा कि इन दोनोंका आधार सर्वथा भिन्न था। भारतीय-संस्कृतिका आधार धर्म था, पाश्चात्य-संस्कृतिका आधार धर्म नहीं था; भारतीय-संस्कृतिका आधार पारलौकिक था, पाश्चात्य-संस्कृतिका आधार लौकिक था, भौतिक था, यह संसार था। इन दोनों संस्कृतियोंकी जब टक्कर हुई तब भारतीय-संस्कृतिके अंजर-पंजर ढीले हो गये, वह पाश्चात्य-संस्कृतिके सामने टिक नहीं सकी। हम कितने ही अपनी प्राचीन-संस्कृतिके गीत गाते रहें, परन्तु यह कटु सत्य है कि जो संस्कृति सैकड़ों नहीं हज़ारों सालोंके झंझावातोंसे टस-से-मस नहीं हो सकी, जो संस्कृति एक के बाद दूसरे हमलेसे परास्त नहीं हुई, जो संस्कृति अपने साथ की सब संस्कृतियोंके नष्ट

हो जाने पर भी अबतक बची रही, जो संस्कृति अंग्रेज़ोंके आने पर भी मरते-मरते फिरसे जीवित होकर उठ खड़ी हुई, वही संस्कृति अंग्रेज़ोंके चले जानेपर, भारतके स्वतंत्र होने पर आज एक शवके रूपमें अपने देशमें मरी पड़ी है। आज हम अपनी संस्कृतिका नाम भर लेते हैं, परन्तु वह संस्कृति नष्ट हो चुकी है। न उसमें हमारा विश्वास रहा है, न हम उसे अपने जीवन में उतारनेके लिए तैयार हैं। अपनेको धोखा देनेसे क्या फ़ायदा। जो सत्य है वह सत्य है। सचाईका सामना करनेमें मनुष्यकी वीरता है, सचाईको छिपानेमें नहीं। क्या यह सचाई नहीं है कि अंग्रेज़ोंके चले जानेके बाद से हमारी अपनी संस्कृति पर से बची-खुची आस्था भी उठ गई है। अभी तक हम अपनी संस्कृति के शवसे, उसके मृत शरीरसे जो चिपके हुए थे उसका कारण यह था कि हम अंग्रेज़ोंका इस देशमें राज करना सहन नहीं कर सकते थे, हम अंग्रेज़ोंको निकालना चाहते थे, अंग्रेज़ी संस्कृति को नहीं निकालना चाहते थे, अंग्रेज़ोंके प्रति घृणाके साथ-साथ अंग्रेज़ियतके प्रति हममें प्रेम उत्पन्न होता जा रहा था, अंग्रेज़ी संस्कृतिको हम चाहने लगे थे। अंग्रेज़ी संस्कृति को हम क्यों चाहने लगे थे ? इस संस्कृतिको हम इसलिये चाहने लगे थे क्योंकि हमें यह संस्कृति अपनी संस्कृतिसे, भारतीय-संस्कृतिसे ज़्यादा मोहक, ज़्यादा प्राणवती, ज़्यादा बलवती दिखलाई दे रही थी, इन दोनों संस्कृतियोंकी टक्करमें हमें अपनी संस्कृति लड़खड़ाती दिखाई दे रही थी। आज हम उपरालू तौर पर, कहनेको अपनी संस्कृतिके गीत भले ही गायें, परन्तु यथार्थ सत्य यह है कि हमारी अपनी संस्कृति पर से आस्था उठ चुकी है, उसपर से विश्वास जाता रहा है। जनताका विश्वास जाता

रहा हो, तब तो कोई बात नहीं। जनताका विश्वास नेताओं के विश्वासके पीछे चलता है। कठोर सत्य यह है कि आज नेताओं का विश्वास अपने देशकी संस्कृति पर नहीं रहा, जो लोग भारतीय-संस्कृतिका नारा लगाते थे उनका विश्वास अपने देशकी संस्कृतिपर नहीं रहा। आज हम वैदिक-संस्कृतिका लेबल अपने माथे पर चिपकाये फिरते हैं, परन्तु यह लेबल तो ट्रेड मार्क है, हमारे भीतर, हमारे हृदयमें वैदिक-संस्कृति नहीं है, हमारे भीतर पाश्चात्य-संस्कृति भरी पड़ी है। जो लोग खुल्लम-खुल्ला पाश्चात्य-संस्कृतिके पोषक हैं वे अपने देशकी संस्कृतिको इतनी हानि नहीं पहुंचा रहे जितनी हानि वे लोग पहुंचा रहे हैं जो लेबल तो वैदिक-संस्कृतिका लगाये फिरते हैं परन्तु जिनके भीतर, हृदयमें पाश्चात्य-संस्कृति आसन जमाये बैठी है। सीधे पाश्चात्य-संस्कृतिका नाम लेनेवालेका तो कोई विरोध भी कर सकता है, परन्तु वैदिक-संस्कृतिका लेबल लगाकर हृदयमें पाश्चात्य-संस्कृतिकी उपासना करनेवालेका तो विरोध भी करना कठिन है। वैदिक-संस्कृतिका असली शत्रु पाश्चात्य-संस्कृतिका नारा लगानेवाला नहीं है, वैदिक-संस्कृतिका असली शत्रु वैदिक-संस्कृतिका नारा लगानेवाला ही है। सबके कठिन परिस्थिति यह पैदा हो गई है कि आज अपने देशमें सिर्फ़ दो तरहके लोग रह गये हैं। या तो वे जो खुल्लमखुल्ला पाश्चात्य-संस्कृतिका नारा लगाते हैं, वे कहते हैं कि हमें खुले दिलसे इस संस्कृतिका स्वागत करना चाहिये, आज भूमंडल पर यही संस्कृति फैल रही है, यही बलवती है, प्राणनिष्ठ है, यही यथार्थ है, इसे हमें अपना लेना चाहिये; या वे रह गये हैं जो खुल्लमखुल्ला पाश्चात्य-संस्कृतिका नारा नहीं लगाते, वैदिक-संस्कृतिका नारा

लगाते हैं, वैदिक-संस्कृतिके झंडे फहराते हैं, वैदिक-संस्कृतिका नाम लेते हैं, परन्तु उनका जीवन, उनका रहन-सहन, उनकी भावना, उनका विचार, उनका चिन्तन, उनका अन्तरात्मा पाश्चात्य-संस्कृतिके भोग-विलासके लिए तड़पता रहता है। जब अपने देशमें सिर्फ़ दो तरहके ही लोग रह गये हैं, ऐसे लोग हैं ही नहीं जो बाहरसे और भीतरसे, कथनीसे और करनीसे वैदिक-संस्कृति के उपासक हों, तब बेचारी यह संस्कृति क्या करे, कैसे जीवित रहे ?

ऐसी स्थिति क्यों पैदा हो गई, ऐसी स्थिति जिसमें हम अपनी संस्कृतिका नाम तो लेते हैं, परन्तु उस संस्कृतिकी बातें अपने जीवनमें नहीं उतारते, ऐसी स्थितिका क्या कारण है ? क्या कारण है कि हम वैदिक-संस्कृतिके त्याग और तपस्याकी दुहाई देते हैं और पाश्चात्य-संस्कृतिका भोग-विलास हमारे जीवनकी तहमें छिपा रहता है ? क्या कारण है कि हम सत्य और अहिंसाकी उपासना करते हैं परन्तु जहां स्वार्थ सिद्ध होता दीखता हो वहां भूठ बोलनेके लिए और अपने पड़ोसीका गला काटनेके लिए तैयार रहते हैं ? क्या कारण है कि वैदिक-संस्कृति की बातें हमारे आदर्शके लिए रह गई हैं, हमारे जीवनमें पाश्चात्य विचार ठोस रूपमें उतर चुके हैं ?

ऐसा प्रतीत होता है कि असलमें वैदिक-संस्कृति मर चुकी है, इसमें जीवन नहीं रहा, प्राण नहीं रहा, हम वैदिक-संस्कृति की नहीं, उसके शवकी उपासना कर रहे हैं। ऐसा लगता है कि वैदिक-संस्कृतिकी नींव कभी की हिल चुकी है, इसका शरीर कभी का खोखला हो चुका है, इसका भवन कभी का खंडहर हो चुका है। ऐसी बात नहीं है तो क्या कारण है कि अंग्रेज़ोंके

समय हम लोगोंकी इस संस्कृतिके प्रति जो लगन थी वह स्वतंत्रता प्राप्तिके बाद नहीं रही। क्या इसका यह कारण नहीं है कि उस समय हम अपनी जिद्दमें अपनी संस्कृतिके शवके साथ चिपटे हुए थे। वे लोग इस संस्कृतिको जितना दुत्कारते थे उतना प्रतिक्रियाके रूपमें हमारा इसके प्रति मोह बढ़ता जाता था। मोह इसलिये नहीं बढ़ता जाता था क्योंकि हम इसे वास्तवमें उच्च-संस्कृति समझते थे, परन्तु इसलिये बढ़ता जाता था क्योंकि हमारी इस संस्कृतिकी पाश्चात्य लोग निन्दा करते थे। आज अंग्रेज चले गये, आज हमारी संस्कृतिकी हमारे सामने निन्दा करनेवाला कोई नहीं रहा, इसलिये आज हम अपनी संस्कृतिके यथार्थ रूपको देखने लगे हैं, और हमें दीखने लगा है कि इस संस्कृतिमें कुछ नहीं रहा, यह सर्वथा खोखली हो चुकी है।

परन्तु क्या वैदिक-संस्कृति सदासे निर्जीव रही है, क्या सदासे हम एक शवकी उपासना करते रहे हैं, क्या सदासे हम एक खोखले भवन, एक खोखली इमारतमें बसते रहे हैं? ऐसी बात तो नहीं है। समय था जब वैदिक-संस्कृति एक जीवित संस्कृति थी, प्राणवती संस्कृति थी, हमारा देश अपनी सारी शक्ति इस संस्कृतिकी रक्षामें लगा देता और हमारे देशका बच्चा-बच्चा अपना सारा जीवन इस संस्कृतिको अपने जीवनमें उतारने में बिता देता था। जिस समय हमारी संस्कृति जीवित थी उस समय और आजके समयमें क्या भेद आ गया है जिसके कारण उस समय यह संस्कृति जीवित थी और आज यह मृत दिखलाई देती है? उस समय और आजके समयमें भेद यह आ गया है कि उस समय हमारी संस्कृतिके सब विचार जीवित विचार थे, आज वे सब विचार जीवित विचार नहीं रहे, मरे हुए विचार

हो गये हैं। आख़िर विचार ही तो किसी संस्कृतिको बनाते हैं। मनुष्य जो-कुछ है, विचारोंका परिणाम है। एक व्यक्ति चोरी करता है, झूठ बोलता है, दूसरेपर हमला करता है। क्यों करता है? इसलिये करता है क्योंकि उसके मनमें चोरीका, झूठका, हमलेका विचार जड़ पकड़ गया है। एक व्यक्ति आत्म-बलि-दान कर देता है, देशके लिए, धर्मके लिए अपनेको वलि चढ़ा देता है। वह ऐसा क्यों करता है? वह भी ऐसा इसलिये करता है क्योंकि उसके मनमें भी पहले बलिदानका विचार जड़ पकड़ लेता है। अगर कोई व्यक्ति कुर्बानीकी बात करे और स्वार्थमय जीवन विताये, सचकी बात करे और झूठ बोले, अहिंसाका नारा लगाये और लोगोंके गले काटता फिरे, तो हम क्या समझेंगे? यही तो समझेंगे कि उसके विचार शुद्ध हैं, ऊंचे हैं, परन्तु उन विचारों में प्राण नहीं रहा, वे मृत विचार हैं, जीवित विचार नहीं हैं। हमारी संस्कृतिके साथ यही हो रहा है। हमारी संस्कृतिके जो विचार थे, जिन विचारोंको लेकर यह अब तक जीवित थी, वे आज मर चुके हैं। विचारोंका शरीर रह गया है, उनमेंसे प्राण निकल गया है। संस्कृति तभीतक जीवित कहलाती है जबतक उस संस्कृतिको जीवित रखनेवाला विचार उसके भीतर लहलहा रहा हो, वह विचार एक जीवित-जागृत विचार हो, प्राणवान् विचार हो, मृत विचार न हो। जिस संस्कृतिके विचार मर जाते हैं वह संस्कृति भी मर जाती है। उस संस्कृतिका खोल भले ही बना रहे, परन्तु उस खोलसे उस संस्कृतिको जीवित नहीं कहा जा सकता। एक बड़ी भारी इमारत खड़ी है, कभी वह इमारत एक महलके रूपमें थी, उसमें राजे-महाराजे रहते थे, परन्तु आज वह आलीशान इमारत महलका एक खण्डहर रह गई है,

किसी कामकी नहीं रही। उसे देखकर यह अन्दाज़ लगाया जा सकता है कि किसी समय वह कितनी शानदार रही होगी, परन्तु प्रश्न यह नहीं है कि सदियों पहले वह क्या थी, प्रश्न यह है कि आज वह क्या है? आजकी स्थिति यह है कि हमारी संस्कृति को प्राणवान्, तेजस्वी बनानेवाले शब्द हमारे पास रह गये हैं, उन शब्दोंमें जीवन डालनेवाले विचार आज हमारे पास नहीं रहे। यह संस्कृति अगर जीवित हो सकती है तो उन विचारोंसे जीवित हो सकती है जिन्होंने इस संस्कृतिको संसारकी अन्य संस्कृतियोंमें मूर्धन्य बनाया था। उन विचारोंसे, उन प्राणवान् विचारोंसे—उन विचारोंकी सिर्फ़ माला जपनेसे नहीं—यह संस्कृति फिरसे जीवित-जागृत हो सकती है।

जो आज मर रहा है वह किसी समय जीवित था; जो आज बूढ़ा हो चुका है वह किसी समय युवा था; जिसमें आज बल नहीं रहा, जिसका सामर्थ्य जाता रहा है, उसमें किसी समय असीम बल था, ताकत थी; हमारी संस्कृति आज समर्थ और सशक्त विचारोंके बलहीन हो जानेके कारण खोखली दीखने लगी है, परन्तु समय था जब इस संस्कृतिके आधारमें काम करनेवाले विचार जीवित थे, प्राणवान् थे। उस समय हमारी संस्कृति एक जीवित संस्कृति थी, प्राणवती संस्कृति थी। वे कौन-से विचार हैं जो हमारी संस्कृतिके मूलरूप विचार थे, जिनके निष्प्राण हो जानेके कारण हमारी संस्कृति निष्प्राण हो गई है? ऐसे विचार एक नहीं अनेक हैं। ये विचार आज भी मौजूद हैं, परन्तु भेद इतना ही है कि आज इन विचारोंमें बल नहीं रहा, ये विचार भावनासे शून्य हो गये हैं, विचारोंका शरीर रह गया है, उनका खोल मौजूद है, उनकी अन्तरात्मा

उन विचारोंमें नहीं रही। वैदिक-संस्कृतिको प्राणवान् बनाने वाले विचार हैं—ब्रह्मचर्य, त्याग, तपस्या, वानप्रस्थ, संन्यास, पारलौकिक सत्तामें विश्वास, ग्रात्मवाद—ग्रादि। ये विचार किसी समय जीवित-जागृत विचार थे, ऐसे जीवित-जागृत जिससे हमारी संस्कृति भी जीवित-जागृत कही जाती थी, ऐसे जीवित-जागृत जो हमारे संपूर्ण जीवनपर छाये रहते थे, हमारा पग-पग इन विचारोंसे ग्रनुप्राणित रहता था। ग्राज भी ये विचार मौजूद हैं, परन्तु ग्राज इन विचारोंमें ग्रात्मा नहीं दीखती, इन विचारों का खोल दिखलाई देता है।

'ब्रह्मचारी'का क्या ग्रर्थ है? क्या ब्रह्मचारीका यह ग्रर्थ है कि जो पीली धोती पहनता हो, खड़ावें धारण करता हो, जिसके सिरपर शिखा हो, बदनपर यज्ञोपवीत हो, स्त्रीका स्पर्श न करता हो—वह ब्रह्मचारी है? ब्रह्मचर्य तो एक विचार है, वैदिक-संस्कृतिका विचार है, पीली धोती, खड़ांव, शिखा-सूत्र तथा स्त्री का स्पर्श न करना तो उसका स्थूल रूप है। ग्रगर कोई व्यक्ति पीली धोती पहनता है, खड़ावें खड़खड़ाता है, लम्बी चोटी ग्रौर मोटा जनेऊ धारण करता है, परन्तु उसका मन विषयों की तरफ़ लपकता है तो उसका ब्रह्मचर्य क्या ब्रह्मचर्य है? वह खोखले, निष्प्राण तथा निर्जीव ब्रह्मचर्यका पुजारी है। ग्राज ऐसे ही थोथे ब्रह्मचर्यकी हम पूजा कर रहे हैं। ऐसे ब्रह्मचर्य का होना ब्रह्मचर्य न होनेसे ज़्यादा खतरनाक है क्योंकि जो खुल्लमखुल्ला ब्रह्मचर्यका उल्लंघन करता है उसे कुछ समझाया भी जा सकता है, परन्तु जो ज़ाहिरा तौर पर, बाहरसे ग्रपनेको ब्रह्मचारी कहता है किन्तु भीतरसे विषय-वासनासे डांवाडोल रहता है वह ग्रपनेको भी धोखा देता है, दूसरोंको भी धोखा

देता है। आज हमारी मौलिक समस्या ब्रह्मचर्यकी नहीं है, ब्रह्मचर्य शब्दको प्राणवान् तथा जीवित बनाने की है। इसी-प्रकार 'मुनि', 'वानप्रस्थी', 'संन्यासी'—ये शब्द हमारी संस्कृति के अभिन्न अंग हैं। क्या ये शब्द आज जीते-जागते शब्द हैं, या ये शब्द भी खोखले हो चुके हैं, इनमें सार और सत्ता नहीं रही ? रघुवंशमें रघुकुलके राजाओंके लिए लिखा है—'वार्धक्ये मुनि वृत्तीनाम्'—अर्थात्, वृद्धावस्थामें उनकी वृत्ति मुनियोंकी-सी, वानप्रस्थियों की-सी हो जाती थी, क्या वानप्रस्थी या मुनि उसे कहते थे जो गृहस्थका सब जंजाल उठाकर जंगलमें जा बसता था। जंगलमें जा बसना तो मुनिपन या वानप्रस्थीपन का बाह्य रूप था। वानप्रस्थीपन तो एक मनोवृत्तिका नाम था, वह मनोवृत्ति जिसमें संसारके प्रति अनासक्तिकी भावना पैदा हो जाती थी। मुनिपन या वानप्रस्थीपनकी जान अनासक्ति है, जंगलमें जा बसना नहीं। आज, पहले तो जंगल ही नहीं रहे, इसके साथ ही जो लोग मुनिपन या वानप्रस्थीपन धारण करते हैं उनके हृदयमें बेलागपना, अनासक्ति नहीं पैदा होती। हमारी संस्कृति कभी जीवित थी—इस का क्या अर्थ है ? इसका यह अर्थ है कि हमारी संस्कृतिके विचार निरे थोथे, खोखले, निर्जीव और निष्प्राण विचार नहीं थे, वे सशक्त, जीवित विचार थे, आज वे विचार निष्प्राण हो चुके हैं।

'संन्यासी' शब्द भी हमारी संस्कृतिका एक आधारभूत शब्द है। अगर हमारी संस्कृति जिन्दा होती तो संन्यासी किसे कहते ? संन्यासी वह कहलाता है जिसने संसारके सब बन्धन तोड़ दिये, माया-ममतासे जो अलग हो गया। वैदिक-संस्कृति की यही तो आधार-भूत भावना है कि हर किसीको दुनियाँ एक-न-एक दिन

छोड़नी है, कूचका डंका बोलना है। जीते-जी अपनी मृत्यु देख लेना—यही तो संन्यास है, परन्तु आज यह शब्द भी निर्जीव हो चुका है, खोखला हो चुका है, शब्द रह गया है, इसकी आत्मा नष्ट हो चुकी है। संन्यासी सिर्फ़ नाम बदल लेने और कपड़े रंग लेने का नाम रह गया है,। आज अपने देशके संन्यासियोंके पास हाथी-घोड़े हैं, ज़मींदारी है, जायदाद है, संन्यासियोंके मठ हैं, संन्यासियोंके कारोबार चलते हैं, संन्यासी अपनी जायदादका वारिस ढूंढ़नेके लिये चेले ढूंढ़ते हैं। हमारी संस्कृतिके निर्जीव हो जानेका इससे बढ़कर क्या प्रमाण हो सकता है कि संन्यासियोंके ऐसे भी सम्प्रदाय हैं जिनमें विवाह होता है, संन्यासी रहते वे गृहस्थ-धर्मको संन्यासका विरोधी नहीं समझते।

भारतकी संस्कृतिमें 'त्याग', 'तपस्या'—ये ऐसे शब्द हैं जिन्हें कौन भूल सकता है? यहां का सारा जीवन त्यागमय था। जिसे भोगका जीवन समझा जाता है उसके आधारमें भी त्याग और तपस्याकी दृढ़ चट्टान जमी रहती है। गृहस्थका जीवन भोगका जीवन है, परन्तु इस देश की संस्कृतिमें गृहस्थी को भी त्याग और तपस्याका जीवन बिताना होता था। यहां का आदर्श तो यह था कि वैश्य भी जो-कुछ कमाता था उसका बड़ा हिस्सा समाजके अर्पण कर देता था। आज त्याग और तपस्या शब्द खोखले हो चुके हैं, शब्द रह गये हैं इनमें अर्थ नहीं रहा, शरीर रह गया है आत्मा निकल गई है। आज हम त्याग और तपस्याके सिर्फ़ गीत गाते हैं। गृहस्थी तो भोगमय जीवन बिता ही रहे हैं, संन्यासियोंका जीवन भी भोगमय हो गया है। वैश्यने अपनी कमाईके हिस्सेको समाजके अर्पण तो क्या करना था, वह इतना लोभी हो गया है कि आज हम अपने

को चारों तरफ़से एक तरहके सभ्य-लुटेरोंसे घिरा पा रहे हैं। जिस संस्कृतिका आदर्श ही भोगमय जीवन हो उसके विषयमें तो कोई कुछ नहीं कह सकता, परन्तु त्यागका ढिंढोरा पीटना और भोगका जीवन बिताना—हमारी संस्कृतिकी असली समस्या यही है। हमारी संस्कृतिको इसी रोगने आ घेरा है।

'आत्मा', 'ईश्वर', 'ब्रह्म', 'परलोक' हमारी संस्कृतिके अंग-अंगमें रचे हुए हैं। क्या इन शब्दोंका कुछ अर्थ है या ये सिर्फ़ नाम मात्रके रह गये हैं? इस समय हम लोग जिस प्रकारका जीवन बिता रहे हैं उसमें इन शब्दोंका कोई अर्थ प्रतीत नहीं होता। शब्द सार्थक तभी होता है जब उसके भीतरकी आत्मा जीवित हो। अगर किसी शब्दसे कोई अर्थ नहीं निकलता तो वह शब्द निरा प्रलाप है। हम आत्मा, ईश्वर, ब्रह्म, परलोक आदि अनेक शब्दोंका प्रयोग करते हैं, परन्तु क्या कभी हमने सोचा है कि ये शब्द हमारे लिये कुछ अर्थ रखते हैं या निरर्थक शब्द हैं। जिस व्यक्तिके लिये 'आत्मा' शब्दका कोई अर्थ हो वह शरीरकी साधना करेगा या आत्माकी साधना करेगा; जिस व्यक्तिके लिए 'ईश्वर' या 'ब्रह्म' शब्दका कोई अर्थ हो वह संसार की, प्रकृतिकी उपासना करेगा या ईश्वरकी, ब्रह्मकी उपासना करेगा; जिस व्यक्तिके लिये 'परलोक' शब्दका कोई अर्थ हो वह इस लोकमें ही लिप्त रहेगा या उस लोकको भी जीवनमें कोई स्थान देगा? परन्तु आज हमारा जीवन क्या रह गया है? हम आत्माका नाम लेते हैं और आत्माकी साधनाका कोई काम नहीं करते, हम ईश्वर और ब्रह्मके गीत गाते हैं और नास्तिकताका जीवन बिताते हैं, हम परलोकका उपदेश देते हैं और इस लोकमें लिप्त रहते हैं। इस सबका क्या अर्थ है?

क्या इसका यह अर्थ नहीं कि हमारी संस्कृति हमारे लिए मर चुकी है, जीवित नहीं रही ? अगर हमारी संस्कृति हमारे लिए जीवित होती यो हमारा जीवन वह सब-कुछ न होता जो आज बना हुआ है। संस्कृति केवल शब्दोंका नाम नहीं है, संस्कृति तो किन्हीं सार्थक शब्दोंका नाम है, संस्कृति केवल दार्शनिक विचारोंका नाम नहीं है, संस्कृति क्रियात्मक विचारोंका नाम है। संस्कृति विचारोंकी उस धाराको कहते हैं जो किसी देश या जातिके जीवनमें उतरती जाती है, जो विचारधारा देश या जातिके जीवनको नहीं प्रभावित करती, उसके दिन-दिन और छिन-छिनकी जीवनकी दिशाको मोड़ नहीं देती, वह संस्कृति नहीं कहला सकती। इस दृष्टिसे देखा जाय तो आज हमारे पास कोई संस्कृति नहीं है, ऐसी संस्कृति जो हमारे जीवनको एक छोरसे दूसरे छोर तक सराबोर करती हो, उसे अपनेमें डुबो लेती हो, उसे अपनेमें घुला-मिला लेती हो।

आज जब अंग्रेज़ोंको हमारा देश छोड़े अनेक वर्ष बीत गये, हमारी मुख्य सांस्कृतिक समस्या क्या है ? आज हम अपनी संस्कृतिका जो-कुछ बनाना चाहें बना सकते हैं। आजके दिन होना तो यह चाहिए था कि अंग्रेज़ोंके हटते ही हमारी संस्कृति फूलने-फलने लगती, परन्तु ऐसा-कुछ होता नज़र नहीं आता। हमारी संस्कृतिका पाश्चात्य-संस्कृतिसे सीधा टाकरा हो रहा है और इस टाकरेमें हमारी संस्कृति जो सदियोंसे कभी पीछे नहीं हटी थी पीछे कदम रखती नज़र आ रही है। इसका क्या यह कारण है कि हमारी संस्कृतिमें कभी दम ही नहीं था, यह संस्कृति किसी काम की ही नहीं थी, इस संस्कृतिका अपनेसे ऊंची किसी संस्कृतिसे कभी टाकरा ही नहीं हुआ

था, अबतक यह अपनेसे नीची संस्कृतियोंसे ही टकराई थी, अपनेसे ऊंची किसी संस्कृतिके संपर्कमें ही यह नहीं आयी थी, अब इसका टाकरा अपनेसे ऊंची संस्कृतिसे हुआ है, पाश्चात्य-संस्कृतिसे, इस टाकरेमें यह नहीं टिक रही—क्या यह बात है? ऐसी बात नहीं है। असली बात यह है कि पाश्चात्य-संस्कृतिका वैदिक-संस्कृतिसे कभी टकराव ही नहीं हुआ, वैदिक-संस्कृतिके शवसे, उसके मृत शरीरसे टाकरा हुआ है। हमारी संस्कृति आज है ही कहां, आज तो सिर्फ़ उसका नाम बचा हुआ है। कहां हैं वे लोग जो राज भी करते थे और ठीक समय पर राजको छोड़ भी देते थे, संसारके ऐश्वर्यको भोगते भी थे और समय आनेपर उन्हें त्याग भी देते थे। संस्कृति केवल विचारोंका नाम नहीं है, संस्कृति किन्हीं विचारोंको आचारमें उतारनेका नाम है। आज वैदिक-संस्कृतिके विचार मौजूद हैं, जहां तक उनके आचारका संबंध है, व्यवहारमें आनेका संबंध है, वे मर चुके हैं। पाश्चात्य-संस्कृतिका टाकरा उस वैदिक-संस्कृतिसे नहीं हुआ जो जिन्दा थी, उसका टाकरा उस वैदिक-संस्कृतिसे हुआ जो मर चुकी थी, जिसका शव मात्र शेष रह गया था, जिस संस्कृतिका नाम लेनेवाले उस संस्कृतिके सिर्फ़ विचारोंकी माला जपते थे, परन्तु जो संस्कृति उनके जीवनमें नहीं उतरी थी। ऐसी संस्कृतिके साथ टाकरेमें पाश्चात्य-संस्कृति क्यों न उसे परास्त कर देती?

हमारी संस्कृतिकी असली समस्या इसे पुनरुज्जीवित करने की है। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य—वर्ण-व्यवस्था—सोलह संस्कार, आत्मवाद, ईश्वर, ब्रह्म, भोग-त्याग, इह-लोक, पर-लोक—आज ये सब शब्द खोखले हो चुके हैं, इन खोखले शब्दोंको फिरसे प्राणवान् बनाना, इनमें प्राण-

प्रतिष्ठा करना, इनमें जीवन भरना—यह है हमारी वास्तविक सांस्कृतिक समस्या। संस्कृतिका नाम लेनेवाली जितनी संस्थायें हैं, ख़ासकर वैदिक-संस्कृतिका नाम लेनेवाली संस्थाओंका कार्य चारों तरफ़ बिखरे हुए संस्कृतिके इन खण्डहरोंकी अजायबघर के तौरपर रक्षा करना नहीं अपितु इनको उसी भव्य-भवनका रूप देना है जो रूप इन खण्डहरोंका वैदिक-संस्कृतिके चढ़ते दिनोंमें रहा होगा। सांस्कृतिक-संस्थाओंका काम भारतकी मृत-संस्कृतिको जीवित बनाना है, शवोंमें जान फूंकना है, लाशों को ज़िन्दा बनाकर खड़ा कर देना है। तब हमारे देशकी असली संस्कृति जब अंगड़ाई लेकर मानो सोतेसे उठेगी तो इसके सामने संसारकी कोई संस्कृति टक्करमें नहीं टिक सकेगी।

आज स्वतन्त्रता-प्राप्तिके बाद हमारे देशके नवयुवकोंका ध्यान संस्कृतिसे हटकर राजनीतिकी तरफ़ चला गया है। सब कोई मेम्बर, सेक्रेटरी, मिनिस्टर बनना चाहते हैं। राजनीति कोई बुरी चीज़ नहीं है, परन्तु राजनीति किसी देशको एक नहीं बना सकती, राजनीति द्वारा देशमें शान्ति भी नहीं आ सकती। राजनीतिका उद्देश्य व्यक्तिका सत्ता प्राप्त करनेकी इच्छा है। जो व्यक्ति राजनीतिके क्षेत्रमें जाता है उसका उद्देश्य अपनेको सत्तावान् होते देखना है। राजनीतिक-पुरुष जन-सेवा भी सत्ता, प्रभुत्वके उद्देश्यसे करता है। जन-सेवा करेगा तो उसे सत्ता प्राप्त होगी, प्रभुत्व प्राप्त होगा। परन्तु सत्ता पानेकी इच्छा से कभी एकता कायम नहीं होती और इसीलिये राजनीतिमें पहले दल बनते हैं, फिर दलोंमें अवान्तर दल बनते हैं, और फिर सत्ता पानेके लिए सब एक दूसरेसे लड़ते-झगड़ते हैं। लड़ाई-झगड़ेमें एकता कहां, और शान्ति कहां? राजनीतिके

मुकाबलेमें संस्कृतिका उद्देश्य देशमें एकता लाना होता है, जब
संस्कृति मनुष्यको मनुष्यसे लड़ाने लगती है तब उसके आधार
में भी राजनीति, वैयक्तिक या दलगत सत्ता पानेकी इच्छा काम
कर रही होती है। जब संस्कृतिका उद्देश्य सत्ता प्राप्त करना
हो जाता है तब वह अपने उद्देश्यसे डिगकर राजनीतिके उद्देश्य
को पकड़ लेती है। राजनीतिका उद्देश्य सत्ता प्राप्त करना है,
संस्कृतिका उद्देश्य सत्ता प्राप्त करना नहीं होता, अपितु जीवन
बनाना, जीवनकी समस्याओंको समझना और उन्हें सुलझाना
होता है। सांस्कृतिक-क्षेत्रमें एकता है, शान्ति है, उसमें लड़ाई-
झगड़ा नहीं होता, होता है तो तभीतक जबतक उस क्षेत्रको
किसी प्रकारकी राजनीति छू रही होती है।

आज हम संस्कृतिका अर्थ नाचना-गाना समझने लगे हैं।
हमारे सांस्कृतिक मिशन विदेश जाते हैं तो नाचने-गानेके
लिए। इस देशमें संस्कृतिका जो पुनरुद्धार हो रहा है वह नाचने-
गाने तक सीमित है। मणिपुरी-डांस और कत्थक-कली-नृत्यको
भारतकी संस्कृति समझा जा रहा है। क्या यही भारतीय
संस्कृति है? क्या नाचने-गानेसे हम भारतीय-संस्कृतिका उद्धार
कर सकेंगे? क्या नाचने-गानेसे भारतकी संस्कृतिकी विश्वपर
छाप पड़ी हुई थी? भारतकी संस्कृति विचारोंका वह अविरत
बहनेवाला झरना है जिसका प्रभाव वेदोंके अखंड स्रोतसे फूट
कर उपनिषदों और दर्शन ग्रन्थोंकी उपत्यकाओंसे बहता हुआ
आज भी हमारे कानोंमें झर-झर करता सुनाई देता है। विचारों
की उन धाराओंको जो आज सूखती जा रही हैं फिरसे आप्ला-
वित करना वैदिक-संस्कृतिको पुनरुज्जीवित करना है।

यह हो सकता है कि हम उन विचारोंको ठीक उसी रूपमें आजकी बदली हुई परिस्थितियोंमें जीवित न कर सकें। लोग ठीक कहते हैं कि आजकी आर्थिक-स्थितिमें वानप्रस्थी और संन्यासी अपना जीवन कैसे बिता सकते हैं, आजकी आर्थिक-स्थितिमें गुरु अपने शिष्यको अपने घर रखकर कैसे पढ़ा सकता है, पढ़ाने-लिखानेके साथ स्वयं तथा अपने शिष्यको कैसे भिक्षा-वृत्ति पर रख सकता है ? यह सब ठीक है, परन्तु भारतीय-संस्कृति ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ, संन्यास—इन शब्दोंसे बंधी हुई नहीं है। भारतीय-संस्कृतिमें ये शब्द किन्हीं आधारोंको लेकर बने थे, किन्हीं जीवित-जागृत विचारोंके ये प्रतिनिधि थे। आज अगर परिस्थितियां बदल गई हैं तो भी जीवनके प्रति जो भारतीय दृष्टि-कोण था, आधारभूत दृष्टि-कोण, जिस दृष्टि-कोणको सामने रखकर भारतीय-संस्कृतिने जन्म लिया था, वह तो नहीं बदला। पाश्चात्य-संस्कृति भौतिकवादी है, भारतीय-संस्कृति भौतिकवादी नहीं है, पाश्चात्य-संस्कृति इह-लोकको ही आदि तथा अन्त समझती है, भारतीय-संस्कृति इह-लोकको पर-लोकका एक अंग समझती है, पाश्चात्य-संस्कृति मनुष्यको यहां, इस जन्ममें समाप्त कर देती है, भारतीय-संस्कृति उसे यहां समाप्त नहीं करती, उसे एक लड़ी की कड़ी समझती है। जीवन में आर्थिक जटिलता कितनी भी आ गई हो, परिस्थितियां कितनी भी बदल गई हों, भारतीय-संस्कृतिके इस दृष्टि-कोणमें, इस विचार-प्रणालीमें तो कोई भेद नहीं आया। सदियों पहले भी हमारी संस्कृतिका यह दृष्टि-कोण था, आज भी यह दृष्टि-कोण है। इस दृष्टि-कोणको आधार बनाकर हमारी संस्कृतिने जीवन की समस्याओंको सुधारनेका, सुलझानेका प्रयत्न किया था।

ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ, संन्यास, इह-लोक, पर-लोक, प्रवृत्ति-निवृत्ति आदि शब्द उन्होंने अपनी आधारभूत विचार-धाराको प्रकट करनेके लिये घड़े थे, जबतक इन शब्दोंमें वह विचार-धारा जीवित थी तबतक वे शब्द जीवित थे, जब इन शब्दोंमेंसे वह विचार-धारा निकल गई तब ये शब्द मृत-शब्द हो गये, एक तरहके खंडहर हो गये, वे नाम मात्रके हमारी संस्कृतिके चिह्न बनकर रह गये। इन शब्दोंसे चिपटे रहना वैदिक-संस्कृति नहीं है, वैदिक-संस्कृति इन शब्दोंके भीतरकी आत्मा है। वह आत्मा नहीं रही तो ये शब्द बेकार हैं।

हमें फैसला यह करना है कि हमारी संस्कृतिकी आधारभूत जो विचार-धारा थी वह ठीक थी या नहीं? हम जिस-किसी भी विचारको अपनी संस्कृति कहते हैं वह उसी विचार-धाराका प्रकट रूप है, उसी विचार-धाराका मानो शरीर है। ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ, संन्यास, परलोक, निवृत्ति, अनासक्ति—ये सब हमारी आधारभूत विचार-धाराके शरीर हैं, उस विचार-धाराको क्रियात्मक रूप देनेके साधन हैं। ये हमारी संस्कृति नहीं हैं, ये तो हमारी संस्कृतिके स्थूल शब्द हैं, स्थूल शरीर हैं, हमारी संस्कृतिका ढांचा हैं, असलमें हमारी संस्कृति इन स्थूल शरीरोंके भीतर बैठी हुई आत्मा है, इनकी प्राण, इनकी मूलाधार जो विचार-धारा है वह हमारी वास्तविक संस्कृति है। अगर वह विचार-धारा ही ठीक नहीं थी तो हमारी संस्कृति का ढांचा रेती के मकानकी तरह ढह जाता है, परन्तु अगर वह विचार-धारा ठीक थी तब हमारी असली समस्या उठ खड़ी होती है, यह समस्या कि वैदिक-संस्कृतिकी मौलिक विचार-धाराको, उसके मौलिक दृष्टि-कोण को किस प्रकार क्रियात्मक

रूप दिया जाय। हमारा मौलिक दृष्टि-कोण, हमारी मौलिक विचार-धारा अध्यात्मवाद है। उस अध्यात्मवादको सदियां गुज़र गईं भारतके ऋषियों-मुनियोंने अपने समयको, अपनी परिस्थितियोंको ध्यानमें रखते हुए अपने ढंगसे क्रियात्मक रूप दिया था। आज अगर परिस्थितियां बदल गई हैं, जीवनको जटिलता ने आ घेरा है, तो भी अध्यात्मवादकी सत्यतामें तो कोई परिवर्तन नहीं हुआ। अध्यात्मवाद अगर सृष्टिके प्रारंभमें सत्य था तो आज भी वह उतना ही सत्य है। अगर हमने यह फैसला कर लिया कि अध्यात्मवाद सत्य है, भौतिकवाद सत्य नहीं है, तब इन परिवर्तित परिस्थितियोंको ध्यानमें रखते हुए, जीवन की इस युगकी जटिलताको ध्यानमें रखते हुए अध्यात्मको जीवन में उतारना, उसे स्थूल रूप देना—यह हमारा कर्तव्य हो जाता है। यह ज़रूरी नहीं कि इस युगमें भी हम अध्यात्मवादको क्रियात्मक रूप देनेके लिए उन्हीं उपायोंका, उन्हीं साधनोंका प्रयोग करें जिनका प्राचीन-कालमें प्रयोग किया गया था, जिनका प्रयोग हमारे ऋषि-मुनियोंने किया था। अगर उन उपायोंका प्रयोग किये बिना आध्यात्मिकता जीवनमें आ ही न सके, तब उन्हीं उपायोंका प्रयोग करना पड़ेगा, परन्तु अगर आजकलकी जटिलताके कारण हमें प्राचीन परम्पराओंसे भिन्न मार्ग भी अपनाना पड़े तो भी कोई हर्ज नहीं। वास्तविक प्रश्न परंपराओं के साथ चिपटे रहने का नहीं, वास्तविक प्रश्न वैदिक-संस्कृति की आधारभूत मौलिक विचार-धाराको, उसके मौलिक दृष्टि-कोणको हाथसे न खो देनेका, उस दृष्टि-कोणको बनाये रखने का है।

यह काम साधारण नहीं, असाधारण है। हम समझते हैं, हमने सांस्कृतिक-केन्द्रोंकी स्थापना कर दी, जल्से-उत्सव कर दिये,

बस इससे वैदिक-संस्कृतिकी रक्षा हो गई। इतनेसे वैदिक-संस्कृतिकी रक्षा नहीं हो सकती। अभी तक हम क्या कर रहे हैं? एक बड़ा फलता-फूलता नगर था। बड़े-बड़े समृद्धिशाली लोग उसमें रहते थे। आलीशान उसमें मकान थे। भूचाल आया, सब-कुछ धराशायी हो गया। छतें गिर गईं, मकान मलबे के ढेर हो गये, इस मलबेके नीचे स्त्री-पुरुष-बच्चे दब गये। इस धराशायी नगरमें सफरमैना पहुंची, फ़ौजके दस्ते पहुंचे। उन्होंने मलबेके नीचे दबे हुओं को ढूंढ़-ढूंढ़कर निकालना शुरू किया। जो निकले उनमेंसे कुछ लाशें थीं, कुछ का प्राण सिसक-सिसककर निकल रहा था। इस धराशायी नगर को फिरसे खड़ा कर देना, जो मर चुके उनका दाह-संस्कार कर देना, और जो सिसक रहे हैं उन्हें प्राणवान् बना देना—असली काम यह रह जाता है। आज हमारा यही काम है। वैदिक-संस्कृतिका भवन सदियों के थपेड़ों और भिन्न-भिन्न संस्कृतियोंकी टक्करोंके भूचालों से धराशायी हो चुका है। सांस्कृतिक आन्दोलन तो अभी वैदिक-संस्कृतिके अवशेषों को ढूंढ़-ढूंढ़कर इस मलबेमेंसे बाहर निकाल रहे हैं, परन्तु अभी तक असली काम बाकी है। इस मलबे के ढेरमेंसे जो-कुछ बाहर निकला है उसमेंसे हमारी संस्कृतिके कितने ही विचारोंमें तो सिर्फ़ सिसकते प्राण हैं। सिसकते प्राण वाले विचारोंको जीवित बना देना हमारा असली काम है। यह काम अभीतक नहीं हुआ और यही कारण है कि यद्यपि हम वैदिक-संस्कृतिके अनेक विचारोंकी अंगुलियों पर गिनती तो कर सकते हैं, परन्तु यह सिर्फ़ एक गिनती मात्र है, हमें जीते-जागते विचार नहीं दिखलाई देते, और यही कारण है कि यद्यपि अंग्रेज़ चले गये, वैदिक-संस्कृतिको अब तो पनपना चाहिये

था, तो भी वैदिक-संस्कृतिकी लाशोंसे अपनेको चारों तरफ़से घिरा पानेके कारण हमें अपनी संस्कृति नामको दीखती है, जीवित-जागृत नहीं दीखती।

हमारा क्या काम है? हमारा काम वैदिक-संस्कृतिकी दुहाई देना नहीं है, वैदिक-संस्कृतिके शब्दोंकी गिनती करा देना नहीं है, वैदिक-संस्कृति क्या थी—इतना बतला भर देना ही नहीं है। यह काम तो कोई भी इतिहासकार बतला सकता है। हम अभी तक यही काम करते रहे हैं, इससे आगे नहीं बढ़े; हम अभी तक वैदिक-संस्कृतिके पुराने ढेरमेंसे दबे हुए इस संस्कृति-के चमकते विचारोंको चुनते भर रहे हैं, इससे आगे खड़े हो गये हैं। इससे आगे बढ़नेमें यह कठिनाई दीखती रही है कि आजके ज़मानेमें वैदिक-संस्कृतिके विचार कुछ अजनबीसे मालूम पड़ते हैं, आज-कलकी आर्थिक-जटिलतामें बैठते नहीं दीखते। शायद यही कारण है कि हम इन नवीन परिस्थितियोंके अनुकूल अपनेको भी बदलनेका प्रयत्न कर रहे हैं। बदली हुई परिस्थितियोंमें जो अपनेको नहीं बदल पाता वह टिक नहीं सकता, अपनेको परिस्थितियोंके अनुसार बदलना जीवनका चिह्न है, परन्तु हमारी सबसे बड़ी समस्या यह है कि हम बदलते हुए कहीं अपनेको वैदिक-संस्कृतिकी विचार-धारासे बिल्कुल तोड़ते तो नहीं चले जा रहे? वैदिक-संस्कृतिकी अध्यात्मवादकी विचार-धाराको भौतिकवादी-युगमें क्या रूप लेना होगा—यह हमारी असली समस्या है। ऋषि-मुनियोंने अध्यात्मवादी युगमें अध्यात्मवादके जीवनकी रूप-रेखा का निर्माण किया था। इसमें वे सफल हुए। हम भौतिकवादी-युगमें या तो ऋषि-मुनियों की जीवन संबंधी उसी रूप-रेखापर चलना चाहते हैं, या इस

भौतिकवादी-युगमें अध्यात्मवादको बिल्कुल तिलांजलि दे देना चाहते हैं। इसी कारण हम असफल हो रहे हैं। इस भौतिकवादी-युगमें अध्यात्मवादी युगकी हू-ब-हू वही रूप-रेखा चल नहीं सकती, परन्तु हम उसे चलाते चले जा रहे हैं, इसलिये आज वैदिक-संस्कृतिके केवल शब्द भर रह गये हैं, इन शब्दोंकी हम तोतेकी तरह रट लगाते हैं, हममेंसे किसीके जीवनमें वैदिक-संस्कृति उतरी हुई नहीं दिखलाई देती। इससे अधिक थोथापन क्या हो सकता है? जो लोग वैदिक-संस्कृतिका नाम लेते हों उनका जीवन, उनकी अन्दरकी आत्मा इस संस्कृतिसे खोखली हो—यह विडम्बना कबतक चल सकती है। इस आत्म-प्रवंचनासे बचनेके लिए कुछ लोग वैदिक-संस्कृतिको सर्वथा तिलांजलि देते चले जा रहे हैं। उन्हें और दूसरा कोई विकल्प सूझता ही नहीं।

इस भयंकर समस्याका क्या इलाज है? इसका इलाज यह है कि हम समस्याके असली रूपको समझें। समस्याको समस्याके रूपमें समझ लेना उसका आधा समाधान कर लेना है। अभी तक तो हम समझते ही नहीं कि हमारे सामने कोई समस्या है। हम समझते हैं कि हमने सांस्कृतिक-केन्द्र खोल दिये, सांस्कृतिक मिशन विदेशोंमें भेज दिये—बस, भारतीय-संस्कृतिकी सब समस्याओं का हल हो गया। यह हमारी ग़लत धारणा है। यह हो सकता है कि सांस्कृतिक-केन्द्र खुल जायें और उनमें अध्यात्मवादकी जगह भौतिकवाद पनप रहा हो, यह भी हो सकता है कि मनुष्यका बाहरका जीवन भौतिकवादी हो परन्तु उसकी अन्तरात्मामें अध्यात्मवादके विचारोंकी धारा बह रही हो। हमारी असली समस्या वैदिक-संस्कृतिके शरीरको संभाल

कर रखना नहीं, वैदिक-संस्कृतिके बाह्य-रूपको, बाह्य आडम्बर को बनाये रखना नहीं, हमारी असली समस्या वैदिक-संस्कृति की आत्माको, उसके प्राणको, उसकी यथार्थताको जीवित रखना है। आज वैदिक-संस्कृतिके उपासकोंके सामने जो विकट समस्या है वह क्या है? वह समस्या यह है कि अध्यात्मवादको हम छोड़ नहीं सकते क्योंकि हम जानते हैं कि वही सत्य है, वही यथार्थ है, भौतिकवादको भी हम नहीं छोड़ सकते क्योंकि हम जानते हैं कि वह आकर अब जानेवाला नहीं है। तो हम क्या करें? हमारा काम और असली काम, वैदिक-संस्कृतिके हर उपासकका काम भौतिकवादके शरीरमें आध्यात्मवादकी आत्मा को उतार देना, अध्यात्मवादकी आत्माको बैठा देना है। भौतिकवादसे मुंह नहीं फेरा जा सकता। वह आ चुका है, और हर व्यक्तिके जीवनमें घर कर चुका है। अध्यात्मवादको भी अपने पुराने रूपमें जैसे-का-तैसा रखा नहीं जा सकता। अपने पुराने रूपमें वह आजकी जटिल आर्थिक-व्यवस्थामें टिक नहीं सकता। उसी रूपमें उसे बनाये रखनेका परिणाम यह हो रहा है कि अध्यात्मवाद केवल व्याख्यानका विषय रह गया है, जीवनमें उतरता कहीं दिखलाई नहीं देता, जहां दिखलाई देता है वहां ढोंग के रूपमें दिखलाई देता है। भौतिकवादके शरीरमें अध्यात्मवाद की आत्माको उतार देना, भौतिकवादको अध्यात्मवादी बना देना, भौतिकवादको अध्यात्मवादके रंगमें रंग देना—यह कार्य है जो सांस्कृतिक पुनर्निर्माणके लिए हमें करना है। वैदिक-संस्कृतिकी यही पुकार है, वैदिक-संस्कृति इसी प्रकार जीवित रह सकती है, आजके युगका यही चैलेंज है। आज हमें इस बातका उत्तर देना है कि युगके इस चैलेंजको हम स्वीकार करते हैं या नहीं?

[१५]

उपसंहार

भौतिकवाद तथा अध्यात्मवादका समन्वय—

हमने देखा कि वैदिक-संस्कृतिका दृष्टि-कोण कोरा आध्यात्मिक दृष्टि-कोण नहीं था। कोरे आध्यात्मिक से हमारा अभिप्राय है ऐसा दृष्टि-कोण जिसमें भौतिकवादको सर्वथा हेय दृष्टिसे देखा जाता हो। वैदिक-संस्कृतिका दृष्टि-कोण वर्तमान प्रचलित विचार-धाराकी दृष्टिसे एक वैज्ञानिक दृष्टि-कोण था। आजकलके विचारक जो-कुछ दीखता है उसको सत्य मानकर चलना अधिक युक्तियुक्त समझते हैं, इसे वे व्यावहारिक-दृष्टि कहते हैं, वैदिक-संस्कृतिके विचारक भी जो-कुछ दीखता है उसे सत्य मानकर चले थे, व्यावहारिक-दृष्टिसे ही जीवनकी समस्यापर सोचते थे। संसार सत्य है—यह हमें अनुभवसे दीखता है। आज जगत् है, और कल जब हम सोकर उठे तो जगत्का कहीं पता ही नहीं—ऐसा तो नहीं होता। लाखों-करोड़ों सालोंसे यह विश्व अपनी नाना प्रकारकी विभूतियोंके साथ चला आ रहा है—इसे मिथ्या कैसे मानें? परन्तु व्यावहारिक-दृष्टिसे यह भी सत्य है कि यह संसार और इसके विषय अन्ततक टिकनेवाले नहीं। आज जो वस्तु हमारे चित्तको लुभाती है, जिसके बिना हम रह नहीं सकते, कल उसे हम बिल्कुल भूल जाते हैं, उसकी तरफ़ देखने को भी जी नहीं चाहता। जिन

विषयोंके प्रति हमारा खिंचाव होता है उन्हींके प्रति हम उपराम हो जाते हैं। यह विरोध-सा दीखता है, परन्तु इस विरोधका कारण है। इसका कारण यही है कि यद्यपि संसार सत्य है, इसके विषय सत्य हैं, तथापि जब हम संसारको पूर्ण-सत्य मान-कर इसके विषयोंमें रम-रम जाते हैं, इतना रम जाते हैं कि इससे परे जो-कुछ है उसे भूल जाते हैं, तब यह संसार असत्य हो जाता है, मिथ्या हो जाता है, तब विषयोंमें अपने-आपको खो देनेवालेके सामने यह सत्य संसार ही अपनी असत्यता, निःसारता और मिथ्यात्व खोलकर रख देता है। कौन है जो संसारके विषयोंमें रमनेके बाद उनसे उपराम नहीं हो जाता, उनसे लगावके बाद अलगाव नहीं अनुभव करता। संसारसे लगावको जैसे हम अनुभव करते हैं, वैसे इससे अलगावको भी हमीं अनुभव करते हैं। इस दृष्टिसे भौतिकवाद भी सत्य है, अध्यात्मवाद भी सत्य है—परन्तु पूर्ण-सत्य न भौतिकवाद है, न अध्यात्मवाद है, पूर्ण-सत्य भौतिकवाद और अध्यात्मवादका समन्वय है जिसे हमने १३वें अध्यायमें 'भौतिक-अध्यात्मवाद' (Material Spiritualism) का नाम दिया है। व्यापक दृष्टि तो वही है जो अधूरी नहीं, पूरी सचाईको देखे, और पूरी सचाई है—संसारका सत्य होना, मनुष्यका संसारके भोगों के लिये लालायित हो उठना, उसके बाद संसारका असत्य प्रतीत होने लगना, और संसारको भोग लेनेके बाद संसारसे उपराम हो जाना। यही सत्य दृष्टि है, व्यावहारिक दृष्टि है—ऐसी दृष्टि जो हर-एकको अपने प्रतिदिनके व्यवहारमें, अपने अनुभवमें आती दीख पड़ती है।

यह संसार जो सत्य प्रतीत होता है, कुछ देरके वाद असत्य क्यों प्रतीत होने लगता है, दुनियांको भोगनेका परिणाम दुनियां से विरक्ति क्यों हो जाता है? इसके दो कारण हैं। एक बाह्य कारण है, दूसरा आभ्यन्तर। बाह्य कारण तो यह है कि संसार की सारताके पीछे असारता छिपी पड़ी है, और जब हम संसार को सत्य मानकर चलने लगते हैं तब असारता धीरे-धीरे प्रकट होने लगती है। जो उत्पन्न हुआ है वह समय आनेपर नष्ट हो जाता है—शस्य, वनस्पति, कीट-पतंग, पक्षी, पशु, मनुष्य सभीमें उत्पत्ति और विनाशका एक अटल नियम है। संसारकी हर वस्तुमें क्षय है, नाश है, कोई वस्तु अपने मोहक रूपमें शाश्वत-कालतक टिकनेवाली नहीं है। संसारके सुन्दर रूपको देखकर उसकी तरफ़ राग पैदा होता है, उस सुन्दरताको धीरे-धीरे नष्ट होते देखकर उससे विराग उत्पन्न हो जाता है। इस बाह्य कारणके अतिरिक्त विषयोंसे उपरतिका दूसरा कारण आभ्यन्तर है। इच्छाकी तृप्तिके अनन्तर अनिच्छा, प्रवृत्तिके बाद निवृत्ति, भोगके वाद त्याग—यह मानसिक रचनाका अनुल्लंघनीय नियम है। कोई खाना खानेके बाद फिर झट-से खाना खाने नहीं बैठ जाता, भरपेट पानी पीनेके बाद फिर झट-से पानी पीने नहीं लगता। भूख मिट जानेके कुछ देर बाद फिर भूख लगती है, प्यास बुझ जानेके कुछ देर बाद फिर प्यास लगती है, इसका यह अभिप्राय नहीं है कि वैराग्यके वाद फिर राग उत्पन्न होना, संसारसे मोह छूट जानेके बाद फिर मोह उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक है। भूख-प्यास भौतिक हैं, उनका शरीर से संबंध है, वे लगती हैं, मिटती हैं, कुछ देर शांत रहनेके बाद फिर लगती हैं, उनका बार-बार लगना ही उनका नियम है;

राग-मोह-ममता-प्रवृत्ति आध्यात्मिक हैं, उनका शरीरसे नहीं मनसे, आत्मासे संबंध है, रागके बाद वैराग्य, मोहके बाद विमोह, ममताके बाद ममताका नाश, प्रवृत्तिके बाद निवृत्ति—यही आध्यात्मिक नियम है। यह हो सकता है कि रागके बाद वैराग्य आये, कुछ देरतक वैराग्य टिके, और उसी वस्तुके लिए फिर राग, फिर प्रवृत्ति जाग उठे। परन्तु यह परखा हुआ आध्यात्मिक नियम है कि पहली वारका राग, पहली वारका मोह, पहली वारका आकर्षण जितना प्रबल होगा, दूसरी वारका उतना प्रबल नहीं होगा, दूसरी वारका जितना प्रबल होगा, तीसरी वारका उतना प्रबल नहीं होगा, एक ही वस्तुके प्रति राग उत्तरोत्तर निर्बल होता जायगा, क्षीण होता जायगा, धीरे-धीरे मिटता जायगा। हां, यह हो सकता है कि रागके बाद एक वस्तुके लिये वैराग्य उत्पन्न हो जाय, परन्तु दूसरी वस्तुके लिये राग उत्पन्न हो जाय, उतना ही प्रबल राग जितना उस वस्तुके लिए हुआ था जिसके प्रति अब वैराग्य उत्पन्न हो गया है। परन्तु धीरे-धीरे वही बात फिर इसके साथ घटने लगती है, यह क्या और वह क्या, प्रत्येक भौतिक-पदार्थके साथ ऐसा ही होता है। जब प्रत्येक भौतिक-पदार्थके साथ राग के पीछे वैराग्य आना ज़रूरी है तब यह कह देनेमें कोई अत्युक्ति नहीं कि भूखके कुछ देर बाद भूख भले ही लगे, परन्तु राग-मोह-ममतासे होते-होते अन्तमें वैराग्य और त्याग उत्पन्न होना अवश्यम्भावी है। एक रागके बाद जब भी दूसरा राग होगा, वह अगर किसी प्राकृतिक विषयके साथ होगा तो उसका अन्त वैराग्य अवश्य होगा। जिस एक विषयके प्रति राग उत्पन्न हुआ है उसी विषयके प्रति वैराग्य भी उत्पन्न हो जायगा,

जिसके प्रति आकर्षण है उसीके प्रति उदासीनता भी उत्पन्न होगी। रागके बाद वैराग्य, प्रवृत्तिके बाद निवृत्ति, भोगके बाद त्याग—इस नियमको कोई टाल नहीं सकता। कोई भी भौतिक पदार्थ होगा उसके साथ यही नियम घटता चला जायगा।

आत्मिक-जगत्में इस प्रकारके नियमका होना क्या सिद्ध करता है ? हम एक चीज़में रस लेते हैं, कुछ देर तक वह वस्तु हमारी तृप्तिका साधन बनी रहती है, हम उसीमें एकाग्र हो जाते हैं, तन्मय हो जाते हैं, उसीमें लीन हो जाते हैं। परन्तु कुछ देर बाद हम अनुभव करने लगते हैं कि वह वस्तु अब हमारी तृप्तिका साधन नहीं रही, वह बिल्कुल एक खोखली-सी, नीरस वस्तु है, हम उसे छोड़ आगे, किसी दूसरी वस्तुकी, तृप्तिके किसी दूसरे साधनकी तलाशमें निकल पड़ते हैं। मनुष्यका मन इसी प्रकार एकसे दूसरे और दूसरे से तीसरे पदार्थकी खोजमें भटकता फिरा करता है। क्या यह भटकना यह सिद्ध नहीं कर रहा कि संसारके पदार्थ मनुष्यको अपने पास खींच-खींचकर इसलिये बुलाते हैं कि उसके सामने अपनी असलीयतको, अपने यथार्थ-स्वरूपको खोलकर रख दें, और उसके कानमें चुपकेसे कह दें कि तेरी आत्मिक-प्यास संसारके विषयोंमें पड़े पानीके एक-एक बूंदसे नहीं बुझेगी, इसे बुझाना है तो आगे देख, प्रकृतिसे आगे, प्रकृतिके विषयोंसे आगे—उस तरफ़ जहांसे ये बूंदें आती हैं, जो इन बूंदोंका आदि-स्रोत है, इनका भंडार है। आत्मामें अनन्त, अखंड आनन्दको पानेकी एक अमिट चाह है—इससे कौन इन्कार कर सकता है ? उस चाहकी पूर्तिके लिए ही तो यह मनुष्य संसारके विषयोंमें जगह-जगह अटकता है। इन विषयों में वह चाह पूर्ण नहीं होती इसीलिये तो कुछ देर भटकनेके बाद

यह ऐसी वस्तुको जिसपर इसका जीना-मरना अवलम्बित था छोड़कर आगे चल देता है। अगर यह बात न हो तो क्या कारण है कि प्रवृत्तिके बाद निवृत्ति अवश्य आती है, रागके बाद वैराग्य अवश्य आता है, बड़े-से-बड़े रागी, भोगी और विलासी को भी आता है। यह नहीं हो सकता कि आत्माका इस प्रकार भटकना सदा भटकनेके लिये ही है, यह भटकना एक ऐसी घुमरघेरी में पड़ जाना है जिसका कोई ओर-छोर नहीं। विश्व की रचना ऐसी नहीं है। प्यास है तो उसे बुझानेके लिये पानी मौजूद है, आंख है तो देखनेके लिये सूर्य मौजूद है, अनन्त सुख की, आनन्दकी चाह है, तो वह चाह पूरी होनी ही चाहिये, इस खोजका कोई अन्त होना ही चाहिये—यह नहीं हो सकता कि यह चाह चाह ही बनी रहे, यह खोज खोज ही बनी रहे, भटकना भटकना ही बना रहे, सृष्टिकी रचनामें ऐसा कुछ भी नहीं है जो इस प्रकारके निराशाके दृष्टि-कोणकी पुष्टि करे।

वैदिक-संस्कृतिके जिस दृष्टि-कोणका हमने अभी वर्णन किया उसका विश्लेषण किया जाय तो निम्न बातें उसमें आ जाती हैं:—

(१) यह संसार सत्य है, यह मनुष्यके भोगके लिये रचा गया है—मनुष्यके लिये यह कर्म-भूमि है, कर्म-क्षेत्र है।

(२) संसार सत्य है पर साथ ही असत्य भी है, कोई वस्तु यहां टिकती नहीं, अस्तिका अन्त नास्ति है, उत्पत्तिका अन्त विनाश है, जो आज है वह कालान्तरमें नहीं है।

(३) संसार सत्य है, सार-युक्त है, भोगके लिये रचा गया है इसलिये प्रवृत्ति-मार्ग, भौतिकवाद—यह ग़लत नहीं, सही रास्ता है।

(४) परन्तु संसारकी हर वस्तु नाशकी तरफ़ बढ़ रही है, किसी वस्तुमें अनन्त, शाश्वत सुख नहीं, इसलिये निवृत्ति-मार्ग, अध्यात्मवाद—यह भी सही रास्ता है।

(५) ऐसी अवस्थामें न केवल प्रवृत्ति-मार्गको ही सही कहा जा सकता है, न केवल निवृत्ति-मार्गको ही सही कहा जा सकता है। दोनों मार्ग अलग-अलग एकांगी मार्ग हैं, सर्वांगीण मार्ग वह है जिसमें दोनोंका समन्वय है।

(६) परन्तु समन्वयमें भी भोग पहले है, त्याग पीछे, प्रवृत्ति पहले है, निवृत्ति पीछे। भोगके बाद त्याग है, त्यागके बाद भोग नहीं, प्रवृत्तिके पीछे निवृत्ति है, निवृत्तिके पीछे प्रवृत्ति नहीं।

(७) इस सबके अतिरिक्त यह भी स्पष्ट है कि प्रवृत्ति निवृत्तिकी तरफ़ ले जानेका साधन है, भोग त्यागकी तरफ़ संकेत करता है, संसारके विषयोंकी निःसारता किसी अनन्त, शाश्वत सुखके स्रोतकी सत्ताकी तरफ़ अंगुली उठाकर कह रही है—इधर नहीं, उधर जाना है, इसे नहीं, उसे पाना है।

जो बातें हमने कहीं उनकी सत्यतासे कोई इन्कार नहीं कर सकता—न इनसे भौतिकवादी इन्कार कर सकता है, न अध्यात्मवादी। संसारके प्रति व्यावहारिक दृष्टि-कोण यही है। कोरा भौतिकवादी सच्चाईके एक पहलूको लिये खड़ा है, कोरा अध्यात्मवादी भी सच्चाईके दूसरे पहलूको लिये खड़ा है। भौतिकवादी इस बातसे इन्कार नहीं कर सकता कि संसार अनित्य है, नश्वर है; अध्यात्मवादी इस बातसे इन्कार नहीं कर सकता कि संसार सत् है, और सब कारोबार इसे सत् मान-कर ही चलते हैं। ऐसी अवस्था में व्यावहारिक तथा व्यापक-दृष्टि तो वही हो सकती है जो भौतिकवाद तथा अध्यात्मवाद

दोनोंको लेकर चले, दोनोंका समन्वय करे। वैदिक-संस्कृतिकी दृष्टि यही है, और इस संस्कृतिके विचारकोंने इसी दृष्टिको लेकर जीवनके हर पहलूपर विचार किया था।

वैदिक-संस्कृतिकी आधिभौतिक उन्नतिका चित्र—

इस दृष्टिको आधार वनाकर जिस सभ्यताका उदय हुआ उसका स्वरूप क्या था? वैदिक-संस्कृतिमें सब प्रकारकी भौतिक-समृद्धिकी कामनाकी जाती थी, सुख-ऐश्वर्यके लिये, संसारके प्राकृतिक वैभवके लिये दिल खोलकर प्रयत्न होता था। तभी तो राष्ट्रके उत्थानके लिये यजुर्वेदमें जो प्रार्थना की गई थी उसमें कहा गया था—

'आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम्,
आ राष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायताम्,
दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुसप्तिः पुरन्धिर्योषा
जिष्णु रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायताम्,
निकामे निकामे नः पर्जन्योऽभिवर्षतु फलवत्यो नः ओषधयः
पच्यन्ताम्, योगक्षेमो नः कल्पताम्।'

—राष्ट्रमें तेजस्वी ब्राह्मण हों, शूरवीर क्षत्रिय हों, भर-भरकर दूध देनेवाली गायें हों, भारी-भारी भार ढोनेवाले बैल हों, सरपट दौड़नेवाले घोड़े हों, गांव तथा नगरमें अपनी बुद्धिके लिये मानी जानेवाली देवियां हों, यजमानके युवा, वीर पुत्र हों, जो जहां जायं विजयका डंका वजाते जायं, रथोंपर सवारी करें, सभाओंमें भाषण दें, जिस जगह हम चाहें वहां बादल वरसें, वनस्पतियोंमें पके हुए फल लदे हों, हम सबका योग-क्षेम हो, कल्याण हो, हम सबकी सब तरह की समृद्धि हो।

'धर्म'-'अर्थ'-'काम'-'मोक्ष' की चतुःसूत्री—

भौतिक-समृद्धिका इस तरहका उनका सपना था। परन्तु भौतिक-दृष्टिसे समृद्धिके मार्गपर पग बढ़ाते हुए उनके जीवन का सूत्र था—'धर्म', 'अर्थ', 'काम' और 'मोक्ष'। इन चार शब्दों में वैदिक-संस्कृतिकी जीवनके प्रति दृष्टि समा जाती थी। इन चारोंमें मुख्य स्थान 'धर्म'का था। 'धर्म'पर दो दृष्टियोंसे विचार किया जा सकता है—'विचारात्मक' (Theoretical) तथा 'क्रियात्मक' (Practical)। विचारात्मक-दृष्टिसे विचारकों ने नाना विचार रखे हैं—इन विचारोंका सम्बन्ध आत्मा-परमात्मा-प्रकृतिसे है, कोई कुछ मानता है, कोई कुछ, परन्तु इस ग्रन्थमें उनकी विवेचना करना हमारा लक्ष्य नहीं है। हम तो इस ग्रन्थमें वैदिक-संस्कृतिके क्रियात्मक, व्यावहारिक स्वरूपपर विचार कर रहे हैं। क्रियात्मक-दृष्टिसे 'धर्म'का अभिप्राय उन व्यावहारिक बातोंसे है जो जीवनको प्रेरणा देती हैं—'चोदना लक्षणोऽर्थः धर्मः'—यह जैमिनीने मीमांसा-दर्शनमें कहा है, इसका अर्थ भी यही है—जो प्रेरणा दे वह धर्म है। जीवनको प्रेरणा देनेवाली बातें कौन-सी हैं? अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—इन्हींसे तो व्यक्तियोंका, समाजका और राष्ट्रका जीवन प्रभावित होता रहता है। शान्तिसे बर्तें या लड़ाई-झगड़ा करें, विश्व-शान्तिका नारा लगायें या डंडेके ज़ोरसे राज्य करें, सच बोलें या मतलबके लिये झूठ भी बोलें, दूसरेकी चीज़पर हाथ डालें या न डालें, ब्रह्मचर्यसे जीवन बितायें या लंपटताको भी जीवनमें स्थान दें, संसारको भोगते ही रहें या किसी समय इसे छोड़ भी दें—ये बातें जीवनको प्रेरणा देने

वाली हैं, क्रियात्मक हैं, व्यावहारिक हैं, इन्हींको वैदिक-संस्कृति में क्रियात्मक 'धर्म' कहा गया है। वैदिक-संस्कृतिका कहना था कि अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदि सार्वत्रिक हैं, और सार्वभौम हैं। योग-दर्शनमें इन्हें 'सार्वभौमाः महाव्रतम्' कहा गया है। ये व्रत नहीं, महाव्रत हैं। 'अधर्म' और कुछ नहीं, किसी देश-काल में इन महाव्रतोंमेंसे किसी महाव्रतका उल्लंघन करना ही 'अधर्म' है। इस दृष्टिसे हिंसा, असत्य, स्तेय, अब्रह्मचर्य, परिग्रह—ये सब 'अधर्म' हैं। इसी दृष्टिसे वैदिक-संस्कृतिकी राजनीतिमें उच्च-आदर्शोंको पानेके लिये नीच उपायोंका अवलम्बन करना वर्जित है। साध्यकी सिद्धि हो गई, तो साधन उचित हो या अनुचित हो, कोई परवाह नहीं—जिसे अंग्रेजीमें 'End justifies the means' कहा जाता है—यह बात वैदिक-संस्कृति नहीं मानती। वैदिक-संस्कृति तो कार्य-कारणके अटल नियम को आधार बनाकर चलती है। अगर साधन बुरे हैं तो उनका बुरा फल मिलना ही चाहिये, वर्तमान उद्देश्यकी सिद्धि बुरे साधनोंसे हो गई सो हो गई, परन्तु बुरे साधन स्वयं एक कर्म हैं, और जैसे प्रत्येक कर्म कार्य-कारणके नियमसे बंधा हुआ है, वैसे ये कर्म—ये बुरे साधन—अपना बुरा कर्म-फल लावेंगे और लावेंगे, फिर कैसे कहा जाय कि साध्यकी सिद्धि हो गई तो साधनका उचित-अनुचित होना कोई अर्थ नहीं रखता? जो विचारधारा अहिंसा-सत्य आदिको सार्वभौम महाव्रत मानती है, कार्य-कारणके नियमको अटल मानती है, वह अनुचित साधनों से उद्देश्यकी सिद्धि करनेके लिये तय्यार नहीं हो सकती। अनुचित साधनोंसे उद्देश्यकी सिद्धिके लिये वही तय्यार हो सकता है, जो इन साधनोंको स्वतन्त्र कर्म न मानता हो, कर्म-

फलको न मानता हो, कार्य-कारणके नियमको अखंड न मानता हो।

'धर्म'के बाद 'अर्थ' और 'काम' हैं। 'अर्थ'का सम्बन्ध है शारीरिक आवश्यकताओंसे, 'काम'का सम्बन्ध है मानसिक आवश्यकताओंसे—कामनाओंसे। 'अर्थ' और 'काम'को वैदिक-संस्कृति जीवनका आवश्यक भाग समझती थी तभी तो जीवन की इस चतु:सूत्रीमें इन दोनोंकी परिगणना की गई थी। परन्तु 'अर्थ' कैसा, और 'काम' कैसा ? आज 'अर्थ' का सम्पादन हो रहा है, धन-दौलतको हम पैदा कर रहे हैं, और जितना यह पैदा हो रहा है उतनी आर्थिक-समस्या विकट होती जा रही है। सबसे विकट समस्या यह है कि आज 'अर्थ' हमारे जीवन का आदि है और 'अर्थ' ही हमारे जीवनका अन्त है। भौतिक-वादके इस दृष्टि-कोणको महाभारतने कैसे उत्तम शब्दोंमें प्रकट किया था—'अर्थस्य पुरुषो दास: दासस्त्वर्थो न कस्यचित्'—पुरुष 'अर्थ'का दास है, 'अर्थ' के लिये सब-कुछ करता है, 'अर्थ' तो किसीका दास नहीं। भौतिकवाद तो सदा रहा है, आज है, महाभारत-कालमें भी था। हां, आज यह दृष्टि-कोण मानव-समाजके जीवनको चारों तरफ़से व्याप रहा है, पहले व्याप नहीं रहा था। आज जितने नये-नये 'वाद' निकल रहे हैं, 'अर्थ'को आधार बनाकर आगे चलते हैं। पूंजीवाद है, समाजवाद है, कम्यूनिज़्म है—ये सब 'अर्थ-वाद' हैं। वैदिक-संस्कृति 'अर्थ'को जीवनका आवश्यक अंग समझती थी, परन्तु सर्वांग नहीं समझती थी। वैदिक-संस्कृतिका दृष्टि-कोण ही दूसरा था। धन-दौलतकी उतनी ही आवश्यकता है जितना खाने-पीने, अच्छी तरहसे रहनेके लिये ज़रूरी है, उससे अधिक सम्पत्ति

होगी तो भोग बढ़ेगा, विलासिता बढ़ेगी, विलासितासे रोग बढ़ेगा, ईर्ष्या, द्वेष, लालच, मोह-ममता, लड़ाई-झगड़े—ये सब बढ़ेंगे। आवश्यकतासे अधिक सम्पत्तिको जमा ही मनुष्य तब कर सकता है जब वह अधर्मका आश्रय ले, किसीको लूटे-खसोटे, ठगे, चोर बाज़ारी करे, खाने-पीनेकी चीज़ोंमें मिलावट करे, पूरेका आधा, आधेका चौथाई दे। वैदिक-संस्कृति 'अर्थ' को जीवनके लिये आवश्यक समझती थी, परन्तु इस संस्कृतिमें 'धर्म'-पूर्वक 'अर्थ'के सम्पादनका विधान था, 'अधर्म'-पूर्वक 'अर्थ'का नहीं। 'धर्म'-पूर्वकका अभिप्राय है, सच्चे, ईमानदार साधनोंसे सम्पत्तिका कमाना ; झूठे, बेईमानीके, ठगबाज़ीके साधनोंसे अर्थ-सम्पादन न करना।

'अर्थ'की तरह 'काम'को भी वे जीवनका आवश्यक अंग समझते थे, परन्तु आजकी तरह 'काम'को, 'वासनाओं'को वे बेलगाम नहीं छोड़ देते थे। अथर्ववेदमें लिखा है—'कामो जज्ञे प्रथमं, नैनं देवा आपुः पितरो न मर्त्याः, ततस्त्वमसि ज्यायान् विश्वहा महान्, तस्मै ते काम नम इत्कृणोमि'—'यह काम सबसे प्रथम उत्पन्न हुआ, इसका पार देव-पितर-मनुष्य कोई नहीं पा सका, यह संसारका सबसे बड़ा और सबसे महान् शत्रु है, नाश करनेवाला है, विश्वहा है, हे काम! मैं तुझे नमस्कार करता हूं।' 'काम' कितना प्रबल है इसे वैदिक-संस्कृति खूब अच्छी तरह समझती थी, परन्तु साथ ही यह भी समझती थी कि इसे आजकलकी तरह खुली छूट दे दी जाय तो यह समाजका सत्या-नाश कर देता है। 'काम'की प्रबलताको आज भी समझा जा रहा है, वैदिक-संस्कृति भी समझती थी, फ़र्क इतना है कि आज उसपर कोई रोक नहीं, उस संस्कृतिमें रोक थी। कैसे अश्लील,

गन्दे इश्तिहार अख़बारोंमें छपते हैं, नव-युवकोंको पथ-भ्रष्ट करनेवाले दृश्य सिनेमाओंमें दिखाये जाते हैं, कामोत्तेजक गीत खुले बाज़ार ग्रामोफ़ोन और रेडियोपर गाये जाते और ध्वनि-निक्षेपक-यन्त्रों द्वारा दूर-दूरतक, जो सुनना चाहें या जो न सुनना चाहें, सबके कानोंतक पहुंचते हैं—यह सब कामुकता और वासनाको जगाना नहीं तो क्या है ? और, ऐसे वातावरण को उत्पन्न करनेके बाद यह कहना कि 'काम'पर विजय पाना कठिन है, इस सारे विषयके साथ हंसी-खेल करना नहीं तो क्या है ? वैदिक-संस्कृति इस बातको भली प्रकार समझती थी कि कामुकताके वातावरणको उत्पन्न करके इन्द्रिय-दमन और संयम असंभव है, ऐसे वातावरणमें रहनेवालोंके लिये इन्द्रिय-दमन और संयम निस्संदेह फ्रॉयडके मनोविश्लेषणवादके अनुसार स्नायु-रोग उत्पन्न कर सकता है, परन्तु वैदिक-संस्कृतिके विचारक कामुकताको कोई ऐसी भूत-बला नहीं समझते थे जिसे, अगर मनुष्य इनके अस्वाभाविक वातावरणमें न रहे, तो वह इन्हें वशमें ही नहीं कर सकता। अस्वाभाविक कामुकताको कौन वश कर सकता है, परन्तु स्वाभाविक कामको कौन वश नहीं कर सकता ? जैसे धर्म-पूर्वक 'अर्थ' का सम्पादन वैदिक-संस्कृति-का अंग था, वैसे धर्म-पूर्वक 'काम'का भी इस संस्कृतिमें विधान था। हर तरहसे 'काम' को जगाना, वासनाओंको भड़काते जाना, कामोत्तेजक भोजन करना, कामोत्तेजक वस्त्र पहनना, कामोत्तेजक बातें करना, कामोत्तेजक दृश्य देखना—यह सब अधर्म-पूर्वक 'काम' है। स्वाभाविक काम और स्वाभाविक वासनाएं वे हैं जो अपने-आप स्वाभाविक रूपसे जगें, जगाई न जायें। मनुने ठीक कहा है—'न जातु कामः कामानामुपभोगेन

शाम्यति, हविषा-कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते'—कामनाओंको बराबर जगानेसे कामनाओंका शमन नहीं होता, इस प्रकार तो जैसे घीसे आग प्रचंड हो उठती है वैसे लगातार एकके बाद दूसरा और दूसरेके बाद तीसरा भोग भोगते रहनेसे तो कामनाओंकी आग प्रचंड होती जाती है। 'अर्थ' और 'काम'का वैदिक-संस्कृतिमें स्थान है, जितना उचित स्थान होना चाहिए उतना स्थान, उससे अधिक नहीं, इसीलिये 'अर्थ' और 'काम'से पहले 'धर्म'को स्थान दिया गया है—धर्म-पूर्वक 'अर्थ' हो, और धर्म-पूर्वक 'काम' हो, तव न व्यक्तिको 'अर्थ' और 'काम'से ख़तरा रहता है, न समाजको, न राष्ट्रको; ये दोनों धर्म-पूर्वक न हों, तो 'अर्थ' और 'काम' व्यक्तिको, समाजको, और राष्ट्रको—इन सबको किसी समय अपने साथ ले डूबते हैं।

जीवनकी इस चतुःसूत्रीमें 'अर्थ' और 'काम'के बाद चौथा और अन्तिम स्थान 'मोक्ष'को दिया गया है। जैसा हमने बार-बार लिखा है, सृष्टिमें विकासकी दिशा प्रवृत्तिसे निवृत्ति और भोगसे त्यागकी तरफ़ है। जीवनका प्रारंभ प्रवृत्तिसे है, परन्तु जीवनके विकासकी दिशा निवृत्तिकी तरफ़ जा रही है। इसी भावको संक्षेपमें कहनेके लिये वैदिक-संस्कृतिने 'धर्म'-'अर्थ'-'काम' और 'मोक्ष'—इन चार शब्दोंके सूत्रकी कल्पना की थी। 'अर्थ' और 'काम'का जीवनमें स्थान है, ठीक वही स्थान जो प्रवृत्तिका है, भोगका है—इसीको वैदिक-संस्कृतिमें 'अभ्युदय' कहा गया था; परन्तु जीवनका अन्त निवृत्ति और त्यागमें है इसलिये 'अर्थ' और 'काम'की सार्थकता 'मोक्ष'में है—इसीको 'निःश्रेयस्' कहा गया था। 'अभ्युदय' और 'निःश्रेयस्' जीवनके दो पक्ष हैं। 'मोक्ष'—अर्थात् सब-कुछ छोड़ देना, त्याग देना। 'मोक्ष'का

अर्थ यहां 'मुक्ति'से नहीं है। 'मुक्ति'का प्रश्न तो मृत्युके अनन्तर उठता है, यह 'मोक्ष' तो जीवित रहते 'अर्थ'-'काम'से छूट जाना है। वैदिक-संस्कृतिमें 'आश्रम-व्यवस्था'की रचना इसी दृष्टिसे की गई थी। 'अर्थ'-'काम'का सम्पादन गृहस्थ-आश्रममें होता था—यह 'अभ्युदय' था; 'अर्थ'-'काम'को छोड़ देना—'मोक्ष'—वानप्रस्थ तथा संन्यास-आश्रममें होता था—यह 'निःश्रेयस्' था। 'धर्म'-'अर्थ'-'काम'-'मोक्ष'से मिलकर 'अभ्युदय' और 'निःश्रेयस्'—अर्थात्, इन दोनोंके मेलसे वैदिक-संस्कृतिके जीवनका व्यापक दृष्टि-कोण बनता था। कालिदासने इक्ष्वाकुवंशका वर्णन करते हुए रघुवंशमें लिखा है—'शैशवेऽभ्यस्त विद्यानां यौवने विषयैषिणाम्, वार्धक्येमुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम्'—इस वंशके राजा-लोग शैशव-कालमें गुरुकुलोंमें विद्याका अभ्यास करते थे, यौवन-कालमें गृहस्थाश्रममें प्रवेश करके संसारके विषयोंका आनन्द लेते थे, वृद्धावस्थामें विषयोंसे उपराम हो जाते थे, वानप्रस्थी हो जाते थे, मुनि बन जाते थे, अन्तमें योगद्वारा शरीर छोड़ते थे, संन्यासी हो जाते थे—इस प्रकारकी उनकी जीवनकी बंधी हुई शृंखला थी। उनके जीवनका तीन-चौथाई हिस्सा वन-उपवनमें, खुले मैदानोंमें, प्रकृतिके सम्पर्कमें, और एक-चौथाई हिस्सा शहरोंमें बीतता था, आयुका सबसे बड़ा भाग सादा जीवन और उच्च-विचारोंमें तथा एक छोटा-सा हिस्सा 'अर्थ'-'काम'के सम्पादनमें व्यतीत होता था।

साधनाका जीवन—

इस प्रकारका जीवन साधनाके बिना नहीं बन सकता था। इस साधनाका आधार गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली तथा गुरु-शिष्य

परंपरा थी। शिष्यको 'अन्तेवासी' कहा जाता था। 'अन्ते'का अर्थ है—समीप, जो गुरुके अत्यन्त समीप रहे, इतना समीप मानो गुरुके हृदयके अन्दर निवास करता हो। गुरुके इतना निकट होनेके कारण वह मानो गुरुके सांचेमें ढल जाता था। यह उसकी साधना थी। जब शिष्य गुरुके निकट विद्या ग्रहण करनेके लिये जाता था तब हाथमें समिधा लेकर जाता था। इसका आशय यह था कि जैसे यह समिधा सूखी लकड़ी है, परंतु अग्निमें पड़कर प्रदीप्त हो उठती है, वैसे शिष्यको गुरु अपनी ज्ञानाग्निसे प्रदीप्त कर देता था, उसके जीवनकी एक निश्चित दिशा बना देता था। ब्रह्मचर्याश्रममें जबतक बालक निवास करता था तबतक साधना-ही-साधनाका जीवन बिताना होता था। आजकल हम 'डिसिप्लिन'का नाम लेते हैं, परन्तु 'डिसिप्लिन' कौन सीखे, कौन सिखाये ? जब सिखानेवालों का जीवन साधनामय नहीं है तब सीखनेवाले क्या साधना करेंगे, किस प्रकारके नियन्त्रणमें रहेंगे ! छान्दोग्यमें इन्द्र और विरोचनकी कथा आती है। वे दोनों आचार्य प्रजापतिके पास ३२ वर्षतक साधना करते रहे, तब जाकर प्रजापतिने उपदेश दिया। उपनिषदोंमें जहां-जहां गुरु-शिष्यका वर्णन आता है उसके साथ ही कई बरसोंकी साधनाका भी साथ ही वर्णन आ जाता है। वैदिक-संस्कृतिके दृष्टि-कोणसे यह मानव-जीवन हंसी-खेल-तमाशेका समय नहीं था, यह तो जन्म-जन्मान्तरके बाद इस चक्रमेंसे निकलनेका एक अपूर्व अवसर था, इसलिये इस जीवनका क्षण-क्षण बड़ा अमूल्य था, इसे हाथसे जाने देना 'महती-विनष्टि' कहा गया था। जब जीवनके प्रति इतनी गहरी, गंभीर दृष्टि हो, तब चौबीसों घंटे साधनामें ही लगे रहना स्वाभाविक था।

साधनाका अर्थ है—तय्यारी। ब्रह्मचर्यआश्रम साधनाका आश्रम था, तय्यारी का आश्रम था। जीवनके चरम-लक्ष्य—'मोक्ष'—के लिये तय्यारी, 'अर्थ'-'काम'की सिद्धि कर लेनेके बाद इन दोनों को छोड़ देनेकी तय्यारी। जबतक जीवनका एक अटल, अडिग दृष्टि-कोण न बन जाय, तबतक 'अर्थ-काम छोड़ दिया'—यह कह देने मात्रसे तो ये नहीं छूट सकते। गुरुका काम शिष्यके अन्तःकरणकी अन्तिम तहमें पहुंचकर उसकी एक निश्चित विचार-धाराको बना देना था, और जब वह विचार-धारा बन गई, तब फिर यह जीवनकी गाड़ी अपनी लकीर पर सीधी चल पड़ती थी, इसे अपने लक्ष्यतक पहुंचनेमें कोई शक्ति रोक नहीं सकती थी। गुरुका काम सिर्फ़ विद्या पढ़ा देना नहीं था, विद्या तो वह पढ़ाता ही था, परन्तु विद्याके साथ आत्माको जगा देना उसका सबसे बड़ा काम था—ब्रह्मचारी 'विद्या-स्नातक' ही नहीं, 'व्रत-स्नातक' भी बनता था, 'मन्त्रवित्' ही नहीं, 'आत्म-वित्' भी बनता था। जैसे दिशा-निदर्शक-यन्त्रकी सूई हिल-डुलकर उत्तर की तरफ़ आकर खड़ी हो जाती है, वैसे वैदिक-संस्कृतिमें पले हुए युवकके जीवनकी सुई 'अर्थ'-'काम' में हिल डुलकर, संसारके विषयोंके चक्कर काटकर अपने लक्ष्यपर आ खड़ी होती थी, इसलिये उस लक्ष्यपर आ खड़ी होती थी क्योंकि जीवनके प्रारंभिक दिनसे वह संस्कारोंकी चोटपर चोट खाकर इस्पाती लोहेकी तरह पानी खा चुका होता था, संस्कारी जीव बन चुका होता था। 'ब्रह्मचर्य'की तरह 'गृहस्थ'-आश्रममें भी साधना जारी रहती थी। प्रायः सभी संस्कार गृहस्थाश्रममें किये जाते थे। संस्कार-प्रणाली एक नियमित साधना नहीं थी तो क्या थी। क्योंकि एक लक्ष्यको सम्मुख रखकर जीवनकी

दिशा बनती थी, उस लक्ष्यतक पहुंचनेकी जीवनमें लगातार साधना होती थी, इसलिये समय आनेपर संसारको भोगकर संसारको छोड़ देना, विषयोंमेंसे गुज़रकर विषयोंसे उपराम हो जाना, 'अर्थ'-'काम' की यथार्थता देखकर 'मोक्ष'की तरफ़ कदम बढ़ा देना वैदिक-संस्कृतिके विकासका स्वाभाविक क्रम था।

वासनाओंको भोगें या वासनाओंको दबायें—

इस स्थलपर एक अत्यन्त गहन प्रश्न उठ खड़ा होता है। क्या विषयों को भोगकर विषयोंके प्रति वासना मिट सकती है, या वासनाओंको कुचलकर वासनाओंको मिटाया जा सकता है? वर्तमान मनोविज्ञानका कथन है कि विषयोंको कुचलनेसे वे कुचले नहीं जाते, वासनाओंको, इच्छाओं को दबानेसे वे दबती नहीं। इस क्षेत्रमें फ्रॉयडके मनोविश्लेषणवादको सबसे अधिक प्रामाणिक माना जाता है। फ्रॉयडका कथन है कि इच्छा भोगनेसे मिटती है, दबानेसे वह मिटती नहीं, चेतनाके भीतर जाकर छिप जाती है। वहां छिपकर उसकी क्रियाशीलता मरती नहीं, और अधिक बढ़ जाती है। अपने स्पष्ट रूपमें तो वह नहीं प्रकट होती, परन्तु अन्य भिन्न-भिन्न रूपोंसे वह चेतनासे बाहर आनेका प्रयत्न किया करती है। इच्छाओंमें सबसे प्रबल इच्छा जिसे समाजमें कुत्सित समझनेके कारण दबा दिया जाता है, 'काम' (Sex) की इच्छा है। फ्रॉयड का कहना है कि यह इच्छा या इसी तरहकी अन्य कोई भी इच्छा, दबती नहीं है, यह दबकर चेतनामें विकार उत्पन्न कर देती है, और मनुष्यका व्यवहार स्वाभाविक व्यवहार नहीं रहता। कोई-कोई तो पागल हो जाते हैं। साथके लोगोंको उसके इस अस्वाभाविक व्यवहारका कारण

नहीं मालूम पड़ता, परन्तु मनोविश्लेषणका पंडित ऐसे रोगीके जीवनका विश्लेषण करके सचाईका पता लगा सकता है। एक तरफ़ तो यह दृष्टि-कोण है। दूसरी तरफ़ जो दृष्टि-कोण है वह यह है कि इच्छाओंको जितना भोगा जाता है उतनी ही इन्हें भोगनेकी लालसा बढ़ती जाती है। इच्छाओंको भोगनेसे इच्छाएं नहीं मिटतीं, इन्हें तो दबाना ही पड़ता है। आगमें जैसे घृतकी हवि डाली जाय तो आगकी लपट और चमक उठती है वैसे विषय-भोगकी वासनामें संसारके विषयोंकी हवि वासना-को और अधिक भड़का देती है। महाभारतमें ययाति राजाका वर्णन आता है। वर्णन काल्पनिक है, परन्तु लेखकके भावको व्यक्त करता है। उसे संसारके विषयोंको भोगनेकी बड़ी चाह थी। अपनी आयुमें तो वह भोगता ही रहा, उसकी सन्तानने भी अपनी आयु उसीको दे दी ताकि वह लगातार विषयोंको भोगता रहे। दीर्घ-काल तक विषयोंको भोगनेके बाद भी उसने देखा कि उसकी वासना नहीं मिटी, उसकी इच्छा बढ़ती ही चली गई, बढ़ती ही चली गई।

इन दोनों परस्पर-विरोधी दृष्टियोंमें कौन-सी दृष्टि ठीक है? दोनों दृष्टियां वासनाको मिटाना चाहती हैं, इस बातमें तो दोनोंमें कोई अन्तर नहीं। एक विषयोंको भोगकर वासना-को मिटाना चाहती है, दूसरी विषयोंको दबाकर। जो दृष्टि विषयोंको भोगकर वासनाको मिटाना चाहती है, उसे दूसरा पक्ष कहता है कि यह रास्ता वासनाको मिटानेका नहीं, वासना-को जगानेका है। जो दृष्टि विषयोंसे भागकर वासनाको दबाना चाहती है, उसे वर्तमान मनोविश्लेषणवादियोंका कहना है कि यह रास्ता विषय-वासनाको 'अवचेतना' (Sub-conscious)

में धकेलकर और अधिक क्रियाशील बना देनेका है, वासनाको मिटा देनेका नहीं। ऐसी स्थितिमें क्या किया जाय, किस रास्तेको सही समझा जाय ?

इन दोनों दृष्टि-कोणोंका आधार क्या है ? इनका आधार है—'अनुभव'। अनुभवके आधारपर ही एक पक्ष विषयोंसे भागनेको कहता है, दूसरा पक्ष विषयोंको भोगनेको कहता है। परंतु संसारके विषयोंके प्रति हमारा 'अनुभव' क्या है—हमारे अपने अनुभवका विश्लेषण करनेसे ही स्थिति अधिक स्पष्ट हो सकती है।

इसमें सन्देह नहीं कि इच्छाके उत्पन्न हो जानेके बाद मनमें जो बेचैनी-सी उत्पन्न हो जाती है वह इच्छाके पूर्ण हो जानेपर नहीं रहती। इच्छा दबानेसे नहीं मिटती, पूरी होने से मिटती है। बच्चा एक खिलौनेको लेनेके लिये रो रहा है। जबतक वह खिलौना उसे दे नहीं दिया जाता तबतक वह आसमान-पाताल एक बनाये रखता है। कोई दूसरी उससे बढ़िया चीज़ भी उसके हाथमें दी जाती है, तो वह उसे दूर पटक मारता है। बच्चा जो बात ज़ाहिर कर देता है हम उसे ज़ाहिर नहीं करते, परन्तु हालत सबकी बच्चोंकी-सी है। इच्छा पूरी न होनेपर बच्चा चिल्ला-चिल्लाकर रोता है, हम मन-मन रोते हैं। अनुभव तो यही बतलाता है कि इच्छा जबतक पूरी न हो जाय तबतक यह जीवको बेचैन बनाये रखती है। परन्तु इस अनुभवका एक दूसरा पहलू भी है। यह ठीक है कि इच्छा पूरी होनेके बाद शान्त हो जाती है, परन्तु यह भी ठीक है कि कुछ देर शान्त रहनेके बाद यह फिर जाग उठती है। एक बार पूरी हुई, कुछ समयके लिये शान्त हो गई, परन्तु दुर्भाग्यसे यह शांत ही नहीं पड़ी रहती। जैसे मनुष्य सो-सोकर फिर जागता है,

वैसे इच्छा, वासना, मर-मरकर फिर-फिर आंख खोल बठती है। यह ठीक है कि पहलेकी-सी इच्छा दूसरी बार नहीं होती, दूसरी बारकी-सी तीसरी बार नहीं होती—इच्छाको पूर्ण कर लेनेके बाद उसका वेग उत्तरोत्तर कम होता जाता है। परन्तु यह तो ठीक है न कि शान्त होनेके बाद, कम वेगसे ही क्यों न हो, यह फिर जाग उठती है। वेग कम ज़रूर होता है, परन्तु वेगके कम होनेका कारण यह नहीं है कि वासना मिट गई, इसका कारण यह है कि 'वासना' तो बनी रही, परन्तु उसे तृप्त करनेका जो साधन है—शरीर—उसमें 'शक्ति' नहीं रही।

प्राणीमें दो बातें हैं—'वासना', और वासनाको भोगनेकी 'शक्ति'। भोगनेकी 'शक्ति'का आधार भौतिक है, 'वासना'का आधार मानसिक है। ज्यों-ज्यों शारीरिक-'शक्ति' क्षीण होती जाती है, त्यों-त्यों 'वासना' अपने-आप क्षीण होती जाती है। साथ ही, विषयोंके भोगद्वारा 'वासना'को क्षीण किया जायगा तो शारीरिक-'शक्ति' अपने-आप क्षीण होती जायगी। 'वासना' के क्षीण होनेके साथ-साथ शारीरिक-'शक्ति' भी क्षीण होती जायगी, परन्तु यह आदर्श स्थिति नहीं है। आदर्श स्थिति तो वह है जिसमें 'वासना' तो क्षीण हो जाय, परन्तु शारीरिक-'शक्ति' बनी रहे, मनुष्यमें विषयोंको भोगनेका सामर्थ्य रहे, परन्तु भोगोंके लिये वासना, उनके लिये लालसा न रहे, शक्ति बनी रहे, बेचैनी न रहे। ऐसी अवस्था विषयोंको भोगनेसे नहीं आती। विषयोंको भोगनेसे वासनाका वेग कम ज़रूर हो जाता है, परन्तु वासनाके वेगके कम होनेके साथ-साथ शक्ति भी जाती रहती है। हमें वासनाका क्षय तो करना है, परन्तु वासनाके साथ शक्तिको तो नहीं मिटा देना।

समस्याकी इस कठिनाईको वैदिक-संस्कृतिने हल कर दिया था। वैदिक-संस्कृति वर्तमान मनोविश्लेषणवादकी इस बातको मानती थी कि संसारके विषय—'छोड़ दिया'—यह कह देने-मात्रसे नहीं छूट जाते। विषयोंको छोड़नेके लिये विषयोंको पकड़ना ज़रूरी है, जो पकड़ा है वही छूटेगा, जो भोगा है उसीका त्याग होगा, जिधर प्रवृत्ति है उधरसे ही निवृत्ति होगी। परन्तु कब छोड़ा जाय, कब त्याग हो, कब निवृत्ति हो ? क्या विषय-वासनाको तब छोड़ें जब उसे पकड़नेकी शक्ति न रहे, तब त्यागें जब भोगनेका सामर्थ्य न रहे, या शक्ति रहते, सामर्थ्य रहते उसे छोड़ दें, त्याग दें ? वैदिक-संस्कृतिका कहना था कि शक्ति रहते छोड़ देना, सामर्थ्य रहते त्याग देना—यही सही रास्ता है। संसारको छोड़नेके लिये भोगना तो ज़रूरी है—तभी वैदिक-संस्कृतिमें संसारको त्याज्य या हेय नहीं माना था, संसारको भोगना, गृहस्थ-आश्रममें प्रवेश करना, 'अर्थ' और 'काम'की सिद्धि करना—'अभ्युदय'—यह सब वैदिक-संस्कृतिका आवश्यक अंग था, परन्तु वासनाओंकी तृप्तिमें अपनी सम्पूर्ण शक्तिका नाश कर देना—यह वैदिक-संस्कृतिको मान्य नहीं था। जैसे वर्तमान मनोविश्लेषणवादका आधार 'अनुभव' है, वैसे वैदिक-संस्कृतिका 'अनुभव'के आधारपर ही कहना था कि संसारके विषयोंको भोगनेकी दो अवस्थाएँ हैं। एक तो प्रारंभिक अवस्था है—वह अवस्था जब अभी हमने विषयोंको भोगा नहीं होता, अभी हमारा उनके प्रति आकर्षण प्रारंभ ही हुआ होता है। यह अवस्था प्रायः यौवनके प्रारंभमें आती है। इस अवस्थामें मनुष्य पशु होता है, विषयोंको छोड़ ही नहीं सकता। इस अवस्थामें विषयोंको भोगना ज़रूरी भी है, कम-से-कम आम

व्यक्तियोंके लिये ज़रूरी है। जो लोग अपवाद हैं उनका यहां ज़िक्र नहीं। आजके मनोविज्ञानके पीछे चलकर अगर मनुष्य पशु बनकर विषयोंको भोगता ही चला जाय तो भोगते-भोगते वासना तो मर मिटे परन्तु साथ ही वह स्वयं भी तो मर मिटे। खुद ही न रहा तो वासना क्या रहेगी। परन्तु नहीं, वैदिक-संस्कृतिका कहना था कि यौवन-कालका विषयोंको भोगना विषयोंकी अस्लीयतको सामने ला रखता है। विषयोंकी अस्लीयत क्या है? भोगनेके बाद त्यागनेकी भावना पैदा होती है, अवश्य होती है—यह संसारके विषय-भोगकी अस्लीयत है। भोगके बाद त्यागकी भावना आयेगी, त्यागके बाद, जैसा हमने अभी ऊपर कहा, फिर भोगकी प्रवृत्ति जाग उठेगी, भोगनेसे वासना शान्त होगी, परन्तु कुछ देर शान्त रहनेके बाद फिर जाग उठेगी। फिर भोगनेसे शान्त होगी, तो कुछ देर बाद फिर जाग उठेगी—यह चक्र तो चलता ही चला जायगा। मनुष्य कहां बस कर दे, कहां अंगदकी तरह पांव रखकर खड़ा हो जाय, कहां कह दे कि नहीं, मैं इस चक्रको अब आगे नहीं चलने दूंगा? आखिर मनुष्यमें कुछ 'मनुष्यपन' भी है, या निरा 'पशुपन' ही है? वैदिक-संस्कृतिका कहना था कि जब विषयोंकी अस्लीयतको अन्दरसे देख लिया, तो इस अस्लीयतके पैदा हो जानेके बाद मनकी वह दूसरी अवस्था आती है जिसमें मनुष्य जान चुका होता है कि भोगके बाद त्याग, प्रवृत्तिके बाद निवृत्ति आती है, सदा आती है, अवश्य आती है। इसका आना एक आध्यात्मिक नियम है। मनकी इस दूसरी स्थितिमें अपनेको टिका लेना, शान्त होनेके बाद मनकी फिर अशान्त, वैराग्यके बाद फिर रागकी अवस्था आयेंगी—इसे जानते हुए अपनेको अशान्त

या रागकी अवस्थामें न जाने देना, भोगकी असलीयतको समझ-कर बार-बार भोगकी तरफ़ न लौटना—वैदिक-संस्कृतिने इसी को जीवनका सही रास्ता कहा था। वैदिक-संस्कृतिका कहना था कि यह तो ठीक है कि संसारके विषयोंको बिना भोगे उन्हें छोड़ देनेसे वे छूटते नहीं, मनकी अवचेतनामें चले जाते हैं, वहां रड़क पैदा किया करते हैं, बेचैनी पैदा किया करते हैं, परन्तु रड़क तो विषयोंको बिल्कुल न भोगनेसे, उन्हें अवचेतनामें धकेल देनेसे पैदा होती है, उन्हें यूंही नहीं, परन्तु भोगकर छोड़ देनेसे तो रड़क नहीं बच रहती। तब भी बच रहती है, तो संयम करो, क्या हर्ज है ? हां, अगर भोगकर इन्द्रियोंको बार-बार जगाया जायगा, गन्दे तथा अश्लील वातावरणसे जगाया जायगा, तब तो भोगनेका यह सिलसिला कहीं रुकनेका नाम नहीं लेगा। भोगते-भोगते कहीं रुकनेकी न सोचना पशु-जीवन है, पशु जो 'प्राकृतिक-भावना' (Instinct) से काम लेता है; भोग और त्यागके चक्रमें किसी जगह भोगको छोड़कर त्यागपर अटक जाना मनुष्य-जीवन है, मनुष्य जो 'बुद्धि' (Intelligence) से काम लेता है। दो ही तो संभावनाएं हैं। या तो मनुष्य संसारके विषयोंके भोग भोगता ही जाय, तबतक बस न करे जबतक स्वयं ही बस न हो जाय ; या भोगोंको भोगकर, बीच में किसी पड़ावपर, अभी अपनेमें शक्ति रहते बस कर दे, छोड़ दे, यह समझकर छोड़ दे कि यह चक्कर तो ऐसे ही चलता रहेगा, देख लिया, बहुत देख लिया, अब और अधिक देखनेकी ज़रूरत नहीं। इस प्रकार बस कर देनेमें अपनी शक्ति, अपना सामर्थ्य भी बना रहता था, और विषय-वासना भी नष्ट हो जाती थी, वह अपनी किसी प्रकारकी बेचैनी भी पीछे नहीं छोड़ती थी। वैदिक-

संस्कृतिने इस प्रकार कोरे भौतिकवाद तथा कोरे अध्यात्मवादका उसी 'अनुभव'के आधारपर जिसका मनोविश्लेषणवाद नाम लेता है, व्यावहारिक समन्वय कर दिया था और इस समन्वयके आधार पर ही जीवनकी सम्पूर्ण रूप-रेखाका निर्माण किया था ।

वैदिक-संस्कृतिके जिन मूल-तत्त्वोंका इस पुस्तकमें विवेचन किया गया है वे एक हज़ार सालसे, फिरसे पनपनेकी, प्राणवान् होनेकी बाट जोह रहे थे । इस अरसेमें भारतवर्षमें कई संस्कृतियां आईं और पीछेको लौट गईं परन्तु भारतकी वैदिक-संस्कृति वैसी-की-वैसी बैठी अपना समय जोहती रही । आज हम स्वतन्त्र हुए हैं, आज उस संस्कृतिको फिरसे सिर ऊंचा करनेका, हमारे जीवनको चारों तरफ़से पकड़कर एक सांचेमें ढाल देनेका अवसर मिला है । इस समय हम भौतिकवादकी चकाचौंधमें जीवनके इन आधार-भूत तत्त्वोंको भूल जायेंगे, या साहस बटोरकर इन आदर्शोंको अपने दिन-दिनके चलनमें उतारनेका प्रयत्न करेंगे? आजके भारतका मानव एक चौराहे पर खड़ा है । आगे-पीछे, दायें-बायें कई रास्ते फट रहे हैं । स्वतन्त्र भारतके मानव ! तेरे देशकी सदियोंसे अपने समयकी प्रतीक्षामें बैठी हुई वैदिक-संस्कृति तुझसे पूछ रही है—तू किधर जायगा ?